१—राज्य विज्ञान परिचय

Define "Political Science" and distinguish it from "Politics" and "Political Philosophy". Which term do you prefer ?

(Punjab 1937, 1939)

"राजनीति-शास्त्र" की परिभाषा कीजिए तथा "राजनीति" और राजनीतिक दर्शन" से उसका अन्तर स्पष्ट कीजिए। किस शब्द को आप उपयुक्त समझते हैं ?

Ans.

(अ) परिभाषा:—

"राजनीतिक" (Political) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के "पोलिस" (Polis) शब्द से हुई है जिसका अर्थ नगर है। ग्रीक लोग छोटे-छोटे नगर-राज्यों (City-states) में रहते थे। उनके लिए नगरों और राज्यों का एक ही अर्थ था। इस प्रकार "राजनीति-शास्त्र" उनके लिए वह शास्त्र था जो कि नगर अथवा राज्य के मामलों से सम्बन्धित हो। यह सत्य है कि वर्तमान समय में बड़े-बड़े देश-राज्यों (Country-states) अथवा राष्ट्रीय राज्यों (Nation-states) का उत्थान हो चुका है किन्तु फिर भी राजनीति-शास्त्र का पुराना अर्थ आज भी माना जाता है। यह आज भी वह विषय है जो कि राज्य तथा सरकार के मामलों से सम्बन्धित है। वह न केवल राज्य की उत्पत्ति, विकास, उद्देश्य तथा उसके लक्ष्य की पूर्ति के सिद्धान्तों का ही विवेचन करता है वरन् सरकार—जो कि राज्य की इच्छा की पूर्ति का साधन है—के संगठन और कार्यकरण का भी विवेचन करता है।

राजनीति-शास्त्र राज्य के सिद्धान्तों तथा उनके व्यवहारिक रूप के बारे में पूर्ण अध्ययन करता है। वह राज्य का अध्ययन उसके भिन्न-भिन्न पहलुओं तथा काल कालान्तरों के आधार पर करता है। भूतकाल में राज्य का स्वरूप कैसा था इसका विवेचन वह करता है। राज्य के वर्तमान स्वरूप से भी वह सम्बन्धित है तथा भविष्य में राज्य का स्वरूप कैसा होना चाहिए इसका अध्ययन भी वह करता है। वास्तव में राजनीति-शास्त्र मनुष्य का अध्ययन करता है जो कि अरस्तू (Aristotle) के अनुसार एक "राजनैतिक प्राणी" ("Political animal") है। वह मनुष्य का अध्ययन एक संगठित राजनैतिक समुदाय की इकाई के रूप में करता है। इस प्रकार राजनीति-शास्त्र को व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन और उनका निर्णय करना पड़ता है।

इस प्रकार राजनीति-शास्त्र राज्य तथा सरकार दोनों का ही अध्ययन है। इसकी व्याख्या करते हुए पॉल जेनेट (Paul Janet) लिखता है कि "राजनीति शास्त्र सामाजिक शास्त्र का वह अंग है जो कि राज्य के आधारों और सरकार के सिद्धान्तों का विवेचन करता है।" ("...That part of social science which treats of the Foundations of the State and the principles of government.")

ब्लंशली (Bluntschli) जैसे अनेक लेखक ऐसे भी हैं जो यह मानते हैं कि राजनीति-शास्त्र केवल मात्र राज्य का ही अध्ययन करता है। गार्नर (Garner) भी यही कहता है कि राजनीति-शास्त्र का अध्ययन "राज्य से ही प्रारम्भ होता है और उसी पर उसका अन्त भी हो जाता है।" ("....Begins and ends with the State") ये विचारक सरकार के अध्ययन को राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र से निकाल देते हैं। दूसरी ओर डा० लीकॉक (Dr. Leacock) का यह मत है कि राजनीति-शास्त्र केवल सरकार का ही अध्ययन करता है और राज्य शब्द उनकी व्याख्या के अन्तर्गत आता ही नहीं। परन्तु सत्य यह है कि राजनीति-शास्त्र

में हम राज्य तथा सरकार दोनों का अध्ययन करते हैं। सरकार के बिना किसी भी राज्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। सरकार ही वह यन्त्र है जिसके द्वारा राज्य की भावनाओं का प्रकटीकरण होता है और सरकार ही के द्वारा राजकार्य का संचालन होता है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि सरकार राज्य का 'हृदय' है और बिना उसके राज्य मुर्दे के समान है। राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति, तथा विकास के बारे में कुछ भी अध्ययन करते समय हमें अनिवार्य रूप से सरकार का अध्ययन करना ही पड़ता है।

(व) 'राजनीति' तथा 'राजनीतिक दर्शन' में अन्तर:—

इन दोनों शब्दों का अन्तर तभी भली प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है जब कि हम उनके अर्थों तथा परिभाषाओं को समझ लें।

कुछ लेखक ऐसे हैं जिन्होंने 'राजनीति-शास्त्र' शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की है। वे 'राजनीति' (Politics) शब्द को अधिक उपयुक्त मानते हैं। अरस्तू (Aristotle) पहला विचारक था जिसने कि राज्य के विषय में अध्ययन प्रस्तुत करते हुए अपनी पुस्तक का नाम 'राजनीति' (Politics) रखा। जैलिंक (Jellinck), जैनेट (Janet), और पौलक (Pollock) जैसे आधुनिक विचारकों ने इसे दो भागों में बाँट दिया है।

(१) सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics) और

(२) व्यावहारिक अथवा प्रयोगात्मक राजनीति (Practical or Applied Politics.)

इनमें से प्रथम केवल राज्य के सैद्धान्तिक भाग जैसे उत्पत्ति, प्रकृति, गुण, विकास तथा उद्देश्यों इत्यादि का विवेचन करता है। इसके अन्तर्गत सरकार के उन कार्यों का अध्ययन भी आ जाता है जिनके द्वारा वह इन उद्देश्यों की पूर्ति करने का प्रयत्न करती है। व्यावहारिक अथवा प्रयोगात्मक राजनीति का सम्बन्ध सरकार के मामलों के वास्तविक प्रशासन से है जिसमें प्रशासकों की निर्वाचन विधि, उनके द्वारा अपनाई गई अथवा अपनाई जाने वाली नीति आदि सम्मिलित हैं।

यह विभाजन उपयोगी है क्योंकि उसके अन्तगत राजनीति शास्त्र के सम्पूर्ण क्षेत्र का अध्ययन आ जाता है। परन्तु आधुनिक समय में राजनीति शब्द का प्रयोग कुछ भिन्न प्रकार से होने लगा है जिससे कि उसके अर्थ में नवीनता आ गई है। अब 'राजनीति' शब्द से हमारा तात्पर्य उन व्यवहारिक तथा सामयिक समस्याओं से होता है जो कि प्रत्येक देश तथा उसकी सरकार के सामने आती है। उसका सम्बन्ध जनकार्यों के प्रशासन तथा राजनैतिक जीवन की विभिन्न संस्थाओं से है, और एक देश की राजनैतिक समस्यायें दूसरे देश की समस्याओं से भिन्न होती हैं। भारतीय राजनीति और आंग्ल (British) राजनीति एक समान नहीं है। कांग्रेस की नीति मुस्लिम लीग तथा हिन्दू महासभा की नीति से भिन्न थी। जो लोग अपने को किसी देश-विशेष अथवा किसी दल-विशेष की राजनीति में लगाए रहते हैं 'राजनीतिज्ञ' कहलाते हैं। वे इसलिए राजनीतिज्ञ नहीं हैं कि वे राज्य की प्रकृति तथा विशेषताओं का अध्ययन करते हैं वरन् इसलिए कि वे जन-प्रशासन की सामयिक समस्याओं तथा उन विषयों से सम्बन्ध रखते हैं जो कि सरकार की नीति पर प्रभाव डालते हैं। ऐसी परिस्थिति में "राजनीति" शब्द उस विज्ञान के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता जिसका उद्देश्य वैज्ञानिक रीति से राज्य की प्रकृति, स्वरूप, गुण तथा विकास का अध्ययन करना है। यदि हम उसका प्रयोग करेंगे तो बड़ा अनर्थ होगा।

(स) "राजनीतिक दर्शन"

"राजनीतिक दर्शन" शब्द भी एक अन्य नाम है जो हमारे इस विज्ञान को दिया जाता है। यह कहा जाता है कि राजनैतिक अध्ययन प्राथमिक रूप से सैद्धान्तिक अथवा विचार-प्रधान है। वह उन सिद्धान्तों की जाँच करता है जो कि राजनैतिक संस्थाओं के मूल में निहित हैं और स्वयं उन संस्थाओं का अध्ययन नहीं करता। सिडविक (Sidwick) के मतानुसार राजनीति-शास्त्र, अथवा "राजनीति" जैसा कि वह उसे पुकारता है, के अध्ययन का "सम्बन्ध" प्राथमिक रूप से सभ्य मनुष्यों द्वारा निर्मित समाज

में एक ऐसी सम्बन्ध-व्यवस्था का निर्माण करना है जो कि शासक-वर्ग के बीच तथा शासक-वर्ग और शासित-वर्ग के बीच स्थापित होनी चाहिए और इस व्यवस्था का आधार किंचित् मनोवैज्ञानिक आधारभूत कल्पनायें होंगी। (...."Concerned primarily with constructing, on the basis of certain psychological premises the system of relations which ought to be established among the persons governing and between them and the governed, in a society composed of civilised men, as we know them.") राजनीतिक-दर्शन का सम्बन्ध प्रधानतः राज्य की प्रकृति और उसके आधारभूत गुणों, राजनैतिक बाध्यता का विचार, राजनैतिक शक्ति की प्रकृति, नागरिकता, अधिकार तथा अन्य समस्याओं—जिनकी प्रकृति सैद्धान्तिक है—के विश्लेषण से है।

लेकिन हमें तो इस विषय के संकीर्ण क्षेत्र का ही अध्ययन करना है। राज्य की प्रकृति की आवश्यक समस्याओं, नागरिकता, अधिकार तथा कर्त्तव्य, जिनसे कि राजनीतिक दर्शन सम्बन्धित है, के अतिरिक्त हमें राज्य के विकास सरकारों का वर्गीकरण, उनके कर्त्तव्य तथा वास्तविक संगठन के सम्बन्ध में भी हमें जानना चाहिए। हमें भूतकाल की वर्तमान से तुलना करनी चाहिए और भविष्य के लिए ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। जिन स्थितियों, परिस्थितियों एवं वायुमण्डल में एक मनुष्य रहता है वे परिवर्तनशील हैं। अस्तु, जो विषय मनुष्य जाति का संगठित राजनैतिक इकाइयों के रूप में अध्ययन करता है उसको इस परिवर्तन पर भी ध्यान देना होगा। इसलिए हमारा अध्ययन प्रगतिशील होना चाहिए न कि गतिहीन। हमारा विषय एक प्रगतिशील अथवा विकासमान विज्ञान है जिसका वर्तमान स्वरूप उसके भूतकालीन स्वरूप के अनुरूप निर्मित हुआ है और जिसमें भविष्य के प्रति आदर्शवादिता भी निहित है। इस प्रकार 'राजनीति' विषय का एक ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक भाग भी है जो कि "राजनीतिक दर्शन" के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं

आता। राजनैतिक दर्शन का अस्तित्व भले ही राजनीति शास्त्र के पहले से चला आ रहा हो परन्तु अब इस सम्बन्ध में प्रायः एक मत है कि राजनीति-शास्त्र में अर्थ की निश्चितता है जो कि राजनीतिक दर्शन में अभी तक विकसित नहीं हो पाई है।

(द) सब से उपयुक्त शब्द :

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "राजनीति-शास्त्र" शब्द ही हमारे विषय के अर्थ एवं क्षेत्र को समझाने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है। हमारी इस सम्मति के निम्न कारण हैं :

(१) विज्ञान एक क्रम-बद्ध ज्ञान है। जब हम "राजनीति-शास्त्र" शब्द का प्रयोग करते हैं तो हम इस विषय के अध्ययन में एक निश्चित योजना के महत्त्व पर जोर देते हैं। विज्ञान की दूसरी लाक्षणिक विशेषता यह है कि वह युक्तिपूर्ण होता है। इस प्रकार "राजनीति-शास्त्र" शब्द से यह भी ज्ञात होता है कि वह मूलतः युक्तिपूर्ण अथवा तर्कयुक्त (rational) है। यही नहीं, विज्ञान सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दोनों ही होता है और यही बात राजनीति के बारे में भी ठीक है। इस प्रकार "राजनीति-शास्त्र" शब्द के अन्तर्गत राजनीतिक दर्शन तथा राजनीति अथवा सैद्धान्तिक अथवा व्यवहारिक राजनीति दोनों ही शब्दों के अर्थ एवं क्षेत्र आ जाते हैं।

(२) डारविन (Darwin) की खोज के उपरान्त विज्ञान विकासशील है। अब वह स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील नहीं माना जाता। राजनीति भी विकास में विश्वास करती है न कि निर्माण में। इसलिए "राजनीति-शास्त्र" शब्द हमारे विषय की इस विकासवादी प्रकृति की ओर भी संकेत करता है।

Q. 2. Discuss the scope of Political Science.
(Punjab 1939, 1950, Bombay 1936, 1937)
राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र की विवेचना कीजिए।

Ans.

राजनीति शास्त्र प्राथमिक रूप से वह विषय है जो राज्य का अध्ययन

करता है। वह समाज का राजनैतिक दृष्टिकोण से अध्ययन है। वह मनुष्य का अध्ययन एक संगठित राजनैतिक समाज के सम्बन्ध में करता है। राज्य का प्रकटीकरण एवं कार्य सरकार के माध्यम द्वारा होता है। इस प्रकार निम्न तीन बातें राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाती हैं—

१—राज्य का अध्ययन;

२—मनुष्य का अध्ययन—उसके अधिकार तथा कर्तव्य;

३—सरकार का अध्ययन;

(१) राजनीति-शास्त्र राज्य के अध्ययन के रूप में :

राज्य के अध्ययन के रूप में राजनीति-शास्त्र—

(अ) राज्य क्या है इसका विश्लेषणात्मक अध्ययन है;

(ब) राज्य क्या था इसकी ऐतिहासिक जाँच है; और

(स) राज्य को कैसा होना चाहिए इसका नैतिक विवेचन है।

राज्य समाज के अन्तिम उद्देश्यों की प्राप्ति एवं मनुष्य की सर्वोच्च भलाई की प्राप्ति के लिए सर्वोच्च राजनैतिक संस्था है। इसी अर्थ में अरस्तू (Aristotle) ने लिखा था कि "राज्य का जन्म मनुष्य की मूल आवश्यकताओं के लिए हुआ था और उसका अस्तित्व उत्तम जीवन के लिए चला आ रहा है।" ("The State originated in the bare needs of life and continued its existence for the sake of a good life.") इस प्रकार राजनीति-शास्त्र का प्रथम मुख्य उद्देश्य राज्य-जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है जिनसे कि राज्य का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण हो सके। इस प्रकार राजनीति-शास्त्र को राज्य की प्रकृति का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण करना पड़ता है। उसके लिए राज्य के संगठन, उसमें रहने वाले निवासियों से उसका सम्बन्ध और उसका अन्य राज्यों से सम्बन्ध का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। अन्त में, इस विषय को यह भी मालूम करना होता है कि वास्तव में राज्य नागरिकों के कल्याण के लिए क्या करता है। राज्य-जीवन के इन सिद्धान्तों का विश्लेषण अन्य राज्यों के निरीक्षण से ही किया जा

सकता है। अस्तु, राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र में जो सर्वप्रथम बात आती है वह राज्य के वर्तमान स्वरूप का अध्ययन करना है जिससे कि हमें "राजनैतिक शरीर" (Body Politics) की झाँकी मिल जाय और हम उन स्थलों को जान सकें जहाँ सुधारों की आवश्यकता है।

परन्तु वर्तमान भूतकाल की देन है। वर्तमान समय में राज्य की प्रकृति को समझने के लिए राजनीति-शास्त्र के विद्यार्थी को उसके भूत का भी अध्ययन करना होता है ताकि वह यह जान सके कि राज्य अपनी वर्तमान अवस्था को कैसे प्राप्त हुआ है। इस प्रकार राजनीति-शास्त्र को राजनैतिक संस्थाओं के जन्म एवं विकास का ज्ञान प्राप्त करना होता है। राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र के इस पहलू को दृष्टि में रखते हुए बहुत समय पूर्व ट्रीट्सके (Treitschke) ने लिखा था कि "सर्वप्रथम राजनीति विज्ञान का उद्देश्य होना चाहिए कि वह संसार के राज्यों के वास्तविक अध्ययन से राज्य की आधारभूत धारणाओं का निर्णयन करें; दूसरे उसे ऐतिहासिक रीति से यह अध्ययन करना चाहिए कि भूतकाल में मनुष्यों ने क्या चुना है, क्या निर्माण किया है और राजनैतिक जीवन में उन्होंने क्या प्राप्त किया है तथा उनके कारण क्या हैं।" ("First it (Political Science) should aim to determine from a consideration of the actual world of states the fundamental concepts of states; second it should consider hisforically what the people have chosen, what they have created, and what they have attained in political life and the reasons there of.")

परन्तु मनुष्य प्रगतिशील जीव है, निरन्तर एक ही स्थिति में रहने वाला नहीं। इसी प्रकार राज्य भी गतिशील है, स्थिर नहीं। वह निरन्तर विकसित होता जाता है। अस्तु, राजनीति-शास्त्र का विद्यार्थी राज्य की वर्तमान परिस्थितियों को अन्तिम रूप से सत्य नहीं मान सकता। उनको

उन्हें विधाता के आदेशों के समान नहीं स्वीकार करना होता है वरन् उनको यह सोचना होता है कि उनमें सुधार अथवा परिवर्तन कैसे किया जा सकता है। राज्य भूतकाल में कैसा रहा है और वर्तमान समय में कैसा है इसके अध्ययन से उसे यह भी निश्चय करना पड़ता है कि भविष्य में राज्य को कैसा होना चाहिए। इस प्रकार कुछ आदर्शों का निर्धारण करना जिनका राज्य पालन करे—जैसा कि हमारे भारतीय संविधान में राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त—भी राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाता है। अस्तु राजनीति-शास्त्र उन नैतिक प्रेरणाओं एवं आधारभूत सिद्धान्तों, जिनको राज्य के जीवन का निर्धारण करना चाहिए, का नीतिशास्त्रीय विवेचन भी है।

(२) राजनीति शास्त्र मनुष्य के अधिकारों के अध्ययन के रूप में:—

राज्य का निर्माण नागरिकों से होता है। राज्य उन्हीं के लिए जीवित रहता है। वह व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करता है और इस प्रकार उनके जीवन को सार्थक बनाता है। एक राज्य के नागरिक समाज द्वारा प्रदान किए गये तथा राज्य द्वारा प्रस्वीकृत किंचित् अधिकारों का उपभोग करते हैं। बदले में वे राज्य के प्रति कुछ कर्तव्य-पालन करते हैं। राजनीति शास्त्र को व्यक्तियों के इन अधिकारों का, उनके राज्य के प्रति कर्तव्यों का तथा उन दोनों के सम्बन्धों पर नियन्त्रण रखने वाले सिद्धान्तों का अध्ययन करना होता है।

(३) राजनीति शास्त्र सरकार के अध्ययन के रूप में—

अन्त में, राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र में सरकार, जो कि राज्य-रूपी शरीर का प्राण है, का अध्ययन आता है। जैसा कि हम जानते हैं राज्य का क्रियाशील अंग सरकार है। स्वभावतः राजनीति शास्त्र को सरकार का—उसके अर्थ, उसके अंगों, स्वरूपों आदि का अध्ययन करना पड़ता है।

राजनीति शास्त्र के क्षेत्र के इस वर्णन के निष्कर्षस्वरूप हम प्रो० फेयरली (Prof. Fairlie) को उद्धृत कर सकते हैं जो निम्न प्रकार लिखते हैं:

"इसके (राजनीति-शास्त्र के) अन्तर्गत राज्यों के संगठन एवं कार्यों का तथा राजनैतिक संगठन के आधार में निहित सिद्धान्तों एवं आदर्शों का अध्ययन आ जाता है। वह राजनैतिक शक्ति तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समन्वय की समस्याओं, मनुष्यों के आपस के सम्बन्धों, जिन पर कि राज्य-नियन्त्रण रखता है, तथा मनुष्यों के राज्य से सम्बन्धों का विवेचन करता है। वह राज्य की विभिन्न कार्य-संस्थाओं के बीच शासकीय शक्ति के विभाजन तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का भी अध्ययन करता है।" ("It (Political Science) includes a study of the organization and the activities of the states, and of the principles and ideals which underlie political organization and activities. It considers the problems of adjusting political authority to individual liberty, the relations among men which are controlled by the state and the relations of men to the state. It also deals with the distribution of governing power among the several agencies by which the actions of the state are determined, expressed and exercised, and with the problem of international life.")

(Q. 3, "In the present stage of knowledge, politics so for from being a science is the most backward of all the arts." (Buckle) Explain fully the above statement and state your own point of view. (Agra, 1936)

"ज्ञान की वर्तमान अवस्था में राजनीति एक विज्ञान न होकर सबसे पिछड़ी हुई कला है" (बकल) उपर्युक्त कथन की पूर्ण व्याख्या कीजिए

तथा अपना दृष्टिकोण भी दीजिए।

Ans.

वकल (Buckle) का यह कथन सत्य की अपेक्षा असत्य ही अधिक है। यह भ्रामक है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसका आधार राजनीति-शास्त्र विषय का गलत अर्थ है। जब हम इस कथन पर विचार करते हैं तो उसके दो स्पष्ट भाग दिखाई देते हैं।

(१) कि राजनीति को हम विज्ञान नहीं कह सकते; और

(२) यह कि राजनीति सबसे अधिक पिछड़ी हुई कला है।

अब हमें इन दोनों बातों पर अलग-अलग विचार करना चाहिए।

(अ) राजनीति एक विज्ञान के रूप में—

राजनीतिक विचारकों में इस प्रश्न पर अत्यन्त मतभेद है कि राजनीति विज्ञान है अथवा नहीं। अरस्तू (Aristotle), जो कि सर्वप्रथम ज्ञात राजनीति विचारक है, राजनीति को विज्ञान मानता था। आधुनिक काल के बोदाँ (Bodin), हॉब्स (Hobbes), सिडविक (Sidgwick), ब्राइस (Bryce) तथा कई अन्य विचारकों का भी ऐसा ही मत था। परन्तु फ्रांसीसी विचारक कामटे (Comte) जैसे कुछ लोग इस मत का खण्डन करते हैं। अपने समर्थन में वे निम्न तर्क रखते हैं कि:—

राजनीति शास्त्र के लेखक उसकी अध्ययन विधियों, सिद्धान्तों एवं निष्कर्षों के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं।

राजनीति शास्त्र के विकास क्रमबद्ध नहीं है क्योंकि वह मूलतः मनुष्य की ऐसी संस्थाओं से सम्बन्धित है जो कि निरन्तर परिवर्तनशील तथा अनिश्चित हैं;

राजनीति शास्त्र के निष्कर्ष कभी भी सही तथा निश्चित नहीं होते, अस्तु, राजनीति शास्त्र में उन सब तत्त्वों की कमी है जिन पर भविष्य के सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सके;

और राजनीति शास्त्र में किसी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचने के हेतु कोई प्रयोग करना सम्भव नहीं। इस प्रकार राजनीति-शास्त्र में उन सब बातों

"इसके (राजनीति-शास्त्र के) अन्तर्गत राज्यों के संगठन एवं कार्यों का तथा राजनैतिक संगठन के आधार में निहित सिद्धान्तों एवं आदर्शों का अध्ययन आ जाता है। वह राजनैतिक शक्ति तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समन्वय की समस्याओं, मनुष्यों के आपस के सम्बन्धों, जिन पर कि राज्य-नियन्त्रण रखता है, तथा मनुष्यों के राज्य से सम्बन्धों का विवेचन करता है। वह राज्य की विभिन्न कार्य-संस्थाओं के बीच शासकीय शक्ति के विभाजन तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का भी अध्ययन करता है।" ("It (Political Science) includes a study of the organization and the activities of the states, and of the principles and ideals which underlie political organization and activities. It considers the problems of adjusting political authority to individual liberty, the relations among men which are controlled by the state and the relations of men to the state. It also deals with the distribution of governing power among the several agencies by which the actions of the state are determined, expressed and exercised, and with the problem of international life.")

Q. 3. "In the present stage of knowledge, politics so for from being a science is the most backward of all the arts." (Buckle) Explain fully the above statement and state your own point of view. (Agra, 1936)

"ज्ञान की वर्तमान अवस्था में राजनीति एक विज्ञान न होकर सबसे पिछड़ी हुई कला है" (बकल) उपर्युक्त कथन की पूर्ण व्याख्या कीजिए

तथा अपना दृष्टिकोण भी दीजिए।

Ans.

बकल (Buckle) का यह कथन सत्य की अपेक्षा असत्य ही अधिक है। यह भ्रामक है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसका आधार राजनीति-शास्त्र विषय का गलत अर्थ है। जब हम इस कथन पर विचार करते हैं तो उसके दो स्पष्ट भाग दिखाई देते हैं।

(१) कि राजनीति को हम विज्ञान नहीं कह सकते; और

(२) यह कि राजनीति सबसे अधिक पिछड़ी हुई कला है।

अब हमें इन दोनों बातों पर अलग-अलग विचार करना चाहिए।

(अ) राजनीति एक विज्ञान के रूप में—

राजनीतिक विचारकों में इस प्रश्न पर अत्यन्त मतभेद है कि राजनीति विज्ञान है अथवा नहीं। अरस्तू (Aristotle), जो कि सर्वप्रथम ज्ञात राजनीति विचारक है, राजनीति को विज्ञान मानता था। आधुनिक काल के बोदाँ (Bodin), हॉब्स (Hobbes), सिडविक (Sidgwick), ब्राइस (Bryce) तथा कई अन्य विचारकों का भी ऐसा ही मत था। परन्तु फ्रांसीसी विचारक कामटे (Comte) जैसे कुछ लोग इस मत का खण्डन करते हैं। अपने समर्थन में वे निम्न तर्क रखते हैं कि:—

राजनीति शास्त्र के लेखक उसकी अध्ययन विधियों, सिद्धान्तों एवं निष्कर्षों के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं।

राजनीति शास्त्र के विकास क्रमबद्ध नहीं है क्योंकि वह मूलतः मनुष्य की ऐसी संस्थाओं से सम्बन्धित है जो कि निरन्तर परिवर्तनशील तथा अनिश्चित हैं;

राजनीति शास्त्र के निष्कर्ष कभी भी सही तथा निश्चित नहीं होते, अस्तु, राजनीति शास्त्र में उन सब तत्त्वों की कमी है जिन पर भविष्य के सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सके;

और राजनीति शास्त्र में किसी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचने के हेतु कोई प्रयोग करना सम्भव नहीं। इस प्रकार राजनीति-शास्त्र में उन सब बातों

की कमी है जो एक विज्ञान में होनी चाहियें।

कामटे तथा उसके सह-विचारकों की इस विचारधारा के विरुद्ध लेखकों ने इन तर्कों को रखा है।

(१) किसी विषय के विज्ञान होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसकी कुछ निश्चित आधारभूत कल्पनायें हों अथवा कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकें।

(२) दूसरे, जैसा कि Bryce ने लिखा है "कि मनुष्य मात्र की प्रकृति में एक ऐसी स्थिरता एवं एकरूपता है जिससे हम किसी समय किसी गए मनुष्य के कार्य के सम्बन्ध में यह निश्चित कर सकें कि जिन कारणों से वह कार्य हुआ वे वही थे जिनके कारण ऐसा ही कार्य एक बार पहले भी हुआ था।" आगे चलकर ब्राइस ने लिखा है कि कार्यों को हम श्रेणीबद्ध कर सकते हैं तथा उनका एक-दूसरे से सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं और उन्हें अध्ययन के लिए इस प्रकार रख सकते हैं मानो वे सामान्य प्रचलित प्रवृत्तियों के फलस्वरूप हों।

(३) इसके अतिरिक्त राजनीति शास्त्र में प्रयोग भी होते ही रहते हैं। यह सत्य है कि राजनीति शास्त्र के प्रयोगों के लिए एक वैज्ञानिक के समान कोई प्रयोगशाला नहीं है। किन्तु फिर भी प्रयोग नित्यप्रति किए जाते हैं। प्रायः यदा-कदा नये राजनीतिक सिद्धान्तों को व्यवहार में लाया जाता है, नये प्रशासकीय तरीकों तथा यन्त्रों की परीक्षा की जाती है और उनके परिणामों को ध्यानपूर्वक देखा जाता है। राजनीति-शास्त्र के लिए सम्पूर्ण संसार ही प्रयोगशाला है और प्रत्येक परिवर्तन जो कि सरकार में किया जाता है तथा प्रत्येक नया पास किया गया कानून ही, जैसा कि गिलक्राइस्ट (Gilchrist) संकेत करता है, राजनीति शास्त्र का प्रयोग है।

मतों के इस संघर्ष के मध्य हमारे लिए यह अध्ययन करना अत्यन्त रोचक हो जाता है कि राजनीति शास्त्र एक विज्ञान है अथवा नहीं। इस समस्या के हल के लिए हमें विज्ञान की परिभाषा से ही अपना प्रयत्न प्रारम्भ करना होगा।

विज्ञान अवश्यम्भावी, अमर एवं अपरिवर्तनशील कानूनों का अध्ययन नहीं है जैसा कि कुछ लेखक भ्रम में पड़कर कहते हैं। वास्तव में विज्ञान से हमारा तात्पर्य उस संकलित ज्ञान से है जो कि विधिपूर्वक देखने एवं प्रयोग करने से प्राप्त किया हो जिसके परिणामस्वरूप कुछ कानून एवं सिद्धान्त निकाले जा सकें। इस प्रकार विज्ञान एक भावुक अध्ययन विधि न होकर तर्कयुक्त अध्ययन है। किसी विषय के वैज्ञानिक अध्ययन का तात्पर्य यह है कि हम उसके विषयवस्तु एवं तथ्यों का तर्क के आधार पर तथा निष्पक्ष एवं उदार हृदय से विश्लेषण करें।

विज्ञान शब्द की इस परिभाषा के अनुसार राजनीति शास्त्र एक विज्ञान ही कहा जायगा। राजनीति शास्त्र में विचारकों ने राजनीतिक संस्थाओं के भूतकालीन इतिहास एवं संगठन से तथा राज्यों का वर्तमान स्वरूप जैसा है उसका अध्ययन करके बहुत से सत्य एकत्रित कर लिए हैं। उन्होंने इन सत्यों का वर्गीकरण, समन्वय एवं सुन्दरता से संयोजन कर दिया है जिससे कि इस विश्लेषण से कुछ निश्चित आधारभूत सिद्धान्तों पर पहुँचा जा सके। इस प्रकार वे कुछ ऐसे सिद्धान्तों को निकाल सकने में समर्थ हुए हैं जो कि मनुष्य समाज का नियंत्रण करते हैं और जो कि प्रायः सब जगह एक से ही हैं, हाँ कहीं-कहीं थोड़ा अन्तर अवश्य आ गया है। राज्य-जीवन की कठिन समस्याओं को सुलझाने के लिए इन कानूनों एवं सिद्धान्तों का उपयोग किया जा सकता है।

लेकिन फिर भी हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि राजनीति-शास्त्र भौतिक शास्त्र तथा रसायन शास्त्र के समान शुद्ध प्राकृतिक विज्ञान नहीं है। प्राकृतिक विज्ञानों (Physical Sciences) के कुछ निश्चित एवं सही निष्कर्ष निकलते हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध निर्जीव पदार्थों से है। परन्तु राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध जीवधारियों से है जिनकी प्रकृति एवं प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। अस्तु मनुष्य के कार्यों के बारे में कोई निश्चयात्मकता नहीं हो सकती। जब कि हमारी सामग्री में भिन्न-भिन्न तथ्य हैं तो निष्कर्ष भिन्न-भिन्न होंगे ही। इसके अतिरिक्त राजनीति शास्त्र के अशुद्ध

संसार के सारे देशों में जो नित्यप्रति राज्य के स्वरूप में परिवर्तन होते रहते हैं वे ही तो राजनीति के प्रयोग हैं। यदि हम भारत का उदाहरण लें तो हम कह सकते हैं कि १६१६ के कानून के अन्तर्गत जो द्वैध शासन (Dyarchy) की व्यवस्था थी वह एक राजनैतिक प्रयोग ही था जो कि नितान्त असफल रहा। वास्तव में जैसा कि एक आधुनिक लेखक ने कहा है "प्रत्येक नये कानून का लागू होना, प्रत्येक नई संस्था का स्थापित होना, प्रत्येक नई नीति का श्रीगणेश होना इस अर्थ में एक प्रयोग है कि वह उस समय तक अस्थायी अथवा अन्तःकालीन माना जाता है जब तक कि उसके परिणाम न देख लिये गए हों और उसकी उपयोगिता न सिद्ध हो चुकी हो।" ("The enactment of every new law, the establishment of every new institution, the inauguration of every new policy, is experiment in the sense that it is regarded merely as provisinal or tentative until the results have proved its fitness to become permanent.")

(२) तुलनात्मक विधिः—

राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की तुलनात्मक विधि हमें राजनीतिशास्त्र के जन्मदाता अरस्तू (Aristotle) से मिली है। इस विधि का अर्थ है विभिन्न राज्यों, उनके संगठन, उनकी नीतियों एवं कार्यों का तुलनात्मक अध्ययन। इस प्रकार की तुलना राजनीतिक क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को जन्म देती है। इसके द्वारा हम बहुत सी राजनैतिक घटनाओं के सामान्य कारणों को जान सकते हैं। परन्तु इस विधि का प्रयोग बहुत सावधानी से करना चाहिए। विभिन्न राज्यों तथा उनकी शासन-प्रणालियों की तुलना करते समय हमें उनके निवासियों की मूल प्रकृति, स्वभाव, संस्कृति, उनके इतिहास, उनकी राजनैतिक शिक्षा एवं अनुभव और अन्त में विभिन्न देशों की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था को ध्यान में रखना होगा। अन्यथा जो निष्कर्ष निकाला जायगा वह वास्तविक की अपेक्षा

भ्रामक ही अधिक होगा।

(३) ऐतिहासिक विधिः—

वर्तमान भूतकाल की देन है और उसमें भविष्य की उन्नति के बीज निहित रहते हैं। इस प्रकार राजनैतिक व्यवस्थाओं को समझने के लिए इतिहास बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि आधुनिक राज्य जैसे हैं वे भूतकाल की देन हैं। राजनीति-शास्त्र में ऐतिहासिक विधि का उपयोग तुलनात्मक विधि के अंग के रूप में किया जाता है। इस विधि से राजनीति-शास्त्र का विद्यार्थी विभिन्न राजनैतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन, उनके जन्म, विकास एवं पतन तीनों पहलुओं से करता है। संस्थाओं की इस ऐतिहासिक अन्वीक्षा से राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी को वह सामग्री मिलती है जिनसे वह कानूनों एवं सिद्धान्तों का निर्धारण करता है। इन निष्कर्षों की जाँच अन्य संस्थाओं की ऐतिहासिक अन्वीक्षा से की जा सकती है.। मान्टेस्क्यू (Mante-sqieu) तथा सर हैनरी मेन (Sir Henry Maine) ने प्रधानतः इस विधि का प्रयोग किया था।

परन्तु इस ऐतिहासिक विधि में कुछ दोष हैं जो नीचे दिए जाते हैं—

(१) समय तथा परिस्थितियों की भावना के वश होकर राजनीति-शास्त्र का विद्यार्थी ऐतिहासिक विधि का अनुचित प्रयोग कर सकता है जिससे उसकी धारणायें गलत अथवा असत्य हो सकती हैं।

(२) यह विधि केवल तथ्यों को हमारे आगे रख देती है। इस प्रकार एकत्रित अव्यवस्थित सामग्री राजनीति के विद्यार्थी को किसी निश्चित दिशा में नहीं ले जा सकती। इस प्रकार एकत्रित किये गए तथ्यों को तर्क की कसौटी पर कसना होगा और उनसे सामान्य निष्कर्ष निकालने होंगे। अस्तु यह विधि केवल एक सन्तुलित तथा तर्कपूर्ण मस्तिष्क द्वारा ही सफलतापूर्वक प्रयोग में लाई जा सकती है।

(३) इस विधि को प्रयोग में लाने वाला विद्यार्थी भूतकाल में ऐसा भटक सकता है कि वह वर्तमान को भूल ही जाय और भविष्य की उपेक्षा कर दे। इसका परिणाम भूत के प्रति अन्ध श्रद्धा हो सकती है। परन्तु

राजनीति-शास्त्र जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रगतिशील तथा गतिशील है। अस्तु यदि ऐतिहासिक विधि राजनीति शास्त्र को स्थिर अथवा गतिहीन बना देती है—जो बातें भूतकाल में थीं वही वर्तमान में रहें और भविष्य में भी—तो वह उसके लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

अन्त में इस बात पर जोर देना होगा कि इन विधियों का सर्वोत्तम उपयोग उनको मिला देना होगा। इन तीनों ही विधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए जहाँ तक कि वे उपयोगी तथा फलदायक सिद्ध हों। उनकी बुराइयों तथा खतरों को बचाना चाहिए। तभी और केवल उसी हालत में राजनीति-शास्त्र का अध्ययन लाभप्रद हो सकेगा।

२—राजनीति-शास्त्र तथा अन्य सामाजिक शास्त्र

Q 5. "History without Political Science has no fruit, Political Science without History has no root." Discuss this statement.

(Agra, 1939, 1933; Bombay, 1941, 1937, 1936; Calcutta, 1933; Dacca, 1935; Patna, 1940; Punjab 1950, 1948. 1941, 1938,)

Ans.

(१) राजनीति शास्त्र इतिहास पर निर्भर है :

प्रत्येक जीवधारी का मनोविज्ञान एक-दूसरे पर निर्भर होना है। इसी प्रकार वे सब शास्त्र जो मनुष्य से सम्बन्धित हैं आवश्यक रूप से एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। राज्य तथा राजनैतिक संस्थायें, जो कि राजनीति-शास्त्र के अध्ययन के विषय हैं, किसी के द्वारा निर्मित नहीं होतीं वरन् उनका विकास होता है। वे इतिहास की देन हैं और उनका विकास जानने के लिए हमें इतिहास के पन्ने पलटने पड़ते हैं। राजनैतिक संस्थाओं की पूर्ण जानकारी भूतकाल के ज्ञान से ही हो सकती है कि उनका विकास कैसे हुआ है, वे अपने वर्तमान स्वरूप को कैसे प्राप्त कर सकी हैं और उन्होंने कहाँ तक अपने निर्माण के उद्देश्य को पूरा किया है। इसलिए राजनैतिक संस्थाओं के हमारे अध्ययन का आधार अनिवार्य रूप से ऐतिहासिक होना चाहिए। भविष्य की राजनैतिक व्यवस्था के लिए इतिहास बहुत अंशों में सामग्री प्रदान करता है। जब तक राजनीति-शास्त्र के अध्ययन का आधार दृढ़ता के साथ इतिहास में नहीं होगा तब तक वह केवल मात्र कल्पना ही रहेगा और इस प्रवृत्ति का अनेक प्रकार से निरी आदर्शवादी बने रहने का डर रहेगा। इसी-

लिए लार्ड एक्टन (Lord acton) ने कहा था : "राजनीति शास्त्र ही एक ऐसा शास्त्र है जो कि इतिहास की धारा में उसी प्रकार संचित है जिस प्रकार नदी की बालू में सोने के कण रहते हैं।" ("The science of Politics is the one science that is deposited by the stream of history like the grains of gold in the sands of a river.")

(२) इतिहास राजनीति-शास्त्र पर निर्भर हैं :—

इतिहास भी अपनी बारी में राजनीति शास्त्र से बहुत कुछ लेता है। राजनीति शास्त्र की सहायता से इतिहास कुछ सिद्धान्तों तथा कानूनों पर पहुँचता है। "यदि इतिहास अनुभव द्वारा शिक्षा देता हुआ राजनीति-शास्त्र है तो जिस दर्शन की शिक्षा वह देता है वह बहुत अंशों में राजनैतिक दर्शन है।" ("If history is Political Science teaching by experience much of the Philosophy that it teaches is Political Philosophy.") हमारा इतिहास का ज्ञान उस समय तक निरर्थक है जब तक कि घटनाओं और आन्दोलनों का सही-सही मूल्यांकन नहीं किया जाता। उदाहरणतः योरप का १९वीं शताब्दी का इतिहास उस समय तक अपूर्ण रहेगा जब तक कि राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद, व्यक्तिवाद, प्रजातन्त्र तथा समाजवाद के अनेक स्वरूपों के आन्दोलनों पर हम भली भाँति दृष्टि न रखें। उसी प्रकार बीसवीं शताब्दी के भारत के इतिहास के लिए यह आवश्यक है कि वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उदय, मुस्लिम लीग के जन्म और पृथक् निर्वाचन मण्डल की माँग, १९१९ के भारत कानून के अनुसार उत्तरदायी निरंकुश शासन तथा उसकी द्वैध-शासन-प्रणाली, साइमन कमीशन (Simon Commission) की सिफारिशें, साम्प्रदायिक निर्णय (The communal Award) के स्वरूप, गोल मेज परिषदों (Round Table Conferences) के निर्णय, १९३५ के भारत सरकार कानून के कार्यकरण, कांग्रेस मंत्रि-मण्डलों के त्याग पत्र, एटलान्टिक पत्र (Atlantic Char-

ter) और अपेक्षाकृत निकट भूत की बम्बई में गांधी-जिन्ना वार्तालाप, १६ मई, १६४६ के कैबिनेट मिशन (Cabinet Mission) की घोषणा, पंडित नेहरू के अन्तःकालीन सरकार के निर्माण तथा कांग्रेस, लीग और सिक्खों के प्रतिनिधियों की लन्दन-यात्रा तथा आंग्ल प्रधानमन्त्री की दिसम्बर की घोषणा आदि का भली भाँति वर्णन करे। राजनीति शास्त्र तथा इतिहास का सम्बन्ध इतना निकट है जैसा कि सीले (Seeley) ने कहा है "राजनीति उस समय तक दूषित है जब तक कि इतिहास के योग से उसे उदार नहीं बनाया जाता और इतिहास केवल-मात्र साहित्य रह जाता है जब वह राजनीति से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर देता है।" ("Politics is vulgar when not liberalised by history; and history fades into mere literature when it loses sight of its relation to politics.")

(३) इतिहास तथा राजनीति-शास्त्र में अन्तर—

परन्तु इस सबका यह अर्थ नहीं कि राजनीति शास्त्र इतिहास के दर का भिखारी है। और न ही इसका यह अर्थ है, जैसा कि फ्रीमैन (Freeman) ने कहा है, कि "इतिहास भूतकाल की सम्पूर्ण राजनीति ही है और राजनीति ही वर्तमान इतिहास है।" ("All history is past politics and all politics is present history".) इतिहास घटनाओं का संकलन है और ये घटनायें युद्धों, विद्रोहों, सैन्य-आक्रमणों, आर्थिक संकटों तथा धर्म अथवा समाज आदि में परिवर्तनों से सम्बन्धित हो सकती हैं। इतिहास की सभी घटनाएँ राजनीति शास्त्र के काम की नहीं होतीं। राजनीति-शास्त्र के विद्यार्थी का प्रमुख सम्बन्ध राजनैतिक संस्थाओं के इतिहास तथा उन तथ्यों से होता है जिनका कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राज्य के अध्ययन पर प्रभाव पड़े। राजनीति-शास्त्र इतिहास में से कुछ सत्यों को चुन लेता है। हमारा १६८८ की इंग्लैंड की महान्-क्रान्ति (Glorious Revolution) से उतना सम्बन्ध नहीं है जितना कि उस देश में वैधानिक राजतन्त्र (constitutional

Monarchy) के श्रीगणेश की घटना से तथा उत्तरदायी सरकार के प्रारम्भ से है। हमारा वर्तमान युद्ध तथा उसमें भाग लेने वाली शक्तियों की नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा उद्देश्य इस बात का अध्ययन करना है कि क्या गत महायुद्ध जिसका प्रारम्भ ३ सितम्बर, १६३६ को हुआ था वास्तव में तानाशाही के विरुद्ध प्रजातन्त्र का युद्ध था अथवा नहीं। हमारा इस बात से भी बहुत सम्बन्ध है कि युद्ध के बाद विश्व का राजनैतिक संगठन कैसा होगा।

(४) राजनीति-शास्त्र हमारे आगे आदर्श भी रखता है—

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इतिहास केवलमात्र वर्णनात्मक है, वह रचनात्मक नहीं। वह भूतकालीन घटनाओं का जैसे वे घटी थीं वर्णन कर देता है बिना किसी बात के "क्या होना चाहिए" पर विचार किये हुए। परन्तु राजनीति शास्त्र केवल यही अध्ययन नहीं करता कि कल (बीता हुआ) राज्य कैसा था, आज वह कैसा है वरन् यह भी करता है कि आने वाले कल को वह कैसा होगा। अस्तु राजनीति शास्त्र का अध्ययन नैतिक भी हो जाता है। वह उन नैतिक सिद्धान्तों का वर्णन हो जाता है जिन्हें किसी राज्य के जीवन का निर्देशन करना चाहिए।

अस्तु, हमारा निष्कर्ष यह है कि यद्यपि राजनीतिशास्त्र के उचित अध्ययन के लिए इतिहास की शिक्षायें लाभप्रद हैं, परन्तु इतिहास पर बहुत अधिक जोर देने से हमारा विज्ञान पंगु हो जायगा। ये दोनों विज्ञान पृथक्-पृथक् हैं फिर भी इतने एक-दूसरे से मिले हुए हैं कि लीकॉक (Leacock) के शब्दों में "इतिहास का कुछ भाग राजनीति शास्त्र का अंग है, और उनके विषय-क्षेत्र का दायरा एक-दूसरे को ढकता अथवा लांघता रहता है क्योंकि कुछ भाग दोनों का एक ही है।" ("Some of history is Part of Political Science, the circle of their contents overlapping an area enclsoed by each."

Q. 6. what is the relation of Political

Science with Economics ? Discuss that political issues of the present day are essentially economic issues.

(Agra, 1939, 1933; Bombay, 1941, 1937, 1936; Calcutta, 1933; Dacca 1935; Patna 1940; Punjab 1941, 1938.)

राजनीति शास्त्र का अर्थ-शास्त्र से क्या सम्बन्ध है ? 'वर्तमान समय की जो राजनैतिक समस्यायें हैं वे मूलतः आर्थिक समस्यायें हैं' इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

Ans.

(१) अर्थ-शास्त्र राजनीति शास्त्र का एक अंग—

कुछ समय पूर्व तक अर्थशास्त्र को राज्य के सामान्य विज्ञान (राजनीति-शास्त्र) की एक शाखा माना जाता था । पूर्वकाल में ग्रीक लोग उसे "राजनैतिक अर्थशास्त्र" ("Political Economy") कहा करते थे और उसकी परिभाषा "वह कला जो राज्य के लिए राजस्व (Revenue) जुटाती है" कहकर देते थे । सर जेम्स स्टीवार्ट (Sir James Stewart) ने कहा है कि "जो महत्त्व कुटुम्ब में कमखर्ची का है वही महत्त्व राज्य में राजनैतिक अर्थशास्त्र का है ।" (What economy is in the family, political economy is in the state..."). आडम स्मिथ (Adam Smith) ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Inquiry into the Nature and causes of the Wealth of Nations" में "राजनैतिक अर्थशास्त्र" के दो मुख्य उद्देश्यों का उल्लेख किया है—(१) जनता के लिए पर्याप्त राजस्व अथवा निर्वाह-साधन जुटाना, और (२) राज्य को जनसेवा के लिए पर्याप्त राजस्व प्रदान करना । "राजनैतिक अर्थशास्त्र", उसने कहा है, "जनता तथा सर्वोच्च शासक को समृद्ध बनाने का प्रयत्न करता है ।"

(२) अर्थशास्त्र एक पृथक विज्ञान है—

परन्तु आधुनिक लेखक इस धारणा से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि अर्थशास्त्र स्वयं एक पृथक् शास्त्र है। डा० मार्शल (Dr. Marshall) के मतानुसार वह "जीवन के साधारण व्यापार में मनुष्य का अध्ययन है।" वह व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्यों के उस भाग का निरीक्षण करता है जो कि अच्छे जीवन की आवश्यकताओं को जुटाने और उनके सदुपयोग से सम्बन्धित है। संक्षेप में, अर्थशास्त्र धन अथवा अर्थ का अध्ययन है जो कि मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। वह हमें यह बताता है कि मनुष्य कैसे धन को कमाता है और कैसे उसे खर्च करता है। इसके अन्तर्गत धारणा, उत्पादन, विनिमय एवं विभाजन—चार विभाग जो कि अर्थशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र को पूर्ण करते हैं—सम्मिलित हैं।

(३) राजनीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र एक-दूसरे के सहायक हैं—

इसके पृथक अध्ययन के बावजूद भी इस सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है कि राजनीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र एक-दूसरे के सहायक हैं। दोनों शास्त्रों में मनुष्य सामान्य इकाई है और मनुष्य के हित के लिए ही इनमें से प्रत्येक शास्त्र प्रयत्न करता है। अस्तु, दोनों विषयों के अध्ययन का एक ही सामान्य लक्ष्य है। आर्थिक योजनायें उसी अवस्था में कार्यान्वित की जा सकती हैं जब कि समाज में शान्ति और सुव्यवस्था हो। राज्य का यह एक आवश्यक लक्षण है कि वह अपने निवासियों को आन्तरिक शान्ति और बाह्य सुरक्षा प्रदान करे।

परन्तु कोई भी राज्य केवल पुलिस-राज्य नहीं रह सकता। उसे इस बात का भरसक प्रयत्न करना चाहिए कि ऐसा वातावरण उत्पन्न हो सके जिसमें मनुष्य अपना सर्वोत्तम जीवन व्यतीत कर सके। राज्य को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि मनुष्य किन-किन वस्तुओं का उपयोग करता है। वह जनता के स्वास्थ्य का भी ध्यान रखता है क्योंकि जनता ही राज्य का स्वास्थ्य अथवा सर्वस्व है। राज्य अपने कानूनों द्वारा किन्हीं भी वस्तुओं

के प्रयोग पर नियन्त्रण लगा सकता है अथवा उनका पूर्ण निषेध कर सकता है जो कि जनता के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं। शराब तथा अन्य नशीली वस्तुओं का प्रयोग या तो नियन्त्रित रहता है या पूर्णतया निषिद्ध होता है। राज्य का यह भी कर्तव्य है कि वह यह देखे कि सब लोगों को उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं, विशेषकर संकटकालीन परिस्थितियों में। मूल्य-नियन्त्रण तथा राशनिंग व्यवस्था जिनका प्रयोग अभी हाल में हुआ है इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसी प्रकार राज्य को यह भी देखना होता है कि वस्तुओं का उत्पादन किस तरह होता है—उत्पादन की परिस्थितियाँ तथा विधि दोनों। उत्पादन की तरह यह समस्या केवल देशीय ही नहीं है। प्रत्येक देश को कुछ वस्तुओं का आयात तथा कुछ का निर्यात करना होता है। यह राज्य के अधिकार क्षेत्र में है कि वह यह निर्णय करे कि कोई देश "स्वतन्त्र व्यापारिक देश" (Free-trading country) रहे अथवा "रक्षित" (Protectionist)।

एक वस्तु का उत्पादक दूसरी वस्तु का उपभोक्ता होता है। इससे विनिमय के अध्ययन की आवश्यकता होती है। इस विनिमय का माध्यम धन है और वही मूल्य का माप भी है। राज्य का यह कार्य है कि वह मुद्रा ढलवाये और आवश्यकतानुसार उसकी पूर्ति कागज़ के नोट चलाकर करे। जनता के हाथ में जो कुल धन होता है उससे मूल्यों के परिवर्तन का अन्दाज़ होता है। अस्तु, यह देखना राज्य का काम है कि एक समय में कितना धन प्रयोग के लिए प्रसारित किया जाय कि मूल्यों में भयानक कमी अथवा बढ़ती न हो जाय। बैंक कर्ज़ प्रदान करते हैं और वे ही जनता के बचाये हुए धन को संचित रखते हैं। प्रत्येक राज्य की आर्थिक समृद्धि वहाँ की बैंकिंग प्रणाली के संगठन की सुव्यवस्था पर निर्भर रहती है। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह उनके कार्यों का आवश्यक कानूनों द्वारा नियन्त्रण करे।

आधुनिक काल की सबसे कठिन समस्या वितरण अथवा विभाजन की है। अर्थ-शास्त्र में "विभाजन" (Distribution) शीर्षक के अन्तर्गत हम यह अध्ययन करते हैं कि जमींदार, मजदूर, पूँजीपति एवं संगठनकर्ता

के विरुद्ध प्रजातन्त्र का युद्ध कहा जाता था। परन्तु यदि हम तनिक गहराई से सोचें तो हमें ज्ञात होगा कि वह युद्ध हिटलर की योरप पर आर्थिक प्रभुत्व जमाने की इच्छा के विरुद्ध था। जर्मनी में नाज़ीवाद का उदय वहाँ की आर्थिक दुर्दशा के कारण हुआ। लीग आफ़ नेशन्स (League of Nations) की असफलता का कारण भी उस आर्थिक अकेलेपन की नीति तथा आर्थिक राष्ट्रीयता है जिसको कि प्रत्येक देश अपनाए हुए था। इंग्लैंड की भारत को आजाद न करने की इच्छा का कारण भी आर्थिक लाभ था न कि राजनैतिक उपयोग। युद्ध के बाद अब पुनर्निर्माण की जो समस्यायें विश्व के सम्मुख हैं वे भी प्रत्येक दृष्टिकोण से आर्थिक समस्यायें हैं।

आज की राजनीति के जो ज्वलन्त प्रश्न हैं—उद्योगों पर सरकार का नियन्त्रण, राज्य का उद्योग से सम्बन्ध, पूँजी तथा श्रम के प्रति उसका झुकाव—वे सब मूलतः आर्थिक प्रश्न हैं। 'राजनैतिक प्रजातन्त्र के लिए पहले आर्थिक प्रजातन्त्र का होना आवश्यक है' के नारे ने सब देशों के वर्तमान राजनैतिक संगठन को आमूल परिवर्तित कर दिया है। यह भी कहना अत्युक्ति न होगी कि सरकार के शासन का सम्पूर्ण सिद्धान्त ही बहुत अंशों में आर्थिक है।

Q. 7. Describe the relation of Political Science with Ethics and Sociology.

(Agra, 1939, 1933; Bombay, 1941, 1937, 1936; Calcutta, 1933; Dacca, 1935; Patna, 1940; Punjab, 1941, 1938)

राजनीति-शास्त्र का नीति-शास्त्र तथा समाज-शास्त्र से सम्बन्ध बताइए।

Ans.

बहुत से सामाजिक-शास्त्रों के अध्ययन का विषय मनुष्य है जैसे अर्थ-शास्त्र, इतिहास, राजनीति-शास्त्र, नीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदि। ये सब शास्त्र मनुष्य का अध्ययन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से करते हैं। अस्तु स्वभावतः

प्रकार नीति-शास्त्र एक आदर्श राजनैतिक व्यवस्था की प्रेरणा दे सकता है जिसका आधार "जीओ और जीने दो" ("live and let live") का सिद्धान्त होगा। लीग ऑफ् नेशन्स की असफलता तथा आज की कोरिया समस्या (Korean crisis) ने यह स्पष्ट कर दिया है कि नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित राजनीति ही से विश्व-संघ का स्वप्न फलीभूत हो सकता है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि नीति-शास्त्र राजनीति-शास्त्र को उत्तम विचारधाराओं और "स्वस्थ होना चाहिए" ("healthy ought to be") की प्रेरणा दे सकता है।

(२) नागरिक राज्य का निर्माण करते हैं। किसी देश में जैसे नागरिक होंगे वैसे ही राज्य, सरकार तथा शासन होंगे। एक प्रगतिशील राजनैतिक संगठन के लिए हमें ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता है जो कर्तव्य को कर्तव्य के हेतु प्रेम करते हों और जिनको उद्देश्य की सचाई और इच्छा शक्ति से प्रेरणा मिलती हो। ऐसे मनुष्य अपनी विचार-धारा में मूलतः नैतिक होते हैं। इस प्रकार राजनीति-शास्त्र को स्वस्थ नागरिकों के लिए नीति-शास्त्र पर निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि ऐसे नागरिक ही राज्य को स्वस्थ, समृद्ध और प्रगतिशील बना सकते हैं।

इन दो विषयों का सम्बन्ध इतना निकट है कि किसी समय राजनीति-शास्त्र और नीतिशास्त्र को एक ही समझा जाता था। अरस्तू (Aristotle) ने केवल आंशिक रूप में ही राजनीति-शास्त्र को नीति-शास्त्र से पृथक किया था। इस कार्य की पूर्ति मैकयावैली (Machiavelli) ने की। लेकिन फिर भी आज भी ये दोनों विषय एक-दूसरे से बहुत निकट-तथा सम्बन्धित हैं, यदि निष्पक्ष होकर देखा जाय। हमारे पूज्य देशभक्त-राजनीतिज्ञ महात्मा गान्धी की महानता इसी में है कि उन्होंने राजनीति और नीति-शास्त्र में समन्वय स्थापित किया अथवा यों कहिए कि राजनीति में नैतिकता का पुट दिया। यह सत्य ही है कि नीतिशास्त्र से च्युत राजनीति-शास्त्र अत्यन्त गुण-बोधक (abstract) और संकीर्ण है और यह निश्चय है कि वह "शक्ति-राजनीति" (power-politics) के स्वार्थ-लाभ

प्रकार नीति-शास्त्र एक आदर्श राजनैतिक व्यवस्था की प्रेरणा दे सकता है जिसका आधार "जीओ और जीने दो" ("live and let live") का सिद्धान्त होगा। लीग ऑफ् नेशन्स की असफलता तथा आज की कोरिया समस्या (Korean crisis) ने यह स्पष्ट कर दिया है कि नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित राजनीति ही से विश्व-संघ का स्वप्न फलीभूत हो सकता है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि नीति-शास्त्र राजनीति-शास्त्र को उत्तम विचारधाराओं और "स्वस्थ होना चाहिए" ("healthy ought to be") की प्रेरणा दे सकता है।

(२) नागरिक राज्य का निर्माण करते हैं। किसी देश में जैसे नागरिक होंगे वैसे ही राज्य, सरकार तथा शासन होंगे। एक प्रगतिशील राजनैतिक संगठन के लिए हमें ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता है जो कर्तव्य को कर्तव्य के हेतु प्रेम करते हों और जिनको उद्देश्य की सचाई और इच्छा शक्ति से प्रेरणा मिलती हो। ऐसे मनुष्य अपनी विचार-धारा में मूलतः नैतिक होते हैं। इस प्रकार राजनीति-शास्त्र को स्वस्थ नागरिकों के लिए नीति-शास्त्र पर निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि ऐसे नागरिक ही राज्य को स्वस्थ, समृद्ध और प्रगतिशील बना सकते हैं।

इन दो विषयों का सम्बन्ध इतना निकट है कि किसी समय राजनीति-शास्त्र और नीतिशास्त्र को एक ही समझा जाता था। अरस्तू (Aristotle) ने केवल आंशिक रूप में ही राजनीति-शास्त्र को नीति-शास्त्र से पृथक किया था। इस कार्य की पूर्ति मैकयावैली (Machiavelli) ने की। लेकिन फिर भी आज भी ये दोनों विषय एक-दूसरे से बहुत निकट-तथा सम्बन्धित हैं, यदि निष्पक्ष होकर देखा जाय। हमारे पूज्य देशभक्त-राजनीतिज्ञ महात्मा गान्धी की महानता इसी में है कि उन्होंने राजनीति और नीति-शास्त्र में समन्वय स्थापित किया अथवा यों कहिए कि राजनीति में नैतिकता का पुट दिया। यह सत्य ही है कि नीतिशास्त्र से च्युत राजनीति-शास्त्र अत्यन्त गुण-बोधक (abstract) और संकीर्ण है और यह निश्चय है कि वह "शक्ति-राजनीति" (power-politics) के स्वार्थ-लाभ

प्रकार नीति-शास्त्र एक आदर्श राजनैतिक व्यवस्था की प्रेरणा दे सकता है जिसका आधार "जीओ और जीने दो" ("live and let live") का सिद्धान्त होगा। लीग ऑफ् नेशन्स की असफलता तथा आज की कोरिया समस्या (Korean crisis) ने यह स्पष्ट कर दिया है कि नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित राजनीति ही से विश्व-संघ का स्वप्न फलीभूत हो सकता है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि नीति-शास्त्र राजनीति-शास्त्र को उत्तम विचारधाराओं और "स्वस्थ होना चाहिए" ("healthy ought to be") की प्रेरणा दे सकता है।

(२) नागरिक राज्य का निर्माण करते हैं। किसी देश में जैसे नागरिक होंगे वैसे ही राज्य, सरकार तथा शासन होंगे। एक प्रगतिशील राजनैतिक संगठन के लिए हमें ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता है जो कर्तव्य को कर्तव्य के हेतु प्रेम करते हों और जिनको उद्देश्य की सच्चाई और इच्छा शक्ति से प्रेरणा मिलती हो। ऐसे मनुष्य अपनी विचार-धारा में मूलतः नैतिक होते हैं। इस प्रकार राजनीति-शास्त्र को स्वस्थ नागरिकों के लिए नीति-शास्त्र पर निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि ऐसे नागरिक ही राज्य को स्वस्थ, समृद्ध और प्रगतिशील बना सकते हैं।

इन दो विषयों का सम्बन्ध इतना निकट है कि किसी समय राजनीति-शास्त्र और नीतिशास्त्र को एक ही समझा जाता था। अरस्तू (Aristotle) ने केवल आंशिक रूप में ही राजनीति-शास्त्र को नीति-शास्त्र से पृथक किया था। इस कार्य की पूर्ति मैकयावैली (Machiavelli) ने की। लेकिन फिर भी आज भी ये दोनों विषय एक-दूसरे से बहुत निकट तथा सम्बन्धित हैं, यदि निष्पक्ष होकर देखा जाय। हमारे पूज्य देशभक्त-राजनीतिज्ञ महात्मा गान्धी की महानता इसी में है कि उन्होंने राजनीति और नीति-शास्त्र में समन्वय स्थापित किया अथवा यों कहिए कि राजनीति में नैतिकता का पुट दिया। यह सत्य ही है कि नीतिशास्त्र से च्युत राजनीति-शास्त्र अत्यन्त गुण-बोधक (abstract) और संकीर्ण है और यह निश्चय है कि वह "शक्ति-राजनीति" (power-politics) के स्वार्थ-लाभ

Q. 8. How is Political Science related to Psychology, Law and Geography ? Discuss their value in understanding the principles of Political Science.

राजनीति-शास्त्र मनोविज्ञान, कानून तथा भूगोल से किस प्रकार सम्बन्धित है ? राजनीति-शास्त्र के सिद्धान्तों को समझने के लिए वे किस प्रकार सहायक है यह समझाइये।

Ans.

एक बाह्य दर्शक को यह विचार भले ही विचित्र जँचे कि राजनीति-शास्त्र मनोविज्ञान, कानून तथा भूगोल से सम्बन्धित हो सकता है क्योंकि वे सर्वथा पृथक् विषय हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि वे राजनीति-शास्त्र से बहुत निकटतया सम्बन्धित हैं और उसके सिद्धान्तों को भली प्रकार समझने में बहुत सहायक हैं इसका कारण यह है कि इस अन्योन्याश्रित जगत में किसी भी वस्तु के लिए यह सम्भव नहीं है कि यह अपना सर्वथा पृथक एवं एकाकी अस्तित्व रख सके। प्रत्येक वस्तु का जिसका संसार में अस्तित्व है, अन्य वस्तुओं से थोड़ा बहुत सम्बन्ध होता ही है—प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष। अस्तु हमें अब इस बात की जाँच करनी चाहिए कि राजनीति-शास्त्र मनोविज्ञान, कानून तथा भूगोल से किस प्रकार सम्बन्धित है और ये विषय उसके सिद्धान्तों को समझने में किस प्रकार सहायक हैं। निम्न विवेचना से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जायेगा।

(१)—राजनीति-शास्त्र तथा मनोविज्ञानः—

पहले हम मनोविज्ञान को लेंगे। मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो मनुष्य के मस्तिष्क के कार्यों एवं कार्यकरण का अध्ययन करता है और इसलिए वह राजनीति-शात्र से बहुत निकटतया सम्बन्धित है। राजनीति-शास्त्र राज्य, जो कि एक मानवीय समुदाय है, की उत्पत्ति, संगठन एवं कार्यकरण का अध्ययन करता है। मानवीय समुदाय अथवा संस्थायें मूलरूप से मस्तिष्क की उपज हैं। उनको समझने के लिए मस्तिष्क के कार्यकरण को समझना

की पतनावस्था को पहुँच जायगी।

(२)—राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र:—

समाज-शास्त्र सम्पूर्ण समाज का सामान्य शास्त्र है। यह 'व्यक्तियों के समूह' ('aggregate of individuals') के रूप में समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। राज्य, जोकि राजनीति-शास्त्र के अध्ययन का विषय है, स्वयं ही समाज का एक स्वरूप है। अस्तु राजनीति-शास्त्र का समाज-शास्त्र से बहुत निकट सम्बन्ध स्थापित करना होगा। इन दो विज्ञानों के निकट सम्बन्ध को गिडिंग (Gidding) ने बहुत सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है: 'जिन मनुष्यों ने समाज-शास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त नहीं पढ़े हैं उन्हें राज्य का विज्ञान पढ़ाना उसी प्रकार है जिस प्रकार एक ऐसे व्यक्ति को खगोल विद्या अथवा थर्मोडायनेमिक्स पढ़ाना जिसने न्यूटन के गति के कानून न पढ़े हों।' ('To teach the theory of the State to men who have not learned the first principles of Sociology, is like teaching Astronomy or Thermo-dynamics to men who have not learned the Newtonian laws of motion') राजनैतिक संगठन स्वयं ही सामाजिक संगठन का एक अंग है। राजनैतिक संगठन के अध्ययन होने के नाते राजनीति-शास्त्र को समाज-शास्त्र की सहायता लेनी पड़ती है जो कि मूलतः सामाजिक संगठन का अध्ययन है।

किन्तु फिर भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन दोनों शास्त्रों का विषयक्षेत्र भिन्न है। समाज-शास्त्र का सम्बन्ध समाज के हर पहलू से है जब कि राजनीति-शास्त्र केवल उसका एक ही पहलू से अध्ययन करता है। —समाज एक राजनैतिक संगठन के रूप में। इस प्रकार राजनीति-शास्त्र का क्षेत्र समाज-शास्त्र की अपेक्षा बहुत संकीर्ण है यद्यपि इनमें से प्रथम दूसरे की अपेक्षा राजनैतिक संगठनों का बहुत विस्तृत अध्ययन करता है। यह कहना बहुत अनुचित नहीं है कि राजनीति-शास्त्र समाज-शास्त्र का शिशु है।

Q. 8. How is Political Science related to Psychology, Law and Geography ? Discuss their value in understanding the principles of Political Science.

राजनीति-शास्त्र मनोविज्ञान, कानून तथा भूगोल से किस प्रकार सम्बन्धित है ? राजनीति-शास्त्र के सिद्धान्तों को समझने के लिए वे किस प्रकार सहायक है यह समझाइये ।

Ans.

एक बाह्य दर्शक को यह विचार भले ही विचित्र जँचे कि राजनीति-शास्त्र मनोविज्ञान, कानून तथा भूगोल से सम्बन्धित हो सकता है क्योंकि वे सर्वथा पृथक् विषय हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि वे राजनीति-शास्त्र से बहुत निकटतया सम्बन्धित हैं और उसके सिद्धान्तों को भली प्रकार समझने में बहुत सहायक हैं इसका कारण यह है कि इस अन्योन्याश्रित जगत में किसी भी वस्तु के लिए यह सम्भव नहीं है कि यह अपना सर्वथा पृथक एवं एकाकी अस्तित्व रख सके । प्रत्येक वस्तु का जिसका संसार में अस्तित्व है, अन्य वस्तुओं से थोड़ा बहुत सम्बन्ध होता ही है—प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष । अस्तु हमें अब इस बात की जाँच करनी चाहिए कि राजनीति-शास्त्र मनोविज्ञान, कानून तथा भूगोल से किस प्रकार सम्बन्धित है और ये विषय उसके सिद्धान्तों को समझने में किस प्रकार सहायक हैं । निम्न विवेचना से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जायेगा ।

(१)—राजनीति-शास्त्र तथा मनोविज्ञान:—

पहले हम मनोविज्ञान को लेंगे । मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो मनुष्य के मस्तिष्क के कार्यों एवं कार्यकरण का अध्ययन करता है और इसलिए वह राजनीति-शात्र से बहुत निकटतया सम्बन्धित है । राजनीति-शास्त्र राज्य, जो कि एक मानवीय समुदाय है, की उत्पत्ति, संगठन एवं कार्यकरण का अध्ययन करता है । मानवीय समुदाय अथवा संस्थायें मूलरूप से मस्तिष्क की उपज हैं । उनको समझने के लिए मस्तिष्क के कार्यकरण को समझना

अत्यन्त आवश्यक है। इस बात को लगभग सभी आधुनिक लेखकों ने स्वीकार कर लिया है और वे मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के हर भाग पर मनोवैज्ञानिक विधियों के प्रयोग करने का प्रयत्न कर रहे हैं। जैसा कि बार्कर (Barker) ने कहा है 'मानवीय क्रियाओं की पहेलियों को सुलझाने के लिए मनोवैज्ञानिक कुँजी का प्रयोग आजकल एक रिवाज बन गया है। यदि हमारे पूर्वज जीव-वैज्ञानिक ढंग से विचार करते थे तो हम मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार करते हैं।' ('The application of psychological clue to the riddle of human activity has indeed become a fashion of the day. If our fathers thought biologically, we think psycholgically.") मनोवैज्ञानिक प्रवेश विधि पर दिए जाने वाले इस जोर का बहुत महत्त्व है। हम अपने राजनीति-शास्त्र के अध्ययन में उस समय तक बहुत गहरे नहीं पहुँच सकते जब तक कि हम यह न जान लें कि मनुष्य व्यक्तिगत स्थिति में तथा समाज के सदस्यों की स्थिति में किस तरह का व्यवहार करते हैं जब कि वे विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं के वशीभूत होते हैं। यदि हम मानव व्यवहार को भली प्रकार समझना चाहते हैं तो हमें अभ्यास और प्रवृत्ति, अनुकरण और अनुमति आदि का ज्ञान प्राप्त करना होगा। गार्नर के शब्दों में 'सरकार को टिकाऊ और वास्तव में लोकप्रिय होने के लिए अपने अधीन व्यक्तियों के मानसिक विचारों और नैतिक भावनाओं का प्रदर्शन एवं व्यक्तीकरण करना चाहिए। अथवा संक्षेप में उसे जाति की मानसिक रचना के अनुकूल होना चाहिए।' ('Government to be stable and really popular must reflect and express the mental ideas and moral sentiments of these who are subject to its authority; in short it must be in harmony with the mental constitution of the race.") दंगाइयों के मनोविज्ञान को समझना लोकप्रिय आन्दोलनों तथा संगठनों का सामना करने

के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीति-शास्त्र के सिद्धान्तों को ठीक तरह समझने के लिए मनोविज्ञान की जानकारी आवश्यक है।

(२) राजनीति-शास्त्र तथा कानून—

अब हम कानून पर आते हैं। राज्य एक सामाजिक दृष्टि-विषय (Phenomenon) और कानूनी संस्था दोनों ही है और राज्य की पूर्ण व्याख्या के प्रयत्न में ये दोनों ही पहलू आ जाने चाहियें। कानूनी दृष्टि से राज्य एक देहधारी है—इस अर्थ में कि वह अधिकारों और कर्तव्यों का विषय है। वह किसी भी कानूनी न्यायालय में मुकदमा चला सकता है और उस पर भी मुकदमा चलाया जा सकता है। अथवा इसे दूसरी परि-भाषा के रूप में कहें तो "वह एक नियम है जो कि ऐसे मनुष्यों से मिल कर बना है जो एक विशेष क्षेत्र में रहते हैं और जिन्हें राज्य करने की मौलिक शक्ति प्राप्त है।" (A legal corporation composed of men domiciled upon a particular territory and end owed with original ruling power".—Elliot)

स्मृति (Jurisprudence) की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि वह कानून का विज्ञान है। यद्यपि वस्तुतः वह राजनीति-शास्त्र का ही एक उपांग है फिर भी उसका अपने क्षेत्र के विस्तार तथा सांकेतिक (Technical) प्रकृति के कारण एक पृथक विषय के रूप में अध्ययन किया जाता है। वैधानिक कानून (Constitutional Law) राज्य के अंग, उनके एक-दूसरे से सम्बन्धों तथा राज्य के व्यक्ति से सम्बन्धों की व्याख्या करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) राज्यों के एक-दूसरे से सम्बन्धों का नियन्त्रण करता है। इस प्रकार इन दो विज्ञानों में बहुत-सी बातें सामान्य हैं और वे एक-दूसरे के अध्ययन में सहायक हैं।

(३) राजनीति-शास्त्र तथा भूगोल—

अन्त में हम भूगोल पर आते हैं। मनुष्य पर उन भौतिक परिस्थितियों

तथा भौगोलिक दशाओं का बहुत प्रभाव पड़ता है जिनमें वह रहता है। एक जाति के चरित्र, संस्थाओं और उन्नति पर जलवायु, स्थिति और भौतिक आकृतियों का बहुत प्रभाव पड़ता है। अरस्तू (Aristotle) सब से पहला लेखक है जिसने सर्वप्रथम अपना ध्यान भूगोल का किसी जाति की राजनैतिक संस्थाओं एवं राष्ट्रीय चरित्र पर प्रभाव के प्रति आकर्षित किया। आधुनिक काल में बोदां (Bodin), रूसो (Rousseau) तथा बकल (Buckle) ने भी इसी बात का प्रतिपादन किया था कि किसी देश की राजनैतिक दशाओं पर भूगोल का क्या प्रभाव होता है। इस प्रकार रूसो ने कहा है कि उष्ण जलवायु के लिए निरंकुश शासन बहुत स्वाभाविक है, शीत जलवायु के लिए असभ्यता और समशीतोष्ण जलवायु के लिए 'आदर्श शासन प्रणाली' (Polity)। इसमें बहुत कुछ सत्य है। इस प्रकार भूगोल का ज्ञान किसी देश की राजनैतिक परिस्थितियों को समझने में सहायता करता है। इसलिए ये दोनों विषय एक-दूसरे के पूरक हैं क्योंकि राजनीति-शास्त्र राज्य तथा सरकार का अध्ययन करता है और भौगोलिक परिस्थितियाँ राजनैतिक संस्थाओं के स्वरूप का निर्धारण करती हैं।

इस प्रकार हमने देख लिया कि तीनों विषय—मनोविज्ञान, कानून तथा भूगोल—राजनीति-शास्त्र के सिद्धान्तों को समझने के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान करते हैं।

आधुनिक प्रवृत्ति विशाल जन-संख्या वाले राज्यों के पक्ष में है। राज्य के मनुष्यों की संख्या बढ़नी चाहिए। हिटलर और मुसोलिनी तो उन दम्पतियों को राज्य की ओर से पुरस्कार देते थे जो एक निर्दिष्ट माध्यम से अधिक सन्तान उत्पन्न करते थे। रूस ने भी जन-संख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन दिया है। लेकिन जन-संख्या का माप राज्य का कोई प्रमाण नहीं है। जन-संख्या में बढ़ोतरी अथवा कमी से कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस सम्बन्ध में कोई भी सीमा-सैद्धान्तिक अथवा व्यवहारिक-निश्चित नहीं की जा सकती। फिर भी जन-संख्या इतनी होनी चाहिए जिसमें एक शासक-वर्ग और एक शासित-वर्ग बन सकें और उनकी संख्या इतनी होनी चाहिये

जो राज्य के संगठन के भार को वहन कर सकें।

(२) प्रदेश--

प्रदेश राज्य का दूसरा भौतिक-तत्त्व है। एक जनता उस समय तक राज्य नहीं हो सकती जब तक कि वह एक निश्चित प्रदेश पर कब्जा न किए हो। खानाबदोश लोग जो एक जगह से दूसरी जगह रहते फिरते हैं राज्य का निर्माण नहीं करते। राज्य के निर्माण में प्रदेश एक अपरिहार्य तत्त्व है क्योंकि एक ही क्षेत्र में निवास एकता और भाईचारे की भावना उत्पन्न करने में बहुत सहायक तत्त्व है जिसके बिना राज्य का अस्तित्व सम्भव नहीं।

जिस प्रकार जनसंख्या में उसी प्रकार प्रदेश के सम्बन्ध में कोई सीमा नहीं निर्दिष्ट की जा सकती। बड़े-बड़े राज्यों के साथ-साथ बहुत से छोटे-छोटे राज्य भी विद्यमान हैं। वैसे स्विटजरलैंड अमेरिका की अपेक्षा बहुत छोटा है पर जहाँ तक उनके "राज्यत्व" (Statehood) का सम्बन्ध है उनमें कोई अन्तर नहीं। इस समय संसार में लगभग ७६ सुसंगठित राज्य हैं। सैन मैरिनो (San Marino) राज्य का क्षेत्रफल ३६ वर्ग मील है जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका का ३,७३८,३९५ वर्ग मील।

परन्तु एक राज्य के विस्तार का उसकी सुरक्षा, शक्ति एवं प्रभाव के प्रश्न से ही महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं है, वरन् बहुत हद तक उसकी सरकार के संगठन के स्वरूप एवं कार्यों से भी। छोटे-छोटे राज्य प्रायः प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy) की विधियों के निकट-सम्पर्क में होते हैं। फिर एक अपेक्षाकृत छोटे राज्य में एकता और देश-भक्ति अधिक होती है और जनता की सम्पूर्ण शक्ति सामाजिक हित की वृद्धि करने में केन्द्रित रहती है। रूसो (Rousseau) के मतानुसार "सामाजिक स्थल जितना ही अधिक विस्तृत होगा उतना ही वह दुर्बल होगा।" उसका निष्कर्ष था कि एक छोटा राज्य बड़े राज्य की अपेक्षा अधिक शक्ति-शाली होगा। अस्तु उसने एक सुशासित राज्य के लिए सीमा निर्दिष्ट करना उचित समझा।

इसके विपरीत छोटे-छोटे राज्य अपेक्षाकृत कम सुरक्षित होते हैं। वे बड़े एवं अतिक्रमण करने वाले राज्यों के शिकार बन जाते हैं। हिटलर ने कुछ ही समय में पोलैंड, जैकोस्लोवैकिया, डेन्मार्क, हॉलैंड और बेल्जि-यम को जीत लिया था। ट्रीट्सके (Treitschke) का मत था कि राज्य शक्ति है, इसलिए राज्य के लिए छोटा होना एक पाप है। आर्थिक दृष्टि से भी छोटे-छोटे राज्य अपने में पूर्ण अथवा उसके निकट नहीं होते। इस स्पर्धा-रत विश्व में छोटे-छोटे राज्यों की बहुतायत अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए घातक कही जाती है।

प्रदेश के क्षेत्र अथवा विस्तार के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह यह है कि उसे इतना विस्तृत होना चाहिए कि अपनी जन-संख्या का भार वहन कर सके। अर्थात् उसकी आवश्यकता की वस्तुएँ उत्पन्न कर सके। यदि जन-संख्या और प्रदेश के मध्य कोई अनुपात नहीं है तो राज्य में वे सब कमजोरियाँ आ जायेंगी जो उन्नति के मार्ग में बाधक होती हैं। फिर भी यह नहीं भुला देना चाहिये कि किसी देश की महानता उसके विस्तार से नहीं मापी जा सकती। प्रदेश से सम्बन्धित अन्य बहुत से तत्त्व हैं जो महानता के लिए उत्तरदायी हैं। प्रदेश की भौतिक-विशेषतायें, उसका जलवायु, प्राकृतिक साधन, मिट्टी की बनावट, जनता की बुद्धिमत्ता आदि बातें किसी देश की सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं के विकास पर बहुत प्रभाव डालती हैं।

(३) संगठन अथवा सरकार -

एक निश्चित प्रदेश पर बसी हुई जनता जिह्वाओं के निरर्थक विशाल भवन के समान ही होगी अधिक कुछ नहीं। जिस उद्देश्य के लिए वे एक सामाजिक इकाई के रूप में रहते हैं उसके लिए संगठन आवश्यक है। उसमें एक शासक-वर्ग और एक शासित-वर्ग होना चाहिए। सरकार राज्य का संगठन है, एकता का अंग है। वह यही साधन है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा का व्यक्तीकरण होता है। "वह जनता की सामान्य अथवा सर्वसाधारण इच्छा का केन्द्र है।" ("It is the focus of the

common will of the people")

(४) प्रभुता—

राज्य की प्रभुता का यह मन्तव्य है कि उसे आन्तरिक क्षेत्र में सर्वोच्च एवं बाह्य नियन्त्रण से उन्मुक्त होना चाहिए। एक ऐसा सम्प्रदाय जो आन्तरिक क्षेत्र में सर्वोच्च नहीं है और बाह्य नियन्त्रण से मुक्त नहीं है राज्य नहीं कहा जा सकता। आन्तरिक सर्वोच्चता से हमारा अर्थ यह है कि राज्य अपने क्षेत्र के अन्तर्गत व्यक्तियों एवं समुदायों पर कानून बनाने एवं उन्हें लागू करने का हक़दार है। इन कानूनों की अवज्ञा करने वाले को शारीरिक दण्ड भोगना पड़ेगा। बाह्यतः इसका अर्थ है विदेशी नियन्त्रण से उन्मुक्ति। इस प्रकार राज्य की प्रभुता का आशय है राज्य का आन्तरिक क्षेत्र में सर्वोच्च होना और अन्य राज्यों से अपने सम्बन्धों में स्वतन्त्र होना।

Q 10. Explain accurately the meaning of the State and Government, and distinguish between the two terms.

(Allahbaed, 1930; Bombay 1936; Punjab, 1941)

'राज्य' तथा 'सरकार' का सही सही अर्थ समझाइए और इन दो शब्दों का अन्तर भी स्पष्ट कीजिए।

Ans.

ऐसी अनेक भ्रान्तियाँ हैं जिनका एक राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी को ध्यान रखना चाहिए। एक साधारण व्यक्ति के लिए 'राज्य' और 'सरकार' में कोई भेद नहीं होगा। इंग्लैंड के स्टुअर्ट (Stuart) राजाओं का भी ऐसा ही विचार था। वे शासन करने वाले राजा और राज्य को एक ही समझा करते थे। फ्रांस के राजा चौदहवें लुई (Louis xiv) का यह कथन कि "मैं ही राज्य हूँ" ("I am the state") भी प्रायः सभी जानते हैं। पर ये दो शब्द एक-दूसरे से बहुत भिन्न अर्थ वाले हैं। वे पर्यायवाची नहीं हैं और बहुत भिन्न धारणाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। राजनीति-शास्त्र के बहुत से प्रश्न इन दो शब्दों के अन्तर के प्रस्वीकरण पर

ही निर्भर हैं।

१. सरकार-राज्य का एक अंग :

राज्य सामान्य हित के लिए राजनैतिक रूप से संगठित व्यक्तियों का समूह है उसमें वे सभी नागरिक सम्मिलित होते हैं जो सामूहिक जीवन में भाग लेते हैं। दूसरी ओर सरकार राज्य का एक आवश्यक अंग है। सरकार वह यन्त्र है जिसके द्वारा राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति होती है। वह राज्य की कुल जनसंख्या का एक छोटा-सा भाग है जिसे उसकी इच्छा को कार्य रूप में परिणत करने का कार्य सौंपा गया है। इसलिए 'राज्य' एक अदृश्य शब्द है जबकि 'सरकार' प्रत्यक्षतः ठोस। गार्नर (Garner) के शब्दों में "सरकार उस साधन अथवा संगठन का सामूहिक नाम है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा का निर्माण होता है, प्रकटीकरण होता है और उसकी प्राप्ति होती है।" ("The Government is the collective name for the agency, magistracy, or organization through which the will of the State is formulated, expressed and realized")

२. प्रधान और प्रतिनिधि का अन्तर:

चूँकि सरकार राज्य का साधन है वह एक प्रतिनिधि के नाते शक्ति का भोग करती है प्रधान के नाते नहीं। एक सर्वोच्च इकाई के नाते राज्य की शक्ति "मौलिक" है जबकि सरकार की शक्ति "प्रदत्त" है। सरकार सर्वोच्च नहीं है क्योंकि उसके पास जो शक्ति है वह राज्य द्वारा दी हुई है और जिसने उसे प्रदान किया है वह उसे वापिस भी ले सकता है। यह भेद भली प्रकार समझ लेना चाहिए क्योंकि आधुनिक संसार की बहुत-सी बुराइयाँ और तानाशाहों की ज्यादतियाँ इसी गड़बड़ी के कारण हैं। इन दोनों में एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि सरकार में जो परिवर्तन होते हैं वे राज्य के स्थायित्व और अस्तित्व पर कोई असर नहीं करते।

३. कार्यकाल का अन्तर :

राज्यों में स्थायित्व का गुण होता है यदि कोई राज्य दूसरी शक्ति द्वारा

जीत नहीं लिया जाता अथवा उस राज्य की आबादी सर्वथा लुप्त हो जाती है। पर सरकार परिवर्तनशील है और सरकार के संगठन में परिवर्तन राज्य के अस्तित्व पर कोई असर नहीं करते। इंग्लैंड में राजा सरकार का अंग है। पर राजा की मृत्यु अथवा उसके गद्दी से हटाए जाने से राज्य का अस्तित्व नहीं मिट जाता। इंग्लैंड के संविधान की यह प्रसिद्ध उक्ति है कि "राजा मर गया है। राजा चिरायु हो।" ("The king is dead! Long live the king") यदि श्री रूज़वेल्ट (Roosevelt) अमेरिका के राष्ट्रपति के निर्वाचन में श्री ड्यूई (Dewey) द्वारा पराजित हो जाते उससे संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यत्व पर कोई असर नहीं पड़ता।

लेकिन यह बात ध्यान देने योग्य है कि राज्य और सरकार का यह सारा अन्तर केवल सैद्धान्तिक लाभ का है। राज्य का प्रत्येक कार्य जिसका हम पर असर पड़ता है सरकार का ही कार्य है क्योंकि राज्य "अदृश्य" है और सरकार "ठोस" वस्तु। कानून जो कि राज्य की इच्छा व्यक्त करते हैं सरकार द्वारा ही बनाये तथा लागू किये जाते हैं। जब सरकार द्वारा बनाए गए राज्य के कानून जनता द्वारा स्वीकृत नहीं किए जाते अथवा जब सरकार कोई कठोर कदम उठाती है तब या तो विद्रोह द्वारा या वैधानिक विधियों द्वारा सरकार को बदल दिया जाता है। पर राज्य का उन्मूलन सम्भव नहीं है।

Q. 11. Distinguish between State, Society, Institution and Association.

(Punjab, 1940, 1946, 1948; Agra, 1942; Bomboy, 1936; Allahabad, 1930)

राज्य, समाज, संस्था एवं समुदाय में भेद स्पष्ट कीजिए।

Ans.

(अ) राज्य और समाज:—

(१) सर्वशक्तिमान राज्य:—राज्य और समाज दो ऐसे शब्द हैं

ही निर्भर हैं ।

१. सरकार-राज्य का एक अंग :

राज्य सामान्य हित के लिए राजनैतिक रूप से संगठित व्यक्तियों का समूह है उसमें वे सभी नागरिक सम्मिलित होते हैं जो सामूहिक जीवन में भाग लेते हैं । दूसरी ओर सरकार राज्य का एक आवश्यक अंग है । सरकार वह यन्त्र है जिसके द्वारा राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति होती है । वह राज्य की कुल जनसंख्या का एक छोटा-सा भाग है जिसे उसकी इच्छा को कार्य रूप में परिणत करने का कार्य सौंपा गया है । इसलिए 'राज्य' एक अदृश्य शब्द है जबकि 'सरकार' प्रत्यक्षतः ठोस । गार्नर (Garner) के शब्दों में "सरकार उस साधन अथवा संगठन का सामूहिक नाम है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा का निर्माण होता है, प्रकटीकरण होता है और उसकी प्राप्ति होती है ।" ("The Government is the collective name for the agency, magistracy, or organization through which the will of the State is formulated, expressed and realized")

२. प्रधान और प्रतिनिधि का अन्तर:

चूँकि सरकार राज्य का साधन है वह एक प्रतिनिधि के नाते शक्ति का भोग करती है प्रधान के नाते नहीं । एक सर्वोच्च इकाई के नाते राज्य की शक्ति "मौलिक" है जबकि सरकार की शक्ति "प्रदत्त" है । सरकार सर्वोच्च नहीं है क्योंकि उसके पास जो शक्ति है वह राज्य द्वारा दी हुई है और जिसने उसे प्रदान किया है वह उसे वापिस भी ले सकता है । यह भेद भली प्रकार समझ लेना चाहिए क्योंकि आधुनिक संसार की बहुत-सी बुराइयाँ और तानाशाहों की ज्यादतियाँ इसी गड़बड़ी के कारण हैं । इन दोनों में एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि सरकार में जो परिवर्तन होते हैं वे राज्य के स्थायित्व और अस्तित्व पर कोई असर नहीं करते ।

३. कार्यकाल का अन्तर :

राज्यों में स्थायित्व का गुण होता है यदि कोई राज्य दूसरी शक्ति द्वारा

जीत नहीं लिया जाता अथवा उस राज्य की आबादी सर्वथा लुप्त हो जाती है। पर सरकार परिवर्तनशील है और सरकार के संगठन में परिवर्तन राज्य के अस्तित्व पर कोई असर नहीं करते। इंग्लैंड में राजा सरकार का अंग है। पर राजा की मृत्यु अथवा उसके गद्दी से हटाए जाने से राज्य का अस्तित्व नहीं मिट जाता। इंग्लैंड के संविधान की यह प्रसिद्ध उक्ति है कि "राजा मर गया है। राजा चिरायु हो।" ("The king is dead! Long live the king") यदि श्री रूजवेल्ट (Roosevelt) अमेरिका के राष्ट्रपति के निर्वाचन में श्री ड्यूई (Dewey) द्वारा पराजित हो जाते उससे संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यत्व पर कोई असर नहीं पड़ता।

लेकिन यह बात ध्यान देने योग्य है कि राज्य और सरकार का यह सारा अन्तर केवल सैद्धान्तिक लाभ का है। राज्य का प्रत्येक कार्य जिसका हम पर असर पड़ता है सरकार का ही कार्य है क्योंकि राज्य "अदृश्य" है और सरकार "ठोस" वस्तु। कानून जो कि राज्य की इच्छा व्यक्त करते हैं सरकार द्वारा ही बनाये तथा लागू किये जाते हैं। जब सरकार द्वारा बनाए गए राज्य के कानून जनता द्वारा स्वीकृत नहीं किए जाते अथवा जब सरकार कोई कठोर कदम उठाती है तब या तो विद्रोह द्वारा या वैधानिक विधियों द्वारा सरकार को बदल दिया जाता है। पर राज्य का उन्मूलन सम्भव नहीं है।

Q. 11. Distinguish between State, Society, Institution and Association.

(Punjab, 1940, 1946, 1948; Agra, 1942; Bomboy, 1936; Allahabad, 1930)

राज्य, समाज, संस्था एवं समुदाय में भेद स्पष्ट कीजिए।

Ans.

(अ) राज्य और समाज:—

(१) सर्वशक्तिमान राज्य:—राज्य और समाज दो ऐसे शब्द हैं

जिनमें भेद करना आवश्यक है। अरस्तू (Aristotle) इन दो में कोई अन्तर नहीं मानता था। उसकी धारणा के अनुसार ग्रीक नगरराज्य एक सर्वशक्तिमान राज्य था। एक तानाशाह भी उनके भेद पर बहुत कम ध्यान देगा क्योंकि उसका राज्य ही सर्वदेशीय राज्य है। जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसे तानाशाह की इच्छा नहीं ढकती। रूस और जर्मनी में राज्य के ऊपर कोई भी वस्तु नहीं है, उसके पार कुछ नहीं है और उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। राज्य को समाज के बराबर कहने का अर्थ है जीवन के हर पहलू में राज्य का हस्तक्षेप करना। इससे राज्य अन्तिम उद्देश्य (end) हो जायगा और मनुष्य केवल-मात्र एक साधन (means)।

(२) प्रादेशिक निर्देशः—समाज बहुत से समूहों और संस्थाओं से मिलकर बना है जो मनुष्य की समुदाय में रहने की प्रवृत्ति को व्यक्त करते हैं। वह ऐसे लोगों का समूह है जिनके समान हित हैं और जो मैत्रीभाव की चेतना के कारण मिले हुए हैं। अनेक प्रकार के समाज हैं जैसे दी रॉयल एशियाटिक सोसायटी, दी रायल ज्यागरैफीकल सोसायटी, दी सोसायटी फार दी प्रोटेक्शन ऑफ कैटल, दी सोसायटी फार प्रमोटिंग साइन्टीफिक नालिज, दी सोसायटी फार दी एबालिशन ऑफ वार आदि। इन सभी में ऐसे व्यक्ति सम्मिलित होते हैं जिनके समान विचार हैं और जो समान उद्देश्य के लिए कार्य करते हैं। पर इस प्रकार निर्मित समाज के सम्बन्ध में यह हो सकता है कि वह किसी विशेष प्रदेश तक ही सीमित न हो। उसका संगठन सम्पूर्ण विश्व तक में फैला हो सकता है। वह क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय हो सकता है जैसे रैड-क्रॉस सोसायटी, फ्री मैसोनिक सोसायटी, रोटेरी क्लब। लेकिन राज्य से एक विशेष प्रदेश का निर्देशन होता है।

(३) क्षेत्रः—समाज शब्द से राज्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र का बोध होता है। वह अनेक सामाजिक सम्बन्धों का ज्ञान करता है जैसे शिक्षा, धर्म, कृषि, और औद्योगिक कार्य। पर राज्य का प्रकट उद्देश्य केवल मात्र राजनैतिक है। वह उन सामाजिक बन्धुताओं से सम्बन्धित है जिनकी अभिव्यक्ति सरकार के द्वारा होती है।

(४) संगठन:—राज्य के साथ एक संगठन की भावना रहती है। कोई समाज उस समय राज्य बन जाता है जब वह राजनैतिक संगठन कर लेता है।

(५) प्रतिरोधी शक्ति:—राज्य एक सर्वोच्च संस्था है और वह अपने संगठन अर्थात् सरकार के द्वारा प्रतिरोधी शक्ति का प्रयोग कर सकती है। वह राज्य ही है जो आदेश जारी कर सकता है और उन्हें मनवा सकता है और जो व्यक्ति कानून का उल्लंघन करते हैं उनके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग कर सकता है। समाज अपने कार्य के लिए केवल नियम बना सकता है। यदि कोई व्यक्ति उन नियमों को तोड़ता है तो वह कानूनी शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता। समाज अपने सदस्यों का सहयोग प्रार्थना एवं प्रोत्साहन द्वारा ही प्राप्त करता है। बार्कर (Barker) ने निम्न शब्दों में राज्य और समाज का अन्तर दिखाया है :

"They overlap, they blend, they borrow from one another. But roughly we may say that the area of the one is voluntary co-operation, its energy that of goodwill its method that of elasticity; while the area of the other is rather that of mechanical, its energy force, its method rigidity."

(६) राज्य समाज का संरक्षक:—यद्यपि राज्य और समाज दोनों एक ही नहीं हैं फिर भी राज्य समाज में व्यवस्था का प्रतिबन्ध करता है। राज्य समाज को सम्भाले रहता है। वह व्यक्तियों को व्यवहार के कुछ नियमों की अधीनता सिखाता है जो एक व्यवस्थित समाजिक जीवन के लिए आवश्यक है। बार्कर तो यहाँ तक कहता है कि यदि राज्य समाज की रक्षा न करे, उसे सम्भाले न रहे तो उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं।

(च) संस्थ

संस्था की परिभाषा इस प्रकार की गई है: एक प्रस्वीकृत रिवाज

अथवा सामाजिक प्रथा का स्वरूप जिसकी अभिव्यक्ति मनुष्यों में और मनुष्यों द्वारा होती है—या तो उनके व्यक्तिगत आचरण और बन्धुता में अथवा संगठित समूहों अथवा समुदायों द्वारा। संस्थाएँ बहुत समय से प्रचलित सामाजिक प्रथाओं की उपज होती हैं जो समाज के लिए अपनी उपयोगिता के कारण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलती रहती हैं। राजतन्त्र एक ऐसी संस्था है जो इंग्लैंड में अभी भी चली आ रही है। भारत में जाति व्यवस्था एक ऐसी ही दूसरी संस्था है जिसका इतिहास बहुत प्राचीन है। लेकिन किसी संस्था की उपयोगिता का निर्णय उसके सामाजिक जीवन एवं व्यवस्था में योग से होता है। जाति-व्यवस्था की उपयोगिता प्रायः लुप्त हो चुकी है और सम्भव है कि वह एक दम समाप्त हो जाय। इँग्लैंड में राजतन्त्र की फिर भी कुछ निश्चित उपयोगितायें हैं और अभी तक ऐसे कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं हुए हैं कि उसके स्थान पर सरकार का कोई अन्य स्वरूप स्थापित किया जायगा। यही नहीं, समाज में विकास तथा परिस्थितियों एवं दशाओं में परिवर्तन के साथ नई संस्थायें जन्म लेती रहती हैं। फिर भी एक संस्था के लिए यह आवश्यक है कि वह अच्छी तरह से स्थापित हो और उसे काफी लम्बे अरसे तक चलने का अवसर मिले।

संस्था शब्द के उपर्युक्त अर्थ से यह स्पष्ट हो गया होगा कि संस्था और समाज में कोई भी समानता नहीं है। वे स्वयं ही एक-दूसरे से सर्वथा पृथक हैं और उनका भेद स्पष्ट है। संस्था शब्द से अभ्यासों, व्यवहारों तथा जीवन के ढंग और चाल-चलन का निर्देश होता है जबकि राज्य एक मानव-संगठन का दृश्यस्वरूप है।

(स) समुदाय—

मनुष्य को सर्वोत्तम जीवन व्यतीत करने के लिए यही आवश्यक नहीं है कि वह एक राजनैतिक प्राणी हो वरन् उसे एक सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक प्राणी भी होना चाहिए। मनुष्य की आवश्यकतायें विविध हैं और एक पूर्ण मनुष्य होने के लिए उसे अपनी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक, मनोरंजन एवं ललितकला सम्बन्धी अन्तःप्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करना

प्रमावश्यक है। प्रत्येक राज्य के अन्दर बहुत से ऐच्छिक समुदाय, जैसे धार्मिक सभायें, परोपकारी संघ, शिक्षा सभायें, ट्रेड यूनियन आदि होते हैं जो कि इन्हीं मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। कोल (G. D. H. Cole) ने समुदाय की परिभाषा निम्न प्रकार दी है, "व्यक्तियों का कोई-भी समूह जो एक सामान्य उद्देश्य अथवा बहुत से उद्देश्यों के लिए सरकारी कार्यों द्वारा प्रयत्नशील हो और इस उद्देश्य के लिए उन्होंने कुछ कार्य-विधियों पर समझौता कर लिया हो और जिन्होंने सामूहिक प्रयत्न के लिए नियम बना लिए हों चाहे वे कैसे भी प्राथमिक क्यों न हों।" ("Any group of persons pursuing a common purpose or system or aggregation of purposes by a course of cooperative action extending beyond a single act, and for this purpose agreeing together upon certain methods of procedure and laying down, in however rudimentary a form, rules for common action.")

एक साधारण राज्य में ऐसे समुदायों की संख्या सीमित हो सकती है। पर आधुनिक समय के पेचीदा राज्य में उनकी संख्या बहुत बढ़ गई है। इसका फल यह हुआ है कि समाज केवल राजनैतिक दृष्टि से ही एक सामान्य उद्देश्य के लिए संगठित नहीं है वरन् वह समुदायों का मिश्रण भी हो गया है। बार्कर ने उचित ही कहा है कि "हम समाज को व्यक्तियों के समूह के रूप में कम देखते हैं जो सामान्य जीवन व्यतीत कर रहे हों, हम उसे ऐसे व्यक्तियों के समुदाय के रूप में अधिक देखते हैं जो पहले से भी कुछ समूहों में बँधे हुए हैं जिनमें से प्रत्येक का एक सामान्य जीवन है। वे समाज में एक और भी ऊँचे सामान्य उद्देश्य के लिए संगठित होते हैं।" ("We see society less as a number of individuals leading a common life. We see it more as an association of individuals already united in

३—राज्य : अर्थ एवं परिभाषा

Q. 9. Define State. What are the essential attributes of a State? Can we place any restriction over population or territory?

(Calcutta, 1936; Agra 1943, 1942; Punjab 1950, 1946, 1944.)

राज्य की परिभाषा कीजिए। राज्य के आवश्यक तत्त्व क्या हैं? क्या हम जनसंख्या अथवा प्रदेश पर कोई प्रतिबन्ध लगा सकते हैं?

Ans.

राज्य की परिभाषायें अनेक एवं विविध हैं। राज्य क्या है इस सम्बन्ध में कोई भी दो लेखक सहमत नहीं होते। पर उसके तत्त्वों के सम्बन्ध में सभी एकमत हैं। प्रत्येक राज्य में निम्न तत्त्व होने चाहिएँ :

१—जनसंख्या } भौतिक आधार
२—प्रदेश }

३—राजनैतिक संगठन अथवा सरकार } राजनैतिक एवं आध्यात्मिक आधार
४—प्रभुता }

अब हमें कुछ परिभाषायें लेकर यह देखना चाहिए कि उनमें उपर्युक्त तत्त्व आ जाते हैं अथवा नहीं। ब्लंशली (Bluntschli) कहता है "राज्य एक निर्दिष्ट प्रदेश की राजनैतिक दृष्टि से संगठित जनता है।" ("The State is the politically organized people of a definite territory") स्वर्गीय राष्ट्रपति विल्सन ने राज्य की परिभाषा "एक निश्चित प्रदेश में कानून के लिए संगठित जनता" की थी

("A people organized for law within a definite territory")। डा० गार्नर (Dr. Garner) की परिभाषा कुछ लम्बी पर बहुत अच्छी है। उनके अनुसार "राज्य न्यूनाधिक बहुसंख्यक व्यक्तियों का ऐसा समुदाय है जो स्थायी रूप से एक निश्चित प्रदेश में निवास करता हो और जो बाह्य नियन्त्रण से स्वतन्त्र या लगभग स्वतन्त्र हो और जिसमें एक संगठित शासन हो जिसके आदेशों का राज्य की जनता का एक बड़ा भाग स्वभावतः पालन करता हो।" ("The State...is a community of persons, more or less numerous, permanently occupying a definite portion of territory, independent of external control or nearly so and possessing an organized government to which the great body of inhabitants render habitual obedience.") आधुनिक काल के सुप्रसिद्ध लेखक प्रो० लास्की (Prof. Laski) लिखते हैं कि "राज्य एक प्रादेशिक समाज है जो कि सरकार और शासित-वर्ग में विभाजित है और जो अपने निर्दिष्ट भौतिक क्षेत्र के अन्तर्गत अन्य सभी संस्थाओं पर प्रधानता का दावा करता है।" ("State is a territorial society divided into government and subjects claiming, within its allotted physical area a supremacy over all other institutions.")

इसलिए एक राज्य में उसकी जनसंख्या, एक निश्चित प्रदेश, सुस्थापित सरकार अनिवार्य रूप से होनी चाहिए और उसे अपने प्रदेश के अन्तर्गत अन्य सभी संस्थाओं पर प्रधानता बरतनी चाहिए। उसे अपने आन्तरिक क्षेत्र में एवं बाह्यतः (कुछ रियायतों के साथ) भी सर्वोच्च होना चाहिए। इन लक्षणों के अनुसार काश्मीर, कपूरथला, बहावलपुर आदि के लिए राज्य शब्द प्रयुक्त करना मिथ्या नाम प्रयुक्त करना है। अब हम उन तत्त्वों का विश्लेषण करेंगे जो कि राज्य का निर्माण करते हैं।

व्यक्तियों के लिए है जिनका सम्बन्ध युवाओं के जीवन और भावों से है तथा सम्प्रदाय के आध्यात्मिक हित से है।" जिमर्न (Zimmern) और डा० गार्नर (Dr. Garner) के अनुसार जो बन्धन मनुष्यों को एक राष्ट्र बना देते हैं वे जातीय नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक हैं। वह मस्तिष्क की भावना है जो लोगों को एक राष्ट्र में बाँध देती है।

(२) राष्ट्र राष्ट्रीयता तथा राज्य का योग है:—

लेकिन कुछ अँग्रेजी लेखक जैसे ब्राइस (Bryce) व गिलक्राइस्ट यह सोचते हैं कि एक राष्ट्र के विकास में राजनैतिक एकता बहुत आवश्यक तत्त्व है। गिलक्राइस्ट के मतानुसार राष्ट्र का अर्थ राज्य के अत्यन्त निकट है। उसका अर्थ अपेक्षाकृत व्यापक है और "वह राज्य-धन कोई अन्य वस्तु है।" इन लेखकों के लिए राष्ट्र केवल ऐसे व्यक्तियों का समूह नहीं है जिनमें सांस्कृतिक एकता हो आध्यात्मिक बन्धुता हो वरन् मनुष्यों का ऐसा समूह है जिनमें इन बन्धनों की समानता के अतिरिक्त एक राजनैतिक एकता भी हो। इस अर्थ के अनुसार राष्ट्र प्रायः राज्य के समरूप हो जाता है। परन्तु राज्य और राष्ट्र दो भिन्न धारणायें हैं।

(३) एक राज्य के अन्तर्गत अनेक राष्ट्रीयतायें हो सकती हैं—

हमारी राज्य की परिभाषा के अनुसार वह राजनैतिक दृष्टि से संगठित एकता है। राज्य में विविध तत्व होते हैं और जब तक उसमें जन-संख्या, प्रदेश, सरकार और प्रभुता के तत्त्व विद्यमान हैं उसके राज्यत्व को इन्कार नहीं किया जा सकता। उसमें लोगों में एकता की भावना की कमी भले ही हो पर फिर भी वह राज्य बना रहेगा। उदाहरण के लिए १९१४-१८ के पूर्वकालीन आस्ट्रिया-हंगरी को रखा जा सकता है। वह एक राज्य था पर राष्ट्र नहीं। "राष्ट्र" पद मनोवैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक भावों के कारण उत्पन्न एकता की चेतना का निर्देश करता है। वास्तव में एक अकेले राज्य में बहुत से राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयतायें हो सकती हैं। इनमें से एक कभी दूसरे की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है और इसलिए उनमें प्रायः सीमाओं का अतिक्रमण रहता है। गत शताब्दि से राज्यत्व को राष्ट्रीयता में मिला देने

की प्रवृत्ति चल पड़ी है। उससे "एक राष्ट्र एक राज्य" वाली समस्या प्रसिद्धि पाती है।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता का अन्तर राजनैतिक संगठन की प्राप्ति पर निर्भर है। जब एक राष्ट्रीयता को राज्यत्व प्राप्त हो जाता है तो वह राष्ट्र बन जाती है। राष्ट्रीयता बनता हुआ राष्ट्र है। वह एक विकासवान राष्ट्र है। वह एक लोगों में व्याप्त एकता की किंचित् भावनाओं का परिणाम है जो कि कुछ सामान्य सम्बन्धों के कारण होती हैं। ब्राइस (Bryce) के अनुसार राष्ट्र और राष्ट्रीयता का अन्तर राजनैतिक संगठन का है। ऐसे लोग जिनमें जातीय, भाषा-सम्बन्धी, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं परम्परागत बन्धन होते हैं और जो अन्य लोगों से पृथकत्व का दावा करते हैं एक राष्ट्रीयता का निर्माण करते हुए कहे जाते हैं।

Q. 13. Define Nationality. What are the factors which create nationality? Explain the influence of nationality in the formation of a State,

राष्ट्रीयता की परिभाषा कीजिए। वे कौन से सहायक तत्त्व हैं जो राष्ट्रीयता उत्पन्न करते हैं। राज्य के निर्माण में राष्ट्रीयता के प्रभाव की व्याख्या कीजिए।

Ans.

"मेरी समझ में राष्ट्रीयता एक राजनैतिक प्रश्न बिल्कुल नहीं है। वह मूलतः और अनिवार्यतः एक आध्यात्मिक प्रश्न है।" (जिमेरिन)

राष्ट्रीयता की परिभाषा :

राष्ट्रीयता एक आत्मा-सम्बन्धी भावना है अथवा एकता की आध्यात्मिक भावना है जो ऐसे मनुष्यों में पाई जाती है अथवा विकसित है जो विचारों की समानता के कारण साथ रह रहे हों। यह विचारों की समानता अपने विकास के लिए अनेक तत्त्वों—जातीय, सांस्कृतिक, भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं कई अन्य पर निर्भर रहती है। इस प्रकार राष्ट्री-

यता, अनिवार्यतः एक मस्तिष्क की स्थिति होने के कारण, अथवा अनुभव करने, सोचने और रहने का ढंग होने के कारण, एक मनोवैज्ञानिक अचेतनता रह जाती है। लास्की (Laski) के शब्दों में वह "सम्बन्ध की वह विशेष भावना है जो उन लोगों को जिनमें यह पाई जाती है शेष लोगों से अलग कर देती है।"

इसके विकास के लिए उत्तरदायी तत्त्व :

राष्ट्रीयता के विकास के लिए उत्तरदायी तत्त्व विविध प्रकार के हैं : एक स्थान पर निवास, जातीय समानता, एक भाषा, एक-सी प्रथायें तथा संस्कृति, धार्मिक एकता, समान सामाजिक तथा राजनैतिक हित, समान बपौती व इतिहास, और राजनैतिक एकता की समान अभिलाषायें एवं आशायें। ये राष्ट्रीयता के आधार हैं यद्यपि इनमें से एक भी तत्त्व राष्ट्रीयता के विकास के लिए अनिवार्य अथवा अपरिहार्य नहीं है। इसी तरह यह भी आवश्यक नहीं है ये सब तत्त्व एक साथ मिलकर ही राष्ट्रीयता का निर्माण करेंगे; इसका अर्थ केवल इतना ही है कि न तो इनमें से कोई एक और न सब तत्त्व राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए अनिवार्य हैं। लेकिन फिर भी इनमें से एक अथवा कुछ तत्त्व राष्ट्रीयता के आधार के रूप में रहने ही चाहियें। इस प्रकार राष्ट्रीयता कुछ ऐसे तत्त्वों पर निर्भर रहती है "जिनमें से किसी दशा में कोई भी अथवा सभी विद्यमान हों लेकिन उनमें से कोई भी सब दशाओं में विद्यमान न हो।"

राज्य के निर्माण में राष्ट्रीयता का प्रभाव :

राष्ट्रीयता अपेक्षाकृत एक नया गोचर पदार्थ है। प्लेटो (Plato) और अरस्तू (Aristotle) के उत्तम प्राचीन दिनों में उसका कहीं अस्तित्व भी नहीं था। ग्रीक नगर-राज्य राष्ट्रीय-भावना को नहीं स्थान देते थे। मध्यकालीन शताब्दियों में भी राज्य चर्च तथा पोप के प्रभुत्व में हुआ करते थे या किसी शासक के निरंकुश शासन में। बाद में फ्यूडल (सामन्तशाही) राज्यों का उदय हुआ। उनमें भी राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता का अभाव था।

राष्ट्रीयता का उदय सोलहवीं सदी में एक राजनैतिक तत्त्व के रूप में

हुआ। मनुष्य अपने प्रदेश की सीमाओं से अधिक लगाव अनुभव करने लगे और उनमें एक पृथक्, शक्तिशाली, शान्तिमय और संयुक्त जन्मभूमि को प्राप्त करने की भावना धीरे-धीरे जोर तथा उपयोगिता पकड़ती गई। वास्तव में सच तो यह है कि राष्ट्रीय राज्य जागीरदारी के दिनों का उत्तरदान (legacy) है। मनुष्य युद्धों तथा फूट से परेशान हो गए थे। उन्होंने यह ठीक ही समझा था कि एक छिन्न-भिन्न योरप किसी अन्य प्रकार के शिथिल एवं लादे गये शासन के लिए उपयुक्त नहीं था। मनुष्यों को अपनी पसन्द के राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिए—लोगों में स्वयं भी एकता की भावना और उद्देश्य की समानता की भावना होनी चाहिये और उन्हें यह अनुभव करना चाहिये कि शासक केवल उन्हीं के हित के लिए प्रयत्न करता है किन्हीं अन्य मनुष्यों के लिए नहीं जो उनके प्रदेश के बाहर हैं। इसका निदान केवल राष्ट्रीय-राज्यों के उदय में ही पाया जा सका। इस प्रकार राष्ट्रीयता की भावना ने आधुनिक राज्यों के निर्माण में सहायता दी।

मैकियावैली (Machiavelli) प्रथम राजनैतिक दार्शनिक था जिसने अपने समय की भावना को ग्रहण किया। इटली छिन्न-भिन्न था। उसने उसकी एकरूपता का प्रयत्न किया और राष्ट्रीय एकता के महत्त्व पर जोर दिया। लेकिन फिर भी राष्ट्रवाद की भावना का उदय सर्वप्रथम इंग्लैंड में हुआ। बाद में फ्रान्स ने इंग्लैंड के चरण-चिह्नों का अनुसरण किया और एक राष्ट्रीय राज्य में बदलने लगा। १६वीं सदी में ही स्वेडन और डेन्मार्क में भी राष्ट्रीय भावनायें जाग्रत हुईं और फलस्वरूप वे राष्ट्रीय राज्यों के रूप में संगठित हो गए। १८वीं सदी में पोलेन्ड के विभाजन के पश्चात् राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को और भी अधिक फलने-फूलने का अवसर मिला। तत्पश्चात् फ्रान्स की क्रान्ति हुई और फिर नैपोलियन की विजएँ प्रारम्भ हुईं। फ्रान्स की क्रान्ति ने जनता की सर्वोच्चता का प्रतिपादन किया और नैपोलियन की विजयों ने स्पेन, इटली और जर्मनी तथा योरप के अन्य भागों के लोगों को अपनी रक्षा के लिए संगठित कर दिया। कान्ट (Kant), हीगिल (Hegel), गेटे (Goethe) आदि ने भी राष्ट्रीय एकता की

भावना का पाठ पढ़ाया। राष्ट्रवाद के विकास के इन शक्तिशाली प्रयत्नों के बावजूद भी वियना कांग्रेस ने (Vienna Congress of 1814-15), जिसने योरप का पुनर्संगठन किया, राष्ट्रीय राज्यों के सिद्धान्त को पूर्णतः ठुकरा दिया। परन्तु इस उपेक्षा का प्रभाव विपरीत दिशा में हुआ और आग सुलग उठी। ग्रीक लोगों ने तुर्कों के विरुद्ध लड़कर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। १८३१ में बेल्जियम के लोग भी डचों को हराकर, जिनके साथ उन्हें वियना कांग्रेस ने मिला दिया था, स्वतन्त्र हो गए। "एक राष्ट्र एक राज्य" समय की माँग थी। जर्मनी और इटली ने अपनी एकरूपता राष्ट्रीय आधार पर ही प्राप्त की। बल्कान राज्यों को भी तुर्की साम्राज्य से अलग करके राष्ट्रीय राज्यों में पुनः संगठित किया गया। प्रथम विश्व-युद्ध में राष्ट्रीय राज्यों के इस सिद्धान्त को, युद्ध और संघर्षों को दूर करने का सर्वोत्तम हल माना गया। १९१९ की वरसई की सन्धि (Versailles Treaty of 1919) ने इस सिद्धान्त को व्यवहार में परिणत किया और राष्ट्रीयता को राज्य का आधार बना दिया। पोलेन्ड, चेकोस्लोवाकिया, लटेविया, लिथुएनिया आदि को पृथक राष्ट्रीय राज्य बना दिया गया। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह थी कि मध्य-योरप के लिए, उसकी जनसंख्या की जटिलता तथा "शक्ति-राजनीति", (Power-politics) के कारण, ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि बाद में बहुत-सी कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुईं जिन्होंने द्वितीय विश्व-युद्ध को जन्म दिया।

४—राज्य की उत्पत्ति

Q. 14. Give briefly the historical background of the theory of Social Contract.

सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

Ans.

राज्य की उत्पत्ति के विषय में जो अनेक मत हैं उनमें ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त है। उसका एक लम्बा इतिहास है और वह उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं राजनैतिक दर्शन। मनुष्य के विचारों के इतिहास में वह बड़े-बड़े शब्दों में लिखा हुआ है और उसने राजनैतिक विकास में बहुत प्रभाव डाला है।

स्थूल रूप से सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त हमें यह बताता है कि राज्य की उत्पत्ति एक समझौते अथवा अनुबन्ध, निश्चित एवं ऐच्छिक, के परिणामस्वरूप हुई है जो कि समाज के सदस्यों के बीच हुआ था। जिस प्रकार दो व्यक्ति किसी विशेष काम के करने के लिए आपस में राजी हो जाते हैं उसी प्रकार समाज के सदस्य भी आपस में एक राजनैतिक संगठन स्थापित करने के लिए राजी हो गए। सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त के प्रति पाठकों के मतानुसार विश्व-इतिहास दो स्पष्ट कालों में विभाजित है। प्रथम काल में न तो कोई राज्य ही था, न सरकार और न कानून जिसे किसी प्रतिबन्धी शक्ति द्वारा लागू किया जा सकता। प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छानुसार अपना जीवन बिताता था। न तो कोई मानवीय शासक था और न मनुष्य द्वारा निर्मित कानून जो मनुष्यों के आपस के सम्बन्धों का विनियमन करता। वह अराजनीतिक अवस्था "प्राकृतिक" अवस्था थी। जो मनुष्य

इस प्राकृतिक अवस्था में रहते थे वे केवल उन्हीं नियमों के अधीन थे जो प्रकृति उनके लिए निर्धारित करती समझी जाती थी।

इस प्राकृतिक अथवा अराजनीतिक अवस्था में कैसी परिस्थितियाँ थीं इस सम्बन्ध में कोई भी दो लेखक सहमत नहीं हैं। कुछ ने तो उसका बहुत उज्ज्वल चित्र हमें दिया है; दूसरों ने उसे बहुत अन्धकारमय चित्रित किया है जिसमें शक्ति ही अधिकार थी। कुछ उसका एक समरूप लेते हैं और उसका वर्णन न तो बहुत बुरा ही करते हैं न बहुत अच्छा ही यद्यपि, उस अवस्था में कुछ असुविधाओं का पाया जाना अवश्य कहा जाता है। उस प्राकृतिक अवस्था की कैसी भी दशा रही हो इस बात पर सभी एकमत हैं कि प्राकृतिक समाज की उस आदिम अवस्था को अन्त में मनुष्य को विवश होकर त्यागना ही पड़ा। उसके स्थान पर एक सभ्य-समाज अथवा राजनैतिक संगठन की स्थापना की गई। इस प्रकार एकाकी जीवन व्यतीत करने के बजाय अन्य साथी मनुष्यों के साथ मिलकर जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया गया।

अब प्रत्येक मनुष्य का अपने साथी मनुष्यों से बहुत भिन्न प्रकार का सम्बन्ध था। अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता का त्याग करके उसने एक मिलकर बनाई गई शक्ति के कानूनों का पालन करने का निश्चय किया। इस सबके बदले में उसे अपनी सुरक्षा में सबके हित का लाभ मिला। इस नव-निर्मित समुदाय, अथवा जिसे हम राजनैतिक संघ या राज्य कह सकते हैं, के सब सदस्यों की सुरक्षा निश्चित करने के लिए कुछ कानून बनाए गये जिनका उद्देश्य दूसरों की ज्यादतियों के विरुद्ध बचाव था। प्राकृतिक कानून के स्थान पर मानवीय कानून लागू किया गया और उस कानून को तोड़ने से सजा मिलती थी। मनुष्य ने अपने ऊपर इन कानूनों के पालन करने का कर्तव्य ले लिया और इसके बदले में वह सामाजिक अधिकारों का भोग करता था। इस प्रकार, जैसा कि लीकॉक (Leacock) ने संकेत किया है, "यद्यपि प्रत्येक मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता खो देता है, जिसका कि वह पहले अराजकता की अवस्था में भोग करता था, उसे बदले में वह

सुरक्षा मिलती है जिसका वह स्वभावतः अधिकारी है और जो कि उसे अपने साथियों द्वारा बनाये गए समझौते-पत्र से नहीं मिली थी।"

("Thus while each loses the natural liberty that he enjoyed in the antecedent state of nature, he gains in return the security to which he is naturally entitled, and which is not guaranteed to him by the covenant of all his fellows.")

एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त करते हुए राजनैतिक संगठन के विकास का यह क्रम एक समझौते या सौदे का स्वरूप उपस्थित करता है जो कि मनुष्य के अपने हित में है। वह विशेषाधिकारों के स्थान पर कर्तव्यों का आदान-प्रदान है। इस समझौते की क्या शर्तें थीं, इसकी कौन-कौन सी पार्टियां थीं और जिस अधिकारी को इसे मनवाने का कार्य मिला था उसकी क्या शक्तियां थीं इस सम्बन्ध में अत्यन्त मतभेद है। लेकिन जो लोग भी सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में श्रद्धा रखते हैं वे सभी इस केन्द्र विचार पर एकमत हैं कि राज्य मानव द्वारा निर्मित है, एक समझौते का परिणाम है।

इस समझौते की व्याख्या के सम्बन्ध में फिर मतभेद है। कुछ विचारकों के अनुसार यह एक "सामाजिक समझौता" है, कुछ के लिए वह एक "शासकीय समझौता" है और दूसरों के लिए वह सामाजिक एवं शासकीय दोनों ही प्रकार का समझौता है। यदि उसका परिणाम एक राजनैतिक-समाज का निर्माण है तो वह एक सामाजिक समझौता है जो मनुष्यों में आपस में हुआ है। इस समझौते में पार्टियां समाज के मनुष्य ही थे और वह समझौता एक का प्रत्येक दूसरे के साथ तथा सबके साथ हुआ। यदि समझौते की पार्टियों में एक ओर समस्त समाज और दूसरी ओर शासक था तो वह एक शासकीय समझौता था। इनमें से प्रथम उस राजीनामे का प्रतिनिधित्व करता है जिसके द्वारा प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों

ने एक राजनैतिक समाज स्थापित किया। दूसरे समझौते का अर्थ यह है कि एक पूर्व स्थापित राजनैतिक समाज ने एक सरकार विशेष स्थापित की। एक राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करता है, दूसरा एक सरकार विशेष के सिद्धान्त का। लेकिन इनमें पहला समझौता शासकीय समझौते के पूर्व हुआ। कोई भी शासकीय समझौता उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि समाज राजनैतिक दृष्टि से संगठित न हो। संगठन सरकार का एक आवश्यक गुण है।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का प्रथम वर्णन हमें ग्रीक-दर्शन में मिलता है। प्लेटो और अरस्तू की रचनाओं में हमें इसका बहुत कम समर्थन मिलता है। उन दोनों के राजनैतिक विचारों को नगर-राज्य के आदर्श से प्रेरणा मिली थी जिसका महत्त्व उनके लिए व्यक्तिगत नागरिक से कहीं अधिक और उसके ऊपर था। समझौते की धारणा को रोम के कानूनज्ञाता भी स्वीकार करते थे। जागीरदारी (Feudalism) के अन्तर्गत भी समझौते के सिद्धान्त को कुछ समर्थन मिला था और ज़मींदार तथा उसकी प्रजा के बीच एक प्रकार के समझौते का आधार था। मध्य काल में तथा उसके बाद शासकीय समझौते का विचार बहुत प्रयुक्त हुआ जिसका उद्देश्य शासकों की निरंकुश शक्ति का प्रतिरोध करना था। ग्यारहवीं सदी में Mongols ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि यदि राजा उस समझौते की शर्तों को, जिसके द्वारा वह चुना गया था, तोड़ता है तो उसे गद्दी से हटाया जा सकता है।

१६ वीं और १७ वीं सदियों तक इसके समर्थकों की संख्या बहुत बढ़ गई और इस सिद्धान्त को लगभग सारे संसार में स्वीकार किया जाने लगा। आधुनिक लेखकों में हूकर (Hooker) प्रथम व्यक्ति है जिसने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का तर्क-संगत वर्णन किया। बाद में ग्रोशास (Grotius) ने उसकी विवेचना की। पर उसको वास्तविक समर्थन हॉब्स (Hobbes), लॉक (Locke) तथा रूसो (Rousseau) के हाथों में प्राप्त हुआ। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के विवेचन में हमारा

मुख्य सम्बन्ध इन्हीं लेखकों के राजनैतिक दर्शन से है जिन्हें सामूहिक रूप से "Contractualists" कहा जाता है।

Q. 15. Critically examine the views of Hobbes, Locke and Rousseau about the origin of state.

(Agra 1940; Punjab 1938, 1948; Madras 1935)

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हॉब्स, लाक तथा रूसो के विचारों की तुलनात्मक परीक्षा कीजिए।

Ans.

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त, जैसा कि हॉब्स (Hobbes), लाक (Locke) तथा रूसो (Rousseau) ने उसका प्रतिपादन किया है, का वास्तविक मूल्यांकन करने के लिए उन परिस्थितियों का निर्देश करना आवश्यक है जिन्होंने इस सिद्धान्त के विकास पर प्रभाव डाला है।

(अ) उनके विचारों पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियां—

१—हॉब्स : हॉब्स इंग्लैंड के राजा चार्ल्स द्वितीय (Charles II) का निजी शिक्षक था। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Leviathan" सन् १६५१ में प्रकाशित की थी। "Leviathan" के प्रकाशन का मूल उद्देश्य राजा की अनियन्त्रित शक्ति का समर्थन एवं रक्षा करना था। राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त की विवेचना करना उसका उद्देश्य नहीं था। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का प्रयोग हॉब्स ने निरंकुशता की रक्षा के लिए हथियार के रूप में किया। कुछ लेखकों ने कहा है कि हॉब्स स्टुअर्ट राजाओं से पेन्शन पाता था। यह अत्युक्ति है। लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह राजा की उस असीमित शक्ति का प्रतिपादक था जिसके विरुद्ध इंग्लैंड में उसके समय में प्रतिक्रिया हो रही थी। उसने अपने सिद्धान्त को कुछ पूर्व-निर्धारित धारणाओं (premises) पर खड़ा किया। उसने तार्किक रीति से, यद्यपि उसमें कहीं-कहीं परस्पर विरोधी बातें आ गई, राजा को प्रभुता (Sovereignty) के उन सब लक्षणों से युक्त

कर दिया जो इंग्लैंड में बाद की घटनाओं द्वारा झूठे करार दे दिए गए।

२—लॉक : यदि हॉब्स स्टुअर्ट राजाओं का पैन्शन पाने वाला था तो लाक, एक अन्य अँग्रेज जिसने अपनी दो "Treatise on Civil Government" १६६० में प्रकाशित कीं, नियन्त्रित राजतन्त्र का अभिनेता था। उसका सिद्धान्त १६८८ की महान् क्रान्ति (Glorious Revolution of 1688) का जीवित समर्थन था। एक विशेष उद्देश्य के आवेग से उत्तेजित होकर, जो उसके दिमाग में इतना प्रधान था, उसने भी सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का समर्थन किया। वह भी उसी धारणा को लेकर चला जो कि हॉब्स की थी अर्थात् राज्य की प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) की धारणा। लेकिन लाक की प्राकृतिक अवस्था की दशाएँ हॉब्स के राज्य से मूलतः भिन्न थीं।

३—रूसो : रूसो, हॉब्स तथा लाक के विपरीत, किसी उद्देश्य की पूर्ति अथवा किसी विशेष बात का समर्थन नहीं करता था यद्यपि उसकी शिक्षाओं से फ्रान्स की क्रान्ति (French Revolution) को बढ़ावा मिला। उसका एकमात्र उद्देश्य राजनैतिक समाज की प्रकृति का दार्शनिक विवेचन करना था। लेकिन रूसो को समझने के लिए यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वह केवलमात्र एक राजनैतिक दार्शनिक ही नहीं था वरन् एक निबन्ध-लेखक तथा कवि भी था। एक कवि सदा कल्पना-जगत में विचरण करता है और एक दार्शनिक कुछ पूर्व धारणाओं को लेकर चलता है और उसमें परस्पर विरोधी भाव रहते हैं और रूसो के दर्शन की यही कुंजी है।

(ब) हॉब्स का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त—

१—अराजनीतिक अवस्था : हॉब्स एक अराजनीतिक अवस्था से प्रारम्भ करता है। यह अराजनीतिक अवस्था अथवा राज्य की प्राकृतिक अवस्था मनुष्य के जीवन के उस पहलू का संकेत करती है जब समाज की स्थापना नहीं हुई थी। वह उस पूर्व-सामाजिक अवस्था में मनुष्य के विश्लेषण को लेकर चलता है। वह कहता है कि "मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी, झगड़ालू और आक्रमणशील था।" अपनी स्वार्थ-पूर्ति के प्रयत्न में वह

तर्क एवं बुद्धि से काम नहीं लेता था वरन् क्रोध एवं नीच अभिलाषा (लालसा) में बह जाता था। वह केवल अपने ही हित का विचार करता था और दूसरों के हितों की कोई परवा नहीं करता था। हितों के इस संघर्ष ने उस अराजनीतिक अवस्था को एक निरन्तर युद्ध बना दिया। वह सबका सबके विरुद्ध निरन्तर युद्ध था। वह शक्ति ही थी जो अधिकार का निर्णय करती थी और प्रत्येक मनुष्य उस वस्तु का अधिकारी था जिसे प्राप्त करने और बनाए रखने की उसमें क्षमता थी। उन चपलताओं को रोकने के लिए कोई नियन्त्रणकारी शक्ति नहीं थी। इस प्रकार की अराजनीतिक अवस्था हॉब्स के विचार से "निम्न, पतित, पाशविक, तथा अल्प-कालीन" थी।

२—सामाजिक समझौता : ऐसी परिस्थितियों में जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा नहीं थी। हॉब्स यह जानता था कि मनुष्य की एक सहज अन्तःप्रेरणा अपने जीने के अधिकार को सुरक्षित रखने की है। लेकिन उस अराजनीतिक अवस्था में उसकी कोई सम्भावना नहीं थी। अस्तु मनुष्यों ने आपस में यह समझौता किया कि इस अवस्था का अन्त कर दिया जाय। तदनुसार यह निश्चय किया गया कि उतने प्राकृतिक अधिकारों का त्याग कर दिया जाय जो शान्तिपूर्वक जीवन बिताने में विरोध उपस्थित करते हैं। सामाजिक समझौते के प्रथम चिह्न हमें यहीं मिलते हैं और यही हॉब्स के सिद्धान्त के विकास की प्रथम सीढ़ी है। अपने को संगठित करके तथा एक सामान्य शक्ति के प्रति अपने को अर्पण कर देने का समझौता करके उन्होंने एक शासक को चुना जिसको उन्होंने सुरक्षा के बदले में आज्ञापालन करने का वचन दिया। प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक अन्य मनुष्य से कहता है : "मैं अपने-आपका स्वयं शासन करने के अधिकार का त्याग करता हूँ और इस मनुष्य अथवा मनुष्यों की सभा को अपने ऊपर शासन करने का अधिकार देता हूँ, इस शर्त पर कि तुम भी अपने अधिकार उसे सौंप दो और मेरी तरह ही उसको अपना शासक मान लो।"

यह समझौते की चरम सीमा है और इस प्रकार राज्य का निर्माण

होता है। इस समझौते के निम्न परिणाम हैं :—

(१) सर्वोच्च अधिकारी ("Sovereign") उस समझौते में शामिल नहीं था क्योंकि उसका जन्म तो स्वयं उस समझौते के फलस्वरूप हुआ है।

(२) समझौते में शामिल न होने के कारण उसकी शक्ति असीमित थी।

(३) समझौता समस्त किया जाने योग्य था।

(४) मनुष्यों ने अराजनीतिक अवस्था के सभी अधिकारों का त्याग कर दिया, केवल अपनी रक्षा के अधिकार को छोड़कर।

(५) सर्वोच्च शासक सबकी इच्छा का प्रतिनिधित्व करता था और उसके कार्य उनके कार्य कहे जाते थे जिन्होंने उसे चुना है।

(६) उसकी प्रभुता ("Sovereignty") अपरिवर्तनीय एवं अविभाज्य थी।

(७) सर्वोच्च शासक जो भी आदेश देता वही कानून था।

(८) शासिता की स्वतन्त्रता (अ) जिसकी अनुमति सर्वोच्च अधिकारी दे तथा (ब) अपनी सुरक्षा के अधिकार में ही थी।

(स) लाक का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त—

१—अराजनीतिक अवस्था : लाक भी अराजनीतिक अवस्था से चला है। पर उसकी अराजनीतिक अवस्था उतना अन्धकारमय चित्र नहीं उपस्थित करती जैसा कि हॉब्स की। वह अवस्था 'अधिकार' (licence) की नहीं वरन् समानता एवं विवेक बुद्धि की थी। लाक की अराजनीतिक अवस्था में जो विवेक-बुद्धि का कानून (law of reason) प्रचलित था उसका यह आदेश था कि कोई भी मनुष्य अन्य मनुष्य के जीवन, स्वतन्त्रता और लालसाओं में हस्तक्षेप न करे। इन उत्तम दशाओं के बावजूद भी उस अवस्था में कुछ "असुविधाएँ" ("inconveniences") महसूस की जाती थीं। सबसे खास कठिनाई यह थी कि समाज के विभिन्न सदस्यों में झगड़ों का निर्णय कौन करे और कौन प्रकृति के कानून (law of nature) की व्याख्या करे जिसका निर्देश था कि "तुम दूसरों के प्रति वैसा ही काम करो जैसे कि तुम दूसरों से अपने प्रति करने की आशा करते हो।" परिणाम

यह था कि मनुष्यों के अधिकारों का भोग बहुत खतरे में था। इससे मनुष्यों के मस्तिष्क में यह विचार आया कि इस अराजनीतिक अथवा प्राकृतिक अवस्था को छोड़ दिया जाय और उसके स्थान पर एक राजनैतिक (civil) समाज की स्थापना की जाय। जब प्राकृतिक अवस्था के स्थान पर "राजनैतिक समाज" ("civil society") की स्थापना की गई तो वह प्रथम समझौते—अर्थात् "सामाजिक समझौते" की पूर्ति थी। दूसरा समझौता "शासकीय समझौता था। उसके बाद ही समाज ने अपनी संसृष्ट अवस्था में एक व्यक्ति-विशेष को सबके सामान्य हित के लिए कानून बनाने, उनके झगड़े तय करने और उन्हें मनवाने का अधिकारी बनाया।

लाक के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की मुख्य बातें निम्न हैं :

(१) लाक के मतानुसार अराजनीतिक अथवा प्राकृतिक अवस्था "पूर्व-राजनैतिक" थी न कि "पूर्व-सामाजिक।"

(२) प्राकृतिक अवस्था निरन्तर संघर्ष की नहीं थी वरन् समानता और विवेक बुद्धि की अवस्था थी।

(३) समझौते दो हुए हैं। हॉब्स के अनुसार केवल एक ही समझौता हुआ है। (अ) सामाजिक समझौता (Social Contract) तब हुआ जब मनुष्यों ने राजनैतिक समाज (Civil Society) बनाने का निश्चय किया था और (ब) शासकीय समझौता (Governmental Contract) उस समय हुआ था जबकि शासक चुना गया था। लेकिन दूसरा समझौता पहले की अपेक्षा कम महत्त्व रखता है।

(४) लाक के अनुसार शासक भी समझौते में शामिल था।

(५) उसके सामने अधिकारों का आत्मसमर्पण नहीं किया गया वरन् उसे कुछ अधिकार सौंप दिये गए थे।

(६) हॉब्स के अनुसार सर्वोच्च अधिकारी का शासन करने का अधिकार समाप्त नहीं किया जा सकता था। इसके विपरीत लाक ने यह मत निर्धारित किया कि यदि राजा समझौते की शर्तों का पालन करने में असफल रहता है तो उसे अपनी शक्ति से च्युत किया जा सकता है।

होता है। इस समझौते के निम्न परिणाम हैं :—

(१) सर्वोच्च अधिकारी ("Sovereign") उस समझौते में शामिल नहीं था क्योंकि उसका जन्म तो स्वयं उस समझौते के फलस्वरूप हुआ है।

(२) समझौते में शामिल न होने के कारण उसकी शक्ति असीमित थी।

(३) समझौता समस्त किया जाने योग्य था।

(४) मनुष्यों ने अराजनीतिक अवस्था के सभी अधिकारों का त्याग कर दिया, केवल अपनी रक्षा के अधिकार को छोड़कर।

(५) सर्वोच्च शासक सबकी इच्छा का प्रतिनिधित्व करता था और उसके कार्य उनके कार्य कहे जाते थे जिन्होंने उसे चुना है।

(६) उसकी प्रभुता ("Sovereignty") अपरिवर्तनीय एवं अविभाज्य थी।

(७) सर्वोच्च शासक जो भी आदेश देता वही कानून था।

(८) शासिता की स्वतन्त्रता (अ) जिसकी अनुमति सर्वोच्च अधिकारी दे तथा (ब) अपनी सुरक्षा के अधिकार में ही थी।

(स) लाक का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त—

१—अराजनीतिक अवस्था : लाक भी अराजनीतिक अवस्था से चला है। पर उसकी अराजनीतिक अवस्था उतना अन्धकारमय चित्र नहीं उपस्थित करती जैसा कि हॉब्स की। वह अवस्था 'अधिकार' (licence) की नहीं वरन् समानता एवं विवेक बुद्धि की थी। लाक की अराजनीतिक अवस्था में जो विवेक-बुद्धि का कानून (law of reason) प्रचलित था उसका यह आदेश था कि कोई भी मनुष्य अन्य मनुष्य के जीवन, स्वतन्त्रता और लालसाओं में हस्तक्षेप न करे। इन उत्तम दशाओं के बावजूद भी उस अवस्था में कुछ "असुविधाएँ" ("inconveniences") महसूस की जाती थीं। सबसे आगे कठिनाई यह थी कि समाज के विभिन्न सदस्यों में झगड़ों का निर्णय कौन करे और कौन प्रकृति के कानून (law of nature) की व्याख्या करे जिसका निर्देश था कि "तुम दूसरों के प्रति वैसा ही काम करो जैसे कि तुम दूसरों से अपने प्रति करने की आशा करते हो।" परिणाम

राजनैतिक समाज में मनुष्य को अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता का त्याग करना पड़ा। इसी स्थल पर रूसो ने यह ऐतिहासिक कथन लिखा है कि "मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है लेकिन फिर भी वह सब जगह जंजीरों से जकड़ा हुआ है।" ("Man is born free but he is everywhere in chains.") "प्राकृतिक स्वतन्त्रता" (natural freedom) का स्थान सामाजिक समझौते द्वारा "राजनैतिक स्वतन्त्रता" (civil freedom) ने ले लिया।

यह समझौता सामाजिक—प्रत्येक का सबके साथ है। यह ठीक वैसा ही है जैसा कि हॉब्स का था। पर रूसो का समझौता साथ ही मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों को, जिनका कि वह प्राकृतिक अवस्था में भोग करता था, समाज में केन्द्रित कर देता है क्योंकि वह केवल समाज ही है जो सबके हितों का चिन्तन तथा उनकी रक्षा कर सकता है। समाज सर्वोच्च है क्योंकि वह उनके द्वारा निर्मित किया गया है जो स्वयं सर्वोच्च सत्ता प्राप्त हैं। समझौता मनुष्यों द्वारा इस तरह से किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य अपने शरीर तथा अपनी सारी शक्ति को "सामान्य इच्छा" (General Will) के अधिकार में दे देता है और सम्पूर्ण समाज का अविभाज्य भाग बना रहता है। इसका अर्थ यह है कि (अ) व्यक्ति अपने सम्पूर्ण समाज अधिकार को समर्पित कर देता है लेकिन किसी विशेष व्यक्ति को नहीं, (ब) यह समर्पण हॉब्स के समर्पण की तरह पूर्ण है और लॉक से भिन्न प्रकार का है और (स) व्यक्ति को अपना शरीर तथा अपने अधिकार उस प्रभुत्व-प्राप्त सामूहिक संस्था (sovereign community) का अविभाज्य अंग होने के नाते वापिस मिल जाते हैं। इस अन्तिम पहलू में व्यक्ति सर्वोच्च बना रहता है, किसी अन्य की नहीं वरन् अपनी ही आज्ञा मानता है, और उतना ही स्वतन्त्र बना रहता है जितना कि पहले था क्योंकि :

(१) प्रभुत्व प्राप्त सामूहिक संस्था का निर्माण प्रभुत्व-प्राप्त व्यक्ति ने किया है। यदि उसकी प्रभुता वैसी ही नहीं बनी रहती तो वह सामूहिक संस्था के प्रभुत्व को नष्ट करती है अथवा क्षति पहुँचाती है।

(७) जो कानून सर्वोच्च अधिकारी बनाये वे विवेक-बुद्धि के कानून (Law of reasons) के अनुकूल होने चाहिएँ। कानून वह नहीं था जो कुछ अधिकारी कह दे।

(८) लाक के अनुसार प्रभुत्व समाज का था न कि शासक का।

(९) लाक ने जनता की स्वीकृति तथा अनुमति को सरकार की शक्ति का स्रोत बताया।

(द)—रूसो का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त :

१—अराजनीतिक अवस्था : रूसो भी हॉब्स तथा लाक की धारणा लेकर ही चलता है। रूसो के अनुसार अराजनीतिक अवस्था में जो मनुष्य रहते थे वे आदिकाल की सादगी का जीवन व्यतीत करते थे जो कि अत्यन्त सुखमय था। मनुष्य के जीवन का वह सबसे सुखी काल था क्योंकि उनका जीवन "अच्छे वन्यजनों" ("noble savages") का था जो कि सामाजिक कानूनों की जंजीरों से मुक्त था। वे अच्छा-बुरा नहीं जानते थे और सद्गुण तथा दुर्गुण की धारणाओं से परे थे। वह पूर्ण स्वतन्त्रता तथा समानता का सत्यतापूर्ण जीवन था। लेकिन वह बहुत समय तक नहीं चल सका। जन-संख्या में वृद्धि के साथ और मनुष्य में विवेक-बुद्धि के उदय के साथ संघर्ष के तत्त्व उत्पन्न हो गए। मनुष्य अपने और पराए की दृष्टि से सोचने लगा। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के हितों की उपेक्षा कर केवल अपने ही हितों की सोचने लगा इसलिए झगड़े और संघर्ष आरम्भ हो गए।

२—सामाजिक समझौताः—वह बड़ी असन्तोष जनक स्थिति थी और सभी मनुष्यों को उस प्राकृतिक अवस्था में अपने को सुरक्षित रखना बहुत कठिन प्रतीत होने लगा। उनकी तत्कालीन समस्या "समुदाय के एक ऐसे स्वरूप को ढूँढ निकालना था जो प्रत्येक मनुष्य के जीवन और धन की सम्पूर्ण सामान्य शक्ति से रक्षा कर सके और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने को सबके साथ मिला देने पर भी पहले की ही तरह स्वतन्त्र बना रह सके।" इसका हल एक समझौते एवं राजनैतिक समाज के निर्माण में मिला। इस

सम्पूर्ण जनता की सभा में ही बनाया जा सकता है। वह एक अधिशासी कार्य नहीं है। इसके विपरीत हॉब्स ने कहा था कि प्रभुत्व-प्राप्त शासक जो आज्ञा दे अथवा कहे वही कानून है।

(ख) इस सिद्धान्त का मूल्यांकनः—

१—हॉब्स का सिद्धान्तः—हॉब्स के सिद्धान्त को अन्धकारपूर्ण कहा गया है जिसमें मनुष्य प्रकृति का चित्रण बहुत अनुदारता से किया गया है। मनुष्य में एक सामाजिक तथा सहानुभूतिपूर्ण पक्ष भी होता है चाहे वह कैसा भी सन्देहात्मक क्यों न हो। लेकिन, जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है हॉब्स का अपने सिद्धान्त के रखने के पीछे एक निश्चित उद्देश्य था। उसकी बड़ाई की बात यह है कि आस्टिन (Austin) की कानूनी प्रभुता का सिद्धान्त हॉब्स के ही सिद्धान्त का विकास है।

२—लॉक का सिद्धान्तः—लॉक ने कानूनी प्रभुत्व के महत्व को नहीं समझा। उसने प्रभुत्व को जनता और सरकार में विभक्त कर दिया। उसने राज्य और सरकार का अन्तर भली प्रकार स्पष्ट किया है जिसे करने में हॉब्स असफल रहा। लाक के मत में सरकार को हटा देना राज्य का भंग हो जाना नहीं है। इसके विपरीत हॉब्स ने यह कहा था कि एक सफल क्रान्ति राज्य को छिन्न-भिन्न कर देगी जिसका अर्थ प्राकृतिक अवस्था की अराजकता को लौट जाना होगा। लाक भावी प्रजातान्त्रिक सरकार के स्वरूप की नींव डालता है। उसका सारा पूर्वपक्ष (thesis) अनुभूति द्वारा शासन है।

१—रूसो का सिद्धान्त : रूसो एक स्वतन्त्र मनुष्य की धारणा लेकर चलता है और उसकी अधिकाधिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए उसने सामूहिक संस्था को प्रभुत्व-शक्ति सम्पन्न बनाया जिसकी शक्तियां उसी प्रकार अनियन्त्रित थीं जैसी कि हॉब्स के राजा की। "सामान्य इच्छा" (General Will) तो किसी व्यक्ति को अपनी बात मानने को विवश भी कर सकती थी क्योंकि "सामान्य इच्छा" गलत नहीं होगी और "सामान्य इच्छा" को लादने का अर्थ स्वयं व्यक्ति की इच्छा का ही लादना था

(२) सामूहिक संस्था की आज्ञा पालन करने में व्यक्ति अपनी ही आज्ञा पालन करता है क्योंकि वह उसकी ही रचना है।

(३) प्रत्येक व्यक्ति का दोहरा व्यक्तित्व है। वह एक सामूहिक संस्था का सदस्य है, जो कि एक प्रभुत्व प्राप्त समुदाय है, और एक अधिकृत प्रजा भी है और इसलिए उसकी स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति अपने को सबों को समर्पित कर देता है वह अपने को किसी को समर्पित नहीं करता और चूँकि प्रत्येक सदस्य पर समाज का उतना ही अधिकार है जितना उसने स्वयं दिया है इसलिए इस हानि के बदले में उसको अपने शेष अधिकारों की सुरक्षा के आश्वासन के रूप में लाभ अधिक हो जाता है।

(क) रूसो तथा हॉब्स में अन्तरः—

रूसो का निम्न मुख्य बातों में हॉब्स से मतभेद हैः—

(१) व्यक्ति अपना समर्पण सामूहिक संस्था के प्रति करता है न कि किसी शासक के प्रति।

(२) प्रभुता समाज को मिलती है न कि शासक को (जैसा कि हॉब्स का मत था)।

(३) सरकार अथवा राजा एक अधीनस्थ शक्ति है जो कि एक प्रतिनिधि के नाते सत्ता का भोग करती है न कि प्रधान की हैसियत से। सरकार की शक्ति का स्वरुप प्रदत्त है जब कि सामूहिक संस्था की शक्ति का मौलिक। लेकिन हॉब्स के अनुसार राजा की शक्ति अनियन्त्रित, अपरिवर्तनीय एवं अविभाज्य है।

(४) सरकार (Government) और सामूहिक संस्था (Community) दो भिन्न वस्तुएँ हैं। रूसो के मतानुसार सरकार के हाथ में अधिशासी (Executive) कार्य है। इस कर्तव्य को पूर्ण करने में सरकार की असफलता अथवा उसके द्वारा शक्ति का दुरुपयोग प्रभुत्व-प्राप्त जनता को इस बात का अधिकारी बना देता है कि वह उसे हटा दे।

(५) कानून "सामान्य इच्छा" की अभिव्यक्ति है और वह केवल

की दृष्टि से सोचने लगा। झगड़ों और संघर्षों का प्रारम्भ हो गया क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के हितों की परवा न करते हुए केवल अपने ही हितों की सोचने लगा।

वह बहुत अशान्तिमय अवस्था थी और सब मनुष्यों को उस भंयकर प्राकृतिक अवस्था में अपने को सुरक्षित बनाए रहना अत्यन्त कठिन जान पड़ने लगा। उनकी तत्कालीन समस्या संघ के एक ऐसे स्वरूप को ढूँढना था जो प्रत्येक सदस्य के जीवन तथा धन की सम्पूर्ण शक्ति से रक्षा करे और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने को सब में मिलाता हुआ भी उतना ही स्वतन्त्र बना रहे जैसा कि पहले था। इसका हल एक समझौते तथा राजनैतिक समाज के निर्माण में मिला। इस राजनैतिक समाज में मनुष्य को अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता का त्याग करना पड़ा और इसी स्थल पर रूसो ने अपना वह ऐतिहासिक कथन लिखा है कि "मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है फिर भी सब जगह बन्धनों से जकड़ा हुआ है।" एक सामाजिक समझौते द्वारा प्राकृतिक स्वतन्त्रता का स्थान राजनैतिक स्वतन्त्रता ने ले लिया।

यह सामाजिक समझौता प्रत्येक का सबके साथ है। ठीक ऐसा ही समझौता हॉब्स का था। लेकिन रूसो का समझौता साथ-ही-साथ सामूहिक संस्था को वे सब प्राकृतिक अधिकार सौंप देता है जो प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को प्राप्त थे क्योंकि रूसो के अनुसार वह सामूहिक संस्था ही है जो सब के हितों का विचार तथा रक्षा कर सकती है। यह सामूहिक संस्था प्रभुत्व-प्राप्त है क्योंकि वह उनके द्वारा निर्मित की गई है जो स्वयं प्रभुत्व प्राप्त हैं। यह समझौता व्यक्तियों द्वारा इस तरह से किया गया कि प्रत्येक व्यक्ति अपना शरीर तथा शक्ति सर्वोच्च "सामान्य इच्छा" के निर्देशन में दे देता है और उस पूर्ण संस्था का अविभाज्य सदस्य होने के नाते उसे पुनः प्राप्त कर लेता है। इसका अर्थ यह है कि :

(१) व्यक्ति अपने को सम्पूर्ण सामूहिक संस्था के प्रति समर्पित कर देता है न कि किसी व्यक्ति विशेष के प्रति।

(२) यह समर्पण हॉब्स की तरह, तथा लॉक के विपरीत पूर्ण है।

क्योंकि वही सामान्य इच्छा का निर्माता था। यही दार्शनिक रूसो की समस्त रचना में असंगति है जिसने हीगिल (Hegel) के आदर्शवादी सिद्धान्त का आधार जुटाया।

Q. 16. "Rousseau began in the methods of Locke and ended in those of Hobbes".

Explain.

"रूसो अपने सिद्धान्त में लाक की विधियों को लेकर चला परन्तु उसका अन्त हॉब्स की विधियों में हुआ।" इस कथन को समझाइए।

Ans.

(अ) रूसो को, हॉब्स तथा लाक के विपरीत किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति नहीं करनी थी और उसे किसी मत का समर्थन ही करना था यद्यपि उसकी शिक्षाओं से फ्रांस की क्रान्ति को प्रोत्साहन मिला। उसका केवल मात्र उद्देश्य राजनैतिक समाज की प्रकृति की एक दार्शनिक व्याख्या करना था। लेकिन रूसो को समझने के लिए यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वह केवल एक राजनैतिक दार्शनिक ही नहीं था वरन् एक निबन्ध लेखक तथा कवि भी था। एक कवि सदा कल्पनाशील होता है और एक दार्शनिक कुछ निश्चित धारणा लेकर चलता है और प्रायः असंगत होता है और यही रूसो के दर्शन की कुंजी है।

रूसो हॉब्स तथा लाक की तरह प्राकृतिक अवस्था की पूर्व धारणा को लेकर चला। रूसो की प्राकृतिक अवस्था में जो मनुष्य रहते थे वे आदर्श, सुख एवं आदिम सादगी का जीवन व्यतीत करते थे। वह मनुष्य के जीवन का सबसे अधिक सुखमय काल था क्योंकि उनका जीवन अच्छे वन्य-पशुओं जैसा था जो कि सामाजिक कानूनों के बन्धनों से उन्मुक्त था। वे अच्छा-बुरा कुछ नहीं जानते थे और सद्गुण तथा दुर्गुण की धारणाओं से दूर थे। वह पूर्ण स्वतन्त्रता तथा समानता का सत्यपूर्ण जीवन था। लेकिन वह बहुत समय तक नहीं चला। जनसंख्या में वृद्धि के तथा मनुष्य में विवेक-बुद्धि के उदय के साथ विरोधी तत्त्व उत्पन्न हो गए। मनुष्य अपने और पराये

राजा की शक्ति हॉब्स के अनुसार, सर्वथा पूर्ण, अपरिवर्तनीय एवं अविभाज्य है।

(४) सरकार और सामूहिक संस्था दो भिन्न वस्तुएँ हैं। रूसो के अनुसार सरकार को अधिशासी कर्तव्य प्राप्त हैं। यदि सरकार अपना कर्तव्य करने में असफल रहती है या अपनी शक्ति का दुरुपयोग करती है तो प्रभुत्व-प्राप्त जनता को उसे हटा देने का अधिकार है।

(५) कानून "सामान्य इच्छा" की अभिव्यक्ति है और वह केवल सम्पूर्ण जनता की सभा में ही बनाया जा सकता है। वह एक अधिशासी (executive) कार्य नहीं है। इसके विपरीत हॉब्स कहता है कि जो कुछ भी प्रभुत्व-प्राप्त शासक कहे वही कानून है।

(स) रूसो और हॉब्स में साम्य :

(१) दोनों इस बात पर सहमत हैं कि राज्य उन लोगों द्वारा किए गए समझौते का फल है जो प्राकृतिक अवस्था में रहते थे।

(२) दोनों के विचार से केवल एक ही समझौता हुआ है और इसमें सरकार सम्मिलित नहीं है।

(३) व्यक्तियों ने उन सभी अधिकारों का त्याग कर दिया जो उन्हें प्राकृतिक कानून से मिले थे।

(४) दोनों ही हालतों में प्रभुत्व-प्राप्त शासक को पूर्ण, अपरिवर्तनीय, अविभाज्य एवं सर्वदेशीय शक्तियां प्राप्त हैं।

(५) लेकिन जब रूसो सरकार को समझौते का एक दल नहीं बनाता (लाक के अनुसार सरकार समझौते का एक दल थी) तो वह राज्य को सर्वशक्तिमान बना देता है जो कि निरंकुश शक्तियों का प्रयोग करता है। यह एक उत्तम विधि द्वारा किया गया है। रूसो के अनुसार सामूहिक संस्था ही सब व्यक्तियों के हितों की संरक्षक है और वही प्रभुत्व-प्राप्त है। लेकिन कुछ व्यक्तियों के हित सामूहिक संस्था के हितों से टकरा सकते हैं। ऐसी टक्कर की हालत में सामूहिक संस्था उन व्यक्तियों को "सामान्य इच्छा" मानने को बाध्य कर सकती है। कोई भी व्यक्ति उसकी अवज्ञा नहीं कर सकता

(३) व्यक्ति को अपना शरीर तथा अपने अधिकार प्रभुता प्राप्त सामूहिक संस्था का अविभाज्य अंग होने के नाते वापिस मिल जाते हैं। इस अन्तिम पहलू में व्यक्ति प्रभुत्व-प्राप्त बना रहता है, किसी अन्य की नहीं वरन् अपनी ही आज्ञापालन करता है और पहले के समान ही स्वतन्त्र बना रहता है क्योंकि :

(क) प्रभुत्व-प्राप्त व्यक्ति ने ही प्रभुत्व-प्राप्त सामूहिक संस्था का निर्माण किया है। यदि उसकी प्रभुता सुरक्षित नहीं रहती तो सामूहिक संस्था की प्रभुता को क्षति पहुंचती है।

(ख) सामूहिक संस्था की आज्ञा पालन करने से व्यक्ति स्वयं अपनी ही आज्ञा पालन करता है क्योंकि वह उसी की रचना है।

(ग) प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व दोहरा है। वह एक सामूहिक संस्था—एक प्रभुत्व-प्राप्त संस्था—का सदस्य है और एक अधिकृत प्रजाजन भी, और इसलिए उसकी स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। "चूँकि प्रत्येक व्यक्ति अपने को सब व्यक्तियों के प्रति समर्पित कर देता है वह अपने को किसी के प्रति भी समर्पित नहीं करता, और चूँकि उसके ऊपर सामूहिक संस्था का उतना अधिकार स्थापित हो जाता है जितना वह स्वयं देता है उस हानि के बदले में उसे शेष की रक्षा के आश्वासन के रूप में लाभ अधिक हो जाता है।"

(घ) हॉब्स और रूसो में अन्तर :

रूसो का निम्न बातों में हॉब्स से भेद है:—

(१) व्यक्ति अपने को सामूहिक संस्था के नियन्त्रण के प्रति समर्पित करता है न कि शासक के।

कि उन्हें उसकी आवश्यकता थी। वे ही इस वृथा बकवाद से ("I bid adieu to the original contract, it to those to amuse themselves with le, who could think they needed it.") (Sir Henry Maine) का कहना था कि समाज की उत्पत्ति के इस वर्णन से "बढ़कर व्यर्थ" वस्तु और क्या हो

—इस समझौते की आलोचना :

समझौते के सिद्धान्त की आलोचना में मुख्य बातें निम्नलिखित

—उसकी अनैतिहासिक प्रकृति : यह ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य राज्य का निर्माण कभी भी मनुष्यों द्वारा आपस में समझौता करके गया। ऐतिहासिक दृष्टि से, ग्रीन (T. H. Green) ने कहा है, सिद्धान्त एक गल्प है। इस सिद्धान्त के समर्थक अमेरिका के "May-wer Compact" को, जो कि वहाँ के प्रथम बसने वालों ने किया राजनैतिक समाज के समझौते द्वारा निर्माण के पक्ष में उदाहरण-स्वरूप करते हैं। लेकिन जिन लोगों ने "Mayflower Compact" ा वे ऐसे नहीं थे जो पहले राजनैतिक संगठन से सर्वथा अनभिज्ञ रहे प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों द्वारा एक नये समधिराज्य onwealth) की नींव नहीं है वरन् केवल मात्र "ऐसे मनुष्यों से राजनैतिक शक्ति के अधीन थे, राजनैतिक संस्थाओं का माना है।"

अवास्तविक धारणाएँ : यह सिद्धान्त निम्नलिखित दो ओं पर आधारित है :

ने कहा है कि समाज 'States' से 'Contract' है। समझौता समाज का प्रारम्भ नहीं वरन् अन्त है। पहले से ही मनुष्यों की समझौता करते हुए कल्पना

क्योंकि यदि वे ऐसा करते हैं तो अपनी ही आज्ञा नहीं मानते और इसी तरह "सामान्य इच्छा" कभी गलत नहीं हो सकती और न अन्यायपूर्ण। चूँकि "सामान्य इच्छा" प्रभुत्व प्राप्त है, इसलिए वह सर्वथा पूर्ण है और इस बात में रूसो भी हॉब्स के समान निरंकुश शासन का समर्थक है।

रूसो का एक स्वतन्त्र मनुष्य की धारणा लेकर चलता है और उसकी अधिकाधिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए उसने सामूहिक संस्था को सर्वशक्तिसम्पन्न बनाया जो कि हॉब्स के राजा के समान ही निरंकुश है। "सामान्य इच्छा" तो एक व्यक्ति को अपनी बात मान लेने को विवश भी कर सकती है क्योंकि वह गलत नहीं हो सकती और उसका लादना स्वयं व्यक्ति की इच्छा का ही लादना है क्योंकि वह "सामान्य इच्छा" का निर्माता था। यह दार्शनिक रूसो का पारस्परिक विरोधी पक्ष है जिसने कि हीगिल के आदर्शवाद सिद्धान्त का आधार प्रस्तुत किया।

Q. 17. "The Contract Theory gives neither a satisfactory clue to history nor a sound political philosophy." Explain and discuss.

(Agra, 1939; Punjab, 1950, 1946)

"समझौते का सिद्धान्त न तो सन्तोषजनक ऐतिहासिक प्रमाण ही प्रस्तुत करता है और न सही राजनैतिक दर्शन।" इस कथन की व्याख्या एवं विवेचना कीजिए।

Ans.

वर्क (Burke) ने कहा है कि "राज्य को मिर्च और कहवे, दरेस या तम्बाखू अथवा किसी ऐसी ही निम्न वस्तु के व्यापार के समान कोई सांझेदारी नहीं समझना चाहिए जिसे हम अल्पकालीन हित के लिए स्वीकार कर लें और जो दलों की इच्छानुसार भंग किया जा सके······राज्य को आदर की दृष्टि से देखना चाहिए······वह समस्त विज्ञान में सहयोग है, समस्त कला में सहभोग है, समस्त पूर्णता और प्रत्येक गुण में सहभोग है। चूँकि ऐसे सहभोग का अन्त कई पीढ़ियों में भी नहीं प्राप्त किया जा सकता, वह केवल उन्हीं के बीच सहभोग नहीं रह जाता जो कि जीवित है वरन् उनके बीच भी जो कि मर चुके हैं और जिन्हें आगे पैदा होना है।" ("The State ought not to be considered as nothing better than a partnership in a trade of pepper and coffee, calico or tobacco or some other much low concern, to be taken up for a little temporary interest and to be dissolved by the fancy of parties··········It is to be looked on with reverence...........It is a partnership in all science; a partnership in all art, a partnership in every virtue and in all prefection. As the ends of such a partnership cannot be obtained in many generations, it becomes a partnership in not only between those who are living, but between those who are dead and those who are to be born.")

(६) समझौता—एक अल्पकालीन उपकरण : समझौता करने वाले दलों की मृत्यु पर समझौता समाप्त हो जाता है। चूँकि समझौता प्रारम्भिक दलों पर कानूनी बन्धन था वह उनके उत्तराधिकारियों पर लागू नहीं किया जा सकता था।

कर लेता है।

(घ) समझौते के सिद्धान्त के एक से अधिक समर्थकों की यह धारणा है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य समान हैं। यह ठीक नहीं है। प्रकृति का नियम असमानता है : समानता नहीं।

३—वह एकपक्षीय है : मानव प्रकृति, जैसी कि प्राकृतिक अवस्था में उसकी कल्पना की गई है, अवास्तविक है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और राजनैतिक प्राणी भी। वह न तो उतना बुरा ही है जितना कि हॉब्स उसे सोचता है और न ही इतना अच्छा जैसा कि रूसो उसकी पूर्वकल्पना कर लेता है।

४—उसकी तर्क-विरुद्ध प्रकृति : प्राकृतिक अवस्था में प्रचलित प्राकृतिक अधिकारों तथा प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा स्वयं ही भ्रान्तिपूर्ण है। अधिकारों का उदय केवल समाज में ही होता है और प्रत्येक अधिकार के साथ एक अनुरूप कर्तव्य लगा रहता है। यदि समाज ही नहीं है तो हम अधिकारों की सोच ही नहीं सकते। यही नहीं, प्रतिबन्धों के बिना स्वतन्त्रता दुराचार (licence) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और स्वयं दुराचार शुद्ध और सादी अराजकता (anarchy) है। सही अर्थ में स्वतन्त्रता का सरकार की स्थापना के पूर्व अस्तित्व ही सम्भव न था।

५—उसकी प्रमाणहीनता : निम्न दो प्रकार से यह सिद्धान्त प्रमाणित करता है :

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की धारणा को लोकप्रिय बनाया। अपनी अव्यावहारिक प्रकृति के बावजूद भी जनमत निर्णय (Referendum) रूसो की जनता के अपरिवर्तनीय प्रभुत्व की धारणा का संपरिवर्तित स्वरूप है। राज्य तथा सरकार के अन्तर का आधुनिक विचार लॉक के दर्शन का फल है।

इस सिद्धान्त ने व्यक्ति को राज्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। मताधिकार की समानता की आधुनिक आवाज़ रूसो के समान राजनैतिक अधिकारों के आदर्श की विरासत कही जा सकती है।

Q. 18. Explain and criticize Rousseau's doctrine of the "General Will." How does it differ from (a) public opinion and (b) the will of all ? (Agra, 1949, 45, 42, 40)

रूसो की "सामान्य इच्छा" के सिद्धान्त की व्याख्या तथा आलोचना कीजिए। वह (अ) लोकमत तथा सर्वसम्मति से किस प्रकार भिन्न है ?

"सामान्य इच्छा" ("General Will") की धारणा रूसो (Rousseau) के राजनैतिक दर्शन का एक आधारभूत तत्त्व है। हम रूसो के विचारों के अध्ययन में उस समय तक आगे नहीं बढ़ सकते जब तक कि प्रारम्भ में ही "सामान्य इच्छा" का अर्थ तथा अन्तर्भावना को न समझ लें।

"वास्तविक इच्छा" और "सत्य इच्छा" —

परन्तु "सामान्य इच्छा" का क्या अर्थ है इसे समझने के लिए हमें पहले "वास्तविक इच्छा" (Actual Will) और "सत्य इच्छा" में भेद करना होगा। वास्तव में "वास्तविक" और "सत्य" शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं परन्तु गलती से प्रायः सभी लोग उनका प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के समान करते हैं। "वास्तविक इच्छा" मनुष्य की प्रवर्त्तक (Impulsive) और अप्रतिबिम्बित (Unreflective) इच्छा की ओर संकेत करती है। यह इच्छा केवल अपने ही हित की सोचती है समस्त सामूहिक

(५) विकास के विरुद्ध प्रवृत्ति—यह राज्य को मनुष्य के हाथ द्वारा बनाई हुई वस्तु बना देता है—एक कृत्रिम आविष्कार—न कि विकास का फल। यह मनुष्य के विकास के साथ ही विकसित हुआ है। मनुष्य के विकास ने राजनैतिक संस्थाओं की प्रगति को बढ़ावा दिया, और राजनैतिक संस्थाओं के विकास ने मनुष्य को और विकसित होने के लिए उभाड़ा। इस प्रकार मनुष्य और राज्य की अपने विकास में एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया हुई।

(ब) इस सिद्धान्त के गुण :

यह सिद्धान्त कि राज्य की उत्पत्ति समझौते से हुई है इतिहास में झूठा बताकर ठुकरा दिया गया है, तार्किक दृष्टि से भी झूठ और नैतिक दृष्टि से भी। लेकिन शासक और शासितों के पारस्परिक अधिकारों और कर्तव्यों के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति के विचार की दृष्टि से यह सिद्धान्त बहुत उपयोगी है।

इस सिद्धान्त का राजनैतिक विचारों के इतिहास में एक निश्चित स्थान है जिसके निम्न कारण हैं :—

(१) इच्छा राज्य का आधार:—यह सिद्धान्त इस बात की पुष्टि करता है कि राज्य का आधार अनुमति है शक्ति नहीं। जैसा कि एक विचारक ने कहा है "स्वतन्त्रता के अभिव्यक्ता उसे श्रेष्ठ समझते हैं क्योंकि उसने निरंकुश शक्ति के दावों पर नियन्त्रण लगाने की विधियां सुझाईं।"

शासन की कुंजी है।

"सामान्य इच्छा" के विशिष्ट गुण:—

सामान्य इच्छा के तीन विशिष्ट गुण हैं : एकता, स्थायित्व और यथार्थता (Rightness)। सर्वप्रथम "सामान्य इच्छा" के अन्दर एकता का विशिष्ट गुण है, अर्थात्, वह आत्म-विरोधी नहीं है क्योंकि उसके अन्दर यथार्थ तर्क का समावेश होता है। वह विभिन्न इच्छाओं में से एक अकेली इच्छा का निर्माण करती है। वह उन सब विशेषताओं और विशिष्ट गुणों के सार का प्रतिनिधित्व करती है जो प्रत्येक राज्य में होने चाहियें। दूसरे, सामान्य इच्छा स्थायी होती है और एक विशेष क्षण के कार्यों की अपेक्षा अधिक कालीन होती है। वह लोकमत के चापल्य से अप्रभावित बनी रहती है। अन्त में, वह सदैव यथार्थ (Right) होती है क्योंकि वह समस्त जनों के कल्याण का प्रयत्न करती है और उसके अन्दर उनकी इच्छाओं में जो सर्वोत्तम अंश है उसका समावेश रहता है।

आलोचना के दो शब्द :—

"सामान्य इच्छा" के सिद्धान्त की, जिसे रूसो ने बहुत परिश्रम से प्रस्तुत किया था, राजनीति-शास्त्र के लेखक द्वारा अत्यन्त कटु आलोचना की गई है। आलोचना की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

१—"सामान्य इच्छा" के विरुद्ध उसके आलोचकों द्वारा जो सबसे प्रथम एवं महत्वपूर्ण तर्क रखा जाता है वह यह है कि वह अत्यन्त भावुक तथा अव्यावहारिक है। व्यावहारिक जगत् में हमें "सामान्य इच्छा" जैसी कोई वस्तु नहीं दिखाई देती। यही नहीं, यदि लोकमत की धारा अथवा बहुमत द्वारा "सामान्य इच्छा" का प्रकाशन किया जा सकता तो व्यवहार में उसका कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। लेकिन यह आलोचना ठीक नहीं है। इसके उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि सामान्य इच्छा का उतना महत्व इसमें नहीं है कि उसका प्रकाशन किसके द्वारा होगा जितना पारस्परिक हित के तत्व में है जो इसमें भरा हुआ है। जैसा कि एक लेखक ने कहा है "जब तक पारस्परिक हित राजनैतिक कार्य का निर्देशन कर सकता

संस्था (Community) के हित की नहीं। दूसरे शब्दों में वास्तविक इच्छा स्वभावतः स्वार्थी है। पर यही सब कुछ नहीं है। इस इच्छा की पूर्ति से केवल क्षणिक सन्तोष मिलता है क्योंकि वह एक विशेष क्षण की भावना का प्रदर्शन करती है। दूसरी ओर "सत्य इच्छा" है। यह मनुष्य की स्थायी इच्छा है और उसे सदैव सन्तोष प्रदान करती है। वह उसकी स्वतन्त्रता की प्रतीक है। वह मनुष्य के उत्तम भाग का प्रदर्शन करती है और स्वार्थ से मुक्त होती है। दूसरे शब्दों में वह मनुष्य की "अच्छी" इच्छा है जो अपने हित के साथ सामूहिक संस्था के हित का भी विचार करती है। "सामान्य इच्छा" की धारणा मनुष्य की इस "सत्य इच्छा" पर ही आधारित है।

दूसरे, यह बताकर कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है वह एक महत्त्वपूर्ण सत्य का समर्थन करता है कि उसकी उत्पत्ति व्यक्तियों की आवश्यकताओं तथा पारस्परिक हित के लिए हुई है। अन्त में, "सामान्य इच्छा" का सिद्धान्त यह बताता है कि राज्य का आधार शक्ति न होकर इच्छा ही है।

"सामान्य इच्छा" और "लोकमत"

"सामान्य इच्छा" "लोकमत" से किस प्रकार भिन्न है? रूसो ने अपनी "सामान्य इच्छा" की धारणा पर पहुँचने के लिए स्वयं यह भेद स्पष्ट किया है। इन दोनों में वही अन्तर है जो एक आदर्श और व्यवहार में उसकी आंशिक प्राप्ति में होता है। लोकमत सामान्य इच्छा के निकट हो सकता है पर वह उसे पा नहीं सकता। इसका कारण यह है कि वह किसी भी क्षण क्षणिक प्रवृत्तियों एवं भावुक अपीलों द्वारा बदल सकता है। उसका निर्माण सामान्य हित के विचार से नहीं होता। जब तक किसी प्रश्न पर लोकमत उचित एवं विचारपूर्ण है वह सामान्य इच्छा के निकट है लेकिन जब वह स्वार्थी, साम्प्रदायिक अथवा जातीय भावनाओं द्वारा प्रभावित हो जाता है तो वह निकटता समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति, की इच्छा भी सामान्य इच्छा हो सकती है यदि वह सबके हित में है। पर लोकमत के सम्बन्ध में ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि वह अनिवार्यतः समाज के बहुमत की इच्छा होती है।

"सामान्य इच्छा" और "सर्वसम्मति" :

"सामान्य इच्छा" "सर्वसम्मति" से भी भिन्न है। इनका भेद, जैसा कि एक लेखक ने कहा है, संख्या सम्बन्धी नहीं है वरन् ऐसा है जो कि सामान्य और विशेष हित के विचार पर आधारित है। "सामान्य इच्छा" का विशिष्ट गुण पारस्परिक हित है। सर्वसम्मति में पारस्परिक हित की अपेक्षा स्वार्थी हितों का आधिक्य रहता है। वह विशेष इच्छाओं, जिनका उद्देश्य विशेष हित है "असामान्य इच्छा", का प्रतिनिधित्व करती है। वह वस्तु-हित का विचार है न कि मतों की संख्या जो "सामान्य इच्छा" को "सर्व-सम्मति" से पृथक करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि "सामान्य इच्छा"

है उस समय तक 'सामान्य इच्छा' की धारणा एक आदर्श उपस्थित करती रहेगी। व्यावहारिक सामाजिक प्रयत्न का प्रयोजन आदर्श को पूर्ण रूप में प्राप्त करना नहीं है वरन् उसके निकट पहुँचना है।"

२—इस सिद्धान्त के विरुद्ध दूसरा तर्क यह रखा गया है कि वह अत्यन्त भयानक है क्योंकि उसका प्रयोग निरंकुशता के पक्ष में किया जा सकता है। आलोचकों का कहना है कि सामान्य इच्छा का सिद्धान्त इतना अनिश्चित और असंदिग्ध है कि उसे राज्य की निरंकुशता के किसी भी उद्देश्य के लिए तोड़ा-मरोड़ा जा सकता है। आलोचकों की यह बात भी बहुत माकूल नहीं है। यह ठीक है कि रूसो सरकार की निरंकुशता का समर्थन करता है परन्तु साथ ही वह उस पर कुछ नैतिक प्रतिबन्ध भी लगा देता है। सदा यथार्थ होने के कारण सामान्य इच्छा केवल आवश्यकता पड़ने पर ही बाधा डालेगी। रूसो ने कहा है "राजा प्रजा के ऊपर ऐसे बन्धन नहीं लगा सकता जो सामूहिक संस्था के लिए निष्प्रयोजन हों और न वह कभी ऐसा करना ही चाहेगा।" ("The sovereign cannot impose upon its subjects any fetters that are useless to the community nor can it ever wish to do so.")

३—आलोचकों का अन्तिम तर्क, जो कि काफी सारयुक्त है यह है

(ब) इस सिद्धान्त के समर्थक :

१—यहूदी लोग : इस सिद्धान्त के सबसे प्रथम प्रतिपादक यहूदी लोग थे। उनकी धर्म-पुस्तक (Old Testament) में राजा को ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में माना गया है और वह अपने कार्यों के लिए केवल उसी के प्रति उत्तरदायी है। ग्रीक और रोमन लोग राज्यों को केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही दैवी मानते थे। आगस्टाइन (St. Augustine) तथा पोप ग्रिगरी (Pope Gregory) दो ऐसे धार्मिक पादरी थे जिन्होंने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। इनमें से दूसरा जमीन का अधिकार ईश्वर के हाथ में बताता था। कुछ लेखकों ने दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रयोग चर्च पर राज्य का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए किया और दूसरों ने राज्य पर चर्च का प्रभुत्व। १५३० के Augsburg Confession ने यह घोषणा की कि "संसार में समस्त शक्ति, सरकार, कानून और व्यवस्था स्वयं ईश्वर द्वारा निर्मित एवं स्थापित की गई हैं।" मध्य युग के ईसाई-लेखकों (The Church Fathers) ने सेन्ट पाल (St. Paul) के इस कथन को इस सिद्धान्त का आधार बनाया कि "जो व्यक्ति शक्ति का विरोध करता है वह ईश्वर के अध्यादेश का विरोध करता है और जो विरोध करते हैं उन्हें अपने लिए मृत्यु मिलेगी।"

२—प्रोटेस्टेंट धर्म सुधार : प्रोटेस्टेंट धर्म सुधार ने दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को बहुत प्रोत्साहन दिया। दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त ने कालान्तर में अधिकाधिक राजाओं के दैवी अधिकारों का स्वरूप धारण कर लिया। इस दूसरे सिद्धान्त के प्रमुख व्याख्याता प्रथम स्टुअर्ट राजा जेम्स प्रथम (James I) और सर राबर्ट फिलमर (Sir Robert Filmer) थे। फ्रान्स में बौसैट (Boussuet) ने चौदहवें लुई (Louis XIV) की निरंकुशता का समर्थन करने के लिए इस सिद्धान्त का प्रचार किया।

३—जेम्स प्रथम : जेम्स प्रथम ने अपनी रचना "The Law of Free Monarchies" में इस सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या की है। उसका मत है कि राजा ने अपनी शक्ति प्रत्यक्षतः ईश्वर से ही प्राप्त की है।

और "सर्व-सम्मति" एक नहीं हैं क्योंकि "सर्वसम्मति" में स्वार्थी एवं विशेष हितों का प्राधान्य हो सकता है, जबकि "सामान्य इच्छा" का सार उसके सार्वदेशीय तथा स्वार्थ से बचाव में ही है।

Q. 19. Critically examine the Divine Origin Theory of the State.

(Allahabad, 1933, 1930; Punjab, 1951.)

राज्य के दैविक उत्पत्ति के सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

Ans

सदी के अन्त के पश्चात् ही यह सिद्धान्त सैद्धान्तिक दृष्टि से दोषपूर्ण और व्यावहारिक रूप में घातक कहा जाकर अस्वीकृत कर दिया गया। कुछ देशों में तो इसके बाद भी यह चलता रहा जैसे आस्ट्रिया, जर्मनी और रूस। आज राजनैतिक विचारकों में राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त तथा राजाओं के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त का समर्थक कोई भी नहीं है। उन्हें विस्तार पूर्वक गलत सिद्ध करना एक मरे हुए घोड़े को पीटना है। "यह कहना कि ईश्वर इस अथवा उस मनुष्य को शासक के रूप में चुनता है अनुभव तथा सामान्य ज्ञान के विरुद्ध है। इस सिद्धान्त के अन्त के कारण जैसे कि गिलक्राइस्ट (Gilchrist) ने बताए हैं निम्नलिखित हैं :—

(१) समझौते के सिद्धान्त का उदय।

(२) राज्य तथा चर्च का पृथक्करण।

एक राजनैतिक दर्शन के सिद्धान्त के रूप में इसे ग्रोशस (Grotius), हॉब्स (Hobbes) तथा लाक (Locke) के हाथों में घातक आघात पहुँचा। यद्यपि यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है इसने प्राचीन समय में बहुत उपयोगी कार्य किया है। इसने ऐसे समय में जब मनुष्यों ने अनुशासन और आज्ञाकारिता का मूल्य नहीं समझा था, राज्य की शक्ति को स्वीकृत किया। वह अराजकता के विरुद्ध एक रोड़ा था और उसने शक्ति के प्रति आदर उत्पन्न किया। उसने मनुष्यों को आज्ञापालन करना सिखाया जिस समय कि वे अपने को शासित करने को तैयार नहीं थे। वह इस बात को भी हमारे आगे रखता है कि अन्त में राज्य का अस्तित्व शासितों के आत्मसम्बन्धी हित के लिए है। ये ऐसे सत्य हैं जिन पर जोर देना आज भी आवश्यक है।

Q. 20. How for is the theory of Force a justification for the origin of the State?

(Punjab, 1944, 40, 39, 36; Allahabad, 1933; Calcutta 1944, 42; 38 & 30.)

राज्य की उत्पत्ति के लिए शक्ति का सिद्धान्त कहां तक ठीक कहा जा

इसलिए वह जनता के ऊपर तो है ही साथ ही कानून के भी ऊपर है। वह केवल ईश्वर और अपनी अन्तःप्रेरणा के आधीन है। राजा कानूनों का निर्माण करते हैं, कानून नहीं राजाओं को बनाते। राजा प्रत्येक व्यक्ति का स्वामी है जिसे जीवन और मृत्यु दोनों पर अधिकार प्राप्त है। जेम्स की यह धारणा थी कि राजा बुद्धिमान् और अच्छे होते हैं लेकिन प्रजा दुर्बल और अज्ञानी होती है। एक राजा, वह कहता है, समस्त पृथ्वी के लिए एक उत्तम शिक्षक है। शासक पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है और उसे शासन करने का हक उसी से मिला है। उसकी आज्ञा का पालन करना एक धार्मिक कर्तव्य है और उसका विरोध एक पाप है। राजा के विरुद्ध विद्रोह करना ईश्वर के विरुद्ध विद्रोह करना है क्योंकि राजा ईश्वर का चुना हुआ अधिकारी है।

(स) सिद्धान्त की आलोचना :

१—राज्य मनुष्य द्वारा निर्मित है : चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin) इस सिद्धान्त का कट्टर विरोधी है। वह एक वैज्ञानिक था और उसने यह सिद्ध कर दिया कि प्रारम्भ में मनुष्य बन्दर की शक्ल में था। इस प्रकार उसने उस सिद्धान्त का समर्थन किया जिसे विकासवादी सिद्धान्त कहते हैं। वह कहता है कि कोई भी वस्तु ईश्वर ने नहीं बनाई है। धर्म मनुष्यों का एक निजी व्यापार है और उसे सांसारिक व्यापार में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। फिर इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर प्रत्येक राजा में निवास करता है। यदि हम यह कल्पना करें कि दो राजा लड़ते हैं तो उसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर ईश्वर से लड़ रहा है और यह विश्वास करने योग्य बात नहीं है। यदि राज्य धर्म के नियमों पर चले तो वह चल नहीं सकता। इसलिए यह सिद्धान्त पूर्णतया अस्वीकृत किया गया है और वह मूलतः झूठा और बिल्कुल निकम्मा है। राज्य को दैवी इच्छा कह देना एक अपरोक्ष साधन के पीछे शरण लेना है।

२—वह निरंकुशता को प्रोत्साहन देता है : यह बहुत सम्भव है कि इस सिद्धान्त के समर्थक भी इसकी फिजूल बातों को नहीं मानते। १८वीं

(च) **सिद्धान्त का समर्थन** : इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एवं समर्थन विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न उद्देश्यों के लिए किया गया है। मध्य-युग के ईसाई लेखकों (Church Fathers) ने राज्य का सम्मान कम करने के विचार से यह कहा कि राज्य पाशविक शक्ति का परिणाम है। व्यक्तिवादियों ने समर्थों के जीवित रहने के सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए यह कहा कि समाज के लिए यह स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति ताकतवर है वह कमजोरों पर राज करे। आधुनिक समाजवादी धारा के अनुसार, जो एक वर्गहीन समाज की शिक्षा देती है, राज्य का अर्थ अपनी उत्पत्ति से ही कमजोरों के ऊपर ताकतवर की श्रेष्ठता सिद्ध करता है। लेनिन (V. I. Lenin) के मतानुसार "राज्य समाज के विभिन्न वर्गों के निरन्तर संघर्ष की उपज है। वह पूँजीपतियों के हाथ में, जो कि जनसंख्या के बहुमत पर शासन करते हैं, शोषण का साधन है।" ("The State is the product of the irreconciability of antogonism between the different classes in society. It is the instrument of exploitation in the hands of the capitalists who rule over the majority of the population.") जर्मन-लेखकों ने शक्ति के सिद्धान्त का बहुत समर्थन किया है। जर्मनों की यह हार्दिक इच्छा थी कि वे एक विस्तृत जर्मनी देख सकें। पिछले दिनों में ट्रीट्सके (Treitschke) तथा हीगिल के कुछ अन्य भक्तों ने इसका बहुत जोरों से समर्थन किया है। ट्रीट्सके के मतानुसार "राज्य आक्रमण करने और रक्षा करने की जनशक्ति है जिसका पहला बड़ा काम युद्ध करना और न्याय का शासन करना है।" वानवर्न हार्डी (Von-bernhardi) कहता है, "शक्ति अथवा बल ही सर्वोच्च अधिकार है और यह निर्णय कि क्या ठीक है केवल युद्ध के परिणाम द्वारा किया जा सकता है। युद्ध जीवशास्त्रीय दृष्टि से उचित निर्णय देता है क्योंकि उसके निर्णय वस्तुओं की प्रकृति पर आधारित होते हैं।" नीट्शके (Neitzche) का "Will to Power and Superman" वाला

सकता है ?

Ans.

शक्ति का सिद्धान्त, जो कि राज्य की उत्पत्ति और विकास के लिए उपस्थित किया गया है, परस्पर विरोधी तत्त्वों से भरा हुआ है।

(अ) सिद्धान्त का वर्णन : यह कहा गया है कि राज्य आक्रमण का परिणाम है और यह अंग्रेजी कहावत कि "Wars beget the king" राज्य की उत्पत्ति के रूप में रखी जाती है। अर्वाचीन समाज में, यह कहा गया है, एक ऐसा व्यक्ति जो कि शारीरिक शक्ति में अन्य व्यक्तियों से बढ़ा-चढ़ा होता था उन लोगों को अपने अधिकृत कर लेता था जो राजनैतिक रूप से संगठित नहीं होते थे और उनके ऊपर अपना अधिकार जमा लेता था। वह जाति (Tribe) के प्रधान होने की ओर पहला कदम होता था। एक जाति दूसरी जाति के विरुद्ध लड़ा करती थी और जो अधिक शक्तिशाली होती थी वह कमजोर को अपने में मिला लेती थी। विजय और अधिकार का यह क्रम चलता रहा और जब कि विजेता जाति के नेता ने अपने योद्धाओं के समूह के साथ, एक निश्चित प्रदेश पर, जो कि काफी बड़ा था, स्थायी तथा निश्चित अधिकार प्राप्त कर लिया तो एक राज्य की स्थापना हुई। जब एक बार राज्य स्थापित हो गया तो वही शक्ति, जिसकी आवश्यकता अन्य जातियों को विजित करने तथा अधीन करने में पड़ी थी, उनके राजनैतिक व्यापारों पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए उपयोग में लाई गई। बाद में एक राज्य दूसरे से लड़ा और वे ही राज्य बने रहे जो अपेक्षाकृत अधिक शक्तिवान् थे।

इस प्रकार निपट शक्ति द्वारा ही मनुष्यों को नियंत्रण में लाया गया और फिर शक्ति द्वारा ही राज्य के अधिकार को कायम रखा गया। इस सिद्धान्त के अनुसार "शक्ति" ("Might") राज्य की उत्पत्ति एवं विकास में सबसे प्रमुख तत्त्व रही है। इस सिद्धान्त के समर्थक यह तर्क रखते हैं कि राज्य शक्ति का परिणाम है और शक्ति द्वारा ही कायम रहता है।

(व) सिद्धान्त का समर्थन · इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एवं समर्थन विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न उद्देश्यों के लिए किया गया है। मध्य-युग के ईसाई लेखकों (Church Fathers) ने राज्य का सम्मान कम करने के विचार से यह कहा कि राज्य पाशविक शक्ति का परिणाम है। व्यक्तिवादियों ने समर्थों के जीवित रहने के सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए यह कहा कि समाज के लिए यह स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति ताकतवर है वह कमजोरों पर राज करे। आधुनिक समाजवादी धारा के अनुसार, जो एक वर्गहीन समाज की शिक्षा देती है, राज्य का अर्थ अपनी उत्पत्ति से ही कमजोरों के ऊपर ताकतवर की श्रेष्ठता सिद्ध करता है। लेनिन (V. I. Lenin) के मतानुसार "राज्य समाज के विभिन्न वर्गों के निरन्तर संघर्ष की उपज है। वह पूँजीपतियों के हाथ में, जो कि जनसंख्या के बहुमत पर शासन करते हैं, शोषण का साधन है।" ("The State is the product of the irreconciability of antogonism between the different classes in society. It is the instrument of exploitation in the hands of the capitalists who rule over the majority of the population.") जर्मन-लेखकों ने शक्ति के सिद्धान्त का बहुत समर्थन किया है। जर्मनों की यह हार्दिक इच्छा थी कि वे एक विस्तृत जर्मनी देख सकें। पिछले दिनों में ट्रीट्सके (Treitschke) तथा हीगिल के कुछ अन्य भक्तों ने इसका बहुत जोरों से समर्थन किया है। ट्रीट्सके के मतानुसार "राज्य आक्रमण करने और रक्षा करने की जनशक्ति है जिसका पहला बड़ा काम युद्ध करना और न्याय का शासन करना है।" वानवर्न हार्डी (Von-bernhardi) कहता है, "शक्ति अथवा बल ही सर्वोच्च अधिकार है और यह निर्णय कि क्या ठीक है केवल युद्ध के परिणाम द्वारा किया जा सकता है। युद्ध जीवशास्त्रीय दृष्टि से उचित निर्णय देता है क्योंकि उसके निर्णय वस्तुओं की प्रकृति पर आधारित होते हैं।" नीट्शके (Neit-zche) का "Will to Power and Superman" वाला

सिद्धान्त इसे एक दार्शनिक समर्थन भी प्रदान करता है। इन जर्मन लेखकों की शिक्षाओं को हिटलर ने कार्य-रूप में परिणत किया था।

(स) सिद्धान्त की आलोचना—

१—शक्ति व्यवस्था के लिए आवश्यक इस सिद्धान्त में पर्याप्त मात्रा में सत्य विद्यमान है। इसमें शक नहीं कि शक्ति राज्य का एक आवश्यक तत्त्व है। वह राज्य में आन्तरिक सुरक्षा और उसे बाह्य आक्रमणों से बचाने के लिए बहुत आवश्यक है। यह कहा जा सकता है कि राज्य के जीवन के लिए शक्ति अथवा बल अपरिहार्य है।

२—इच्छा राज्य की आधार—लेकिन शक्ति ही केवल राज्य का आधार नहीं है। शक्ति के अतिरिक्त भी कुछ आवश्यक है। "इच्छा, न कि शक्ति, राज्य का आधार है।" यह ठीक है कि शक्ति आवश्यक है परन्तु उसका प्रयोग औषधि के रूप में किया जाना चाहिए, नित्य आहार के रूप में नहीं। यदि शक्ति को ही राज्य का केवलमात्र मापदण्ड बना दिया जाय तो वह उतने काल तक ही चलेगा जब तक शक्ति चल सकती है। शक्ति का अविचारपूर्ण प्रयोग क्रान्ति का तथा सरकार के उन्मूलन का, जो कि शक्ति पर आधारित है अग्रसूचक है। राज्य एक स्थायी संस्था है जबकि शक्ति क्षणिक अथवा अल्पकालीन है। एक अल्पकालीन आधार कभी भी स्थायी अस्तित्व का कारण नहीं बन सकता। शक्ति को तभी राज्य का स्थायी आधार माना जा सकता है जबकि उसे अधिकार के साथ प्रयोग में लाया जाय। प्रसिद्ध अँग्रेज दार्शनिक ग्रीन (T. H. Green) का मत था कि "राज्य का निर्माण केवल प्रतिरोधी शक्ति नहीं करती वरन् कानून के अनुसार, चाहे वह लिखित हो या अलिखित, तथा नागरिकों के अधिकारों को आन्तरिक तथा बाह्य आक्रमणों से बचाने के लिए प्रयुक्त शक्ति करती है।" It is not coercive power as such but coercive power exercised according to law, written or unwritten for a maintenance of the existing rights of the citizens from external and internal

invasion that makes a State.")

३—यह सिद्धान्त निरंकुशता को प्रोत्साहन देता है—यह सिद्धान्त सबलों के जीवित रहने का समर्थन करता है। इसका अर्थ यह है कि बल ही अधिकार है और जो शारीरिक बल में कमजोर हैं वे भाड़ में जायें। इस सिद्धान्त पर राज्य की नीतियां निर्धारण करना खतरनाक है। अधिकार के बिना शक्ति वैयक्तिक स्वतन्त्रता की विरोधी है। बाह्यतः, यदि बल ही सर्वोच्च अधिकार है और औचित्य का निर्णय युद्ध के निर्णायक द्वारा किया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सम्भव नहीं रह सकती। प्रत्येक राज्य अन्य राज्यों के विरुद्ध युद्ध में रत रहेगा। वह सीधा-सादा उपद्रव ही होगा अन्य कुछ नहीं, जो कि विश्व की शान्ति एवं सुरक्षा को भंग कर देगा। सारे राज्यों की कार्यशक्ति युद्धों के लिए तैयारी करने और उन्हें जीतने में ही केन्द्रित रहेगी। युद्ध हत्या का दूसरा नाम है। वह आत्मा-सम्बन्धी शक्तियों के मूल्य पर पाशविक शक्तियों को उच्च स्थान देगी। वह मनुष्य का नीच व्यक्तित्व है न कि वास्तविक। उन परिस्थितियों में क्या हम मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की आशा कर सकते हैं ?

४—शक्ति अन्तिम उद्देश्य नहीं है—आज के कुछ सबसे बड़े साम्राज्यों की स्थापना "लोहे और रक्त" के द्वारा हुई है। आने वाले समय में हम इससे भी अधिक "लोहे और रक्त" को देख सकते हैं। पर वह राज्य का अन्तिम उद्देश्य नहीं है। शक्ति सदा किसी अन्तिम उद्देश्य का साधन होती है। शक्ति को अपने लिए ही बढावा देना निरर्थक है।

Q. 21. Describe briefly the Patriarchal and Matriarchal theories of the origin of the State and add a short criticism.

(Punjab 1943, 35; Madras 37.)

राज्य की उत्पत्ति के पितृमूलक और मातृमूलक सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए और उसकी लघु आलोचना भी दीजिए।

Ans.

(अ) पितृमूलक सिद्धान्त का वर्णन :—

राज्य की उत्पत्ति के पितृमूलक सिद्धान्त का अपने सादे स्वरूप में यह अर्थ है कि राज्य कुटुम्ब का परिवर्धित स्वरूप है। प्रारम्भ में कुटुम्ब में एक मनुष्य, उसकी स्त्री और बच्चे हुआ करते थे। बच्चों के विवाहों के क्रम से नये कुटुम्बों का निर्माण हुआ लेकिन कुटुम्ब के पिता के अधिकार को उसकी सारी सन्तानों द्वारा उसके जीवनपर्यन्त माना जाता था। कालान्तर में कुटुम्बों के आकार में वृद्धि हुई। वे सब मिलकर, यदि वे एक साथ रहे तो बहुत बड़ा समूह हो गया जो कि बाद में कबीला (Tribe) कहलाया। लेकिन कबीले के बहुत से सदस्य अपने पिता की जाति से अलग हो गए और नए प्रदेशों में बस गए। इससे, उसी विकास के क्रम के फलस्वरूप, बहुत से नये कबीलों की स्थापना हुई।

रक्त-सम्बन्धों से जुड़े होने के कारण ये कबीले सामान्य उद्देश्यों के लिए विशेषकर अन्य जातियों के आक्रमण से अपने को बचाने के लिए, मिलकर काम करते थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया उन्होंने स्वभावतः एक सामान्य-शक्ति की स्थापना की और राज्य का विकास इसी प्रकार हुआ है। इस सिद्धान्त की ध्यान देने योग्य बातें निम्न लिखित हैं :

(१) पितृमूलक कुटुम्ब में पैतृक तत्व प्रधान तथ्य है।

(२) सम्बन्ध का निश्चय पुरुषों के माध्यम द्वारा होता है और एक ही बाप दादों से।

(३) कुटुम्ब का पिता ही समस्त प्राधिकार का आधार है और उसका प्राधिकार सर्वथा पूर्ण था उन सभी बातों में जिनका कुटुम्ब से सम्बन्ध था।

(ब) सिद्धान्त के प्रतिपादक :—

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एवं समर्थन हमें अरस्तू (Aristotle) की रचनाओं में मिलता है। लेकिन इसको सबसे अधिक समर्थन सर हेनरी मैन (Sir Henry Maine) से मिला जिन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तकों

"The Ancient Law" तथा "Early History of Institutions" में इसकी विस्तृत व्याख्या की है। मेन ने तीन जगहों से प्रमाण प्राप्त किए हैं : (१) समकालीन दर्शकों द्वारा किए गए अपने से कम प्रगतिशील सभ्यता के वर्णनों से; (२) उन लेखों से जो विशेष जातियों (जैसे ग्रीक जाति) ने अपने इतिहास के सुरक्षित रखे हैं; तथा (३) प्राचीन-रोमन और हिन्दू-कानून से।

समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मेन ने कहा है कि "मूल समूह वह कुटुम्ब है जो कि एक सर्वोच्च पुरुष के प्रति सामान्य अधीनता के कारण सम्बद्ध हो।" कुटुम्बों के एक-दूसरे पर आधिपत्य जमाने से "Gens" अथवा घर का निर्माण होता है और घरों के आपस में आधिपत्य जमाने से कबीला (Tribe) बनता है। इन कबीलों के आपस में आधिपत्य जमाने से ही "राज्य" (Commonwealth) बनता है। मेन के विकास का क्रम इस प्रकार है :

(१) कुटुम्ब जिसमें पिता, उसकी पत्नी और बच्चे होते हैं।

(२) बच्चों की संख्या में वृद्धि से नये घरों का निर्माण होता है। लेकिन वे सब जीवित प्रधान पुरुष के प्रति सामान्य भक्ति के कारण एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं।

(३) यह पितृमूलक कुटुम्ब एक वंश (Clan) में बढ़ जाता है।

(४) वंशों का एक फिरके (Tribe) में विकास हो जाता है।

(५) एक फिरका नये फिरकों को जन्म देता है।

(६) उससे राज्य का विकास होता है।

अपने सिद्धान्त की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए मेन ने "Old Testament" के "Patriarches", एथेन्स के "Brotherhoods", रोम के "Patria protestas" तथा भारत की कुटुम्ब-प्रणाली के उदाहरण दिये हैं जिनमें वह विशेष रूप से परिचित थे।

(स) आलोचना—

(१) इस सिद्धान्त की मुख्य कमजोरी उसकी अत्यधिक सादगी है।

सर फ्रेजर (Sir J. G. Frazer) ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सामाजिक संगठन का आदि स्वरूप अत्यन्त जटिल था।

(२) ऐतिहासिक प्रमाण का अभाव :—इतिहास तथा समाजशास्त्र हमें इस बात का पर्याप्त समर्थन नहीं प्रदान करते कि पितृमूलक समाज ही हर जगह बाद की संस्थाओं का आधार था और यह कि वह सामाजिक संगठन का सबसे प्राचीन स्वरूप था।

(३) मातृमूलक प्रणाली की प्राचीनता :—जब हम वंश-परम्परा को कुटुम्ब के पुरुष सदस्यों से लेते हैं तो इसका अर्थ यह है कि उस समय स्थायी विवाह की प्रणाली प्रचलित थी। हाल की खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मातृमूलक प्रणाली पितृमूलक प्रणाली से अधिक पुरानी है।

(द) मातृमूलक सिद्धान्त :—

(१) कुटुम्ब सार्वभौम नहीं :—पितृमूलक सिद्धान्त के प्रधान आलोचकों में McLennan, Morgan और Edward Jenks प्रसिद्ध हैं जिन्होंने अपनी पुस्तकों (क्रमशः) "Primitive Society," "Studies in Ancient Society" तथा "A History of Politics" में मातृमूलक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वे सभी इस धारणा को सर्वथा अस्वीकृत कर देते हैं कि प्राचीन समाज में कुटुम्ब सार्वभौम था। उनके मतानुसार ऐसा कोई समूह नहीं था जिसका सामान्य पुरुष प्रधान हो। उनमें सम्बन्ध केवल स्त्रियों द्वारा ही जाना जा सकता था। यह कहा जाता है कि समाज के प्रारम्भकाल में विवाह की वह प्रथा प्रचलित थी जिसमें एक स्त्री एक से अधिक पति रख सकती थी। विवाह की ऐसी प्रणाली के अन्तर्गत पुरुषों के द्वारा सम्बन्ध निश्चय करना असम्भव था।

(२) अनेक पतियों की प्रथा—यह तर्क किया जाता है कि पितृमूलक कुटुम्ब तभी सम्भव है जहां एक विवाह प्रथा (Monogamy) या अनेक स्त्री रखने की प्रथा (Polygamy) प्रचलित हो। लेकिन जहां अनेक पतियों की प्रथा (Polyandry) हो, न कि एक कुटुम्ब की जिसमें एक पुरुष,

उसकी पत्नी और बच्चे हों, उसमें बहुत ही शिथिल रीति से जुड़ा हुआ समूह होता है जो वैवाहिक कार्यों के लिए संगठित होता है। इसलिए रक्त-सम्बन्ध की पहचान स्त्रियों के द्वारा होती है न कि पुरुषों के। ऐसी परिस्थितियों में मातृत्व एक सत्य है और पितृत्व केवलमात्र एक धारणा।

(३) **कबीले से कुटुम्ब का विकास**—जैंक्स (Jenks) यह भी कहता है कि मेन की यह धारणा कि कुटुम्ब वंशों में तथा वंश कबीलों में विकसित होते हैं, गलत है। उसके मत में इसके ठीक विपरीत होता है। उसका विकास-क्रम इस प्रकार है :—(१) पहले एक कबीला था जो कि सबसे प्राचीन तथा मुख्य समूह है। (२) कालान्तर में कबीला वंशों में बँट गया। (३) उन्होंने घरों का निर्माण किया। और (४) अन्त में एक कुटुम्ब बन गया। यह विकास उस समय हुआ जब मनुष्य चरवाहों का जीवन व्यतीत करने लगा। उस जीवन के लिए जानवर पालने की आवश्यकता हुई। भेड़ों व अन्य पशुओं को पालने के लिए औरतों को सर्वोत्तम ठहराया गया जबकि आदमी कठिनतर कार्य करने में लग गए। उससे स्थायी घरों के तथा विवाहों के विकास का प्रारम्भ हुआ। इस रीति से कुटुम्ब की उत्पत्ति हुई। ऐसे समाजों के उदाहरण आस्ट्रेलिया, मलाया, मालाबार तथा पंजाब की कांगड़ा की पहाड़ियों पर बताये जाते हैं।

(क) आलोचना—

१—**ऐतिहासिक प्रमाण का अभाव** : पितृमूलक सिद्धान्त की तरह मातृमूलक सिद्धान्त भी अपनी सार्वभौमता (Universality) का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं देता।

२ **स्त्रियाँ स्वभावतः अकमरण्य होती हैं** : स्त्री संवाहन (Transmission) का साधन है। स्वभावतः वह कार्यशील नहीं है।

३—**स्त्रियाँ शारीरिक बल में कमजोर** : स्त्री पुरुष से शारीरिक बल में कमजोर होने के कारण उसके अधिकार में रहती है।

(ख) निष्कर्ष—

जब हम इतिहास में इन दोनों ही संस्थाओं के उदाहरण पाते हैं तो

हमें डा० लीकॉक के इस विचार से सहमत होना पड़ता है कि चाहे कुटुम्ब पितृमूलक रहा हो चाहे मातृमूलक, पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह राज्य का आधार है।

Q. 22. "The State is neither the handiwork of God, nor the result of superior physical force, nor the creation of resolution or convention, nor a mere expansion of the family." Examine the statement and say which theory of the origin of the State you favour.
(Bombay 1941, 42; Dacca 1935; Nagpur 1943; Punjab 1934 35, 45, 47,)

Or

"The State is based neither on force nor on contract but on natural instinct of cooperation." Explain and discuss. (Agra 1943)

Or

"The State is a growth not a make" Explain of Discuss. (Agra 1941)

"राज्य न तो ईश्वर के हाथ का बनाया हुआ है, न शारीरिक शक्ति का परिणाम है, न संकल्प अथवा सभा का निर्माण है और न केवलमात्र एक कुटुम्ब का ही विकास है।" इस कथन की परीक्षा कीजिये और बताइये कि आप राज्य की उत्पत्ति के किस सिद्धान्त का पक्ष लेते हैं।

अथवा

"राज्य न तो शक्ति पर आधारित है और न समझौते पर बल्कि सहयोग की स्वाभाविक अन्तःप्रवृत्ति पर।" इस कथन की व्याख्या तथा विवेचना कीजिए।

अथवा

"राज्य एक विकास है निर्माण नहीं।" व्याख्या एवं विवेचना कीजिए।

Ans.

राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या के रूप में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जिनका कहना है कि राज्य ईश्वर की कृति है। दूसरे लोग सामाजिक समझौते में विश्वास करते हैं जिसके परिणामस्वरूप राज्य की उत्पत्ति हुई। बहुत से विद्वानों का यह विचार है कि राज्य शक्ति का परिणाम है और शेष का विश्वास है कि राज्य कुटुम्ब से विकसित हुआ है। लेकिन उपर्युक्त सिद्धान्तों में से कोई भी सन्तोषजनक नहीं है यद्यपि इनमें से प्रत्येक का राज्य के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग है।

वास्तव में राज्य के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी एक समय में उत्पन्न हुआ। सरकार की तरह वह एक कृत्रिम यान्त्रिक निर्माण नही है। वास्तव में वह एक क्रमिक विकास का परिणाम है जो बहुत लम्बे काल तक चला गया है। राज्य के आधुनिक जटिल संगठन में बहुत से तत्वों का सहयोग रहा है। वह एक प्राकृतिक अभिवृद्धि की संस्था है जिसका विकास ऐतिहासिक है। बर्गेस (Burgess) ने ठीक ही कहा है कि "राज्य अत्यन्त अपूर्ण प्रारम्भिक अवस्थाओं में से धीरे-धीरे कुछ उन्नत अवस्थाओं में से होकर मानवता के एक पूर्ण तथा सार्वभौमिक संगठन की दिशा में मानव-समाज का क्रमिक विकास है।" ("The State is a continuous development of human society out of a grossly imperfect beginning through crude but improving forms of manifestation towards a perfect and universal organization of mankind.")

राज्य की अभिवृद्धि के लिए उत्तरदायित्व :—

यद्यपि राज्य की उत्पत्ति की कठिन समस्या को सुलझाने में इतिहास, (History), मनुष्य शरीर-रचना-शास्त्र (Anthropology), नृवंश-

विद्या (Ethnology) और तुलनात्मक व्युत्पत्ति-शास्त्र (Philology) हमारी सहायता करते हैं लेकिन फिर भी उसके विकास के मार्ग का अनुसरण करना सरल नहीं है। यही नहीं, वह सभी कालों में एक-सा रहा है। भौगोलिक दशाओं तथा भौतिक परिस्थितियों ने, जो कि समाज की राजनैतिक उन्नति में योग देते हैं, इन कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया है। इन अयोग्यताओं के बावजूद भी राज्य के उदय का विश्लेषण हमें चार भिन्न तत्व पृथक् कर लेने देता है जिन्होंने उसकी अभिवृद्धि में योग दिया है। ये तत्व निम्नलिखित हैं :—

१—रक्त सम्बन्ध

२—धर्म

३—शक्ति अथवा बल

४—राजनैतिक चेतना

१—रक्त सम्बन्ध :—

सामाजिक संगठन का सबसे पहला स्वरूप रक्त-सम्बन्ध पर आधारित था और यही सबसे प्रथम और सर्वाधिक शक्तिशाली बन्धन था। जो चीज मनुष्यों को बन्धन में बांध देती थी और उन्हें एक समूह में एकत्रित कर देती थी वह सामान्य उत्पत्ति में विश्वास था। रक्त-सम्बन्ध का सबसे निकट बन्धन कुटुम्ब है। कुटुम्ब के प्रसार के साथ नए कुटुम्ब बने और सामान्य पुरखों के प्रति आदर की भावना ने विभिन्न कुटुम्बों को बन्धन में बांध दिया। कुटुम्बों की संख्या में वृद्धि होने से ही वंश (Clan) और फ़िरके (Tribe) बने। ऐसे व्यक्ति जो रक्त-सम्बन्ध से जुड़े नहीं थे वे एक ही फ़िरके के सदस्य नहीं हो सकते थे जब तक कि उन्हें ले न लिया गया हो। फ़िरका अपने सदस्यों के अधिकारों को प्रस्वीकृत करता था और अजनबियों के साथ दुश्मनों जैसा व्यवहार किया जाता था। रक्त-सम्बन्ध का प्रमाण उस समय तक चलता रहा जब तक कि अन्य तत्त्व धर्म, सामान्य प्रथायें, सामान्य भाषा आदि स्पष्ट न हो गए।

यह एक विवादग्रस्त विषय है कि पहले फ़िरका बना या समूह या

कुटुम्ब। लेकिन इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सरकार का प्रारम्भ कुटुम्ब के सुनिश्चित अनुशासन से ही हुआ। वह पितृमूलक कुटुम्ब है जिसने सत्ता की आज्ञाकारिता के प्रति आदर उत्पन्न किया। एक पितृ-मूलक कुटुम्ब में कुटुम्ब के प्रधान की सत्ता सर्वथा पूर्ण होती थी। कुटुम्ब के प्रधान (Patriarch) में, जो बाद में फिरके का प्रधान बना, प्रशासकीय, धार्मिक, सैनिक और न्यायिक सभी शक्तियां केन्द्रित थीं। ये प्रारम्भिक राज्य के चिह्न हैं और जैसा कि इतिहास प्रमाणित करता है प्रारम्भिक काल के राजाओं में ये सभी शक्तियां हुआ करती थीं।

२—धर्म :

धर्म एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व है जिसने राज्य के निर्माण में सहायता की। अर्वाचीन समाज में धर्म एक अन्य तत्व था जो कुटुम्बों और फिरकों को मिलाए रहता था। सामान्य आराधना ने भी एकता की भावना और सत्ता के प्रति आदर उत्पन्न किया। आराधना या तो पैतृक आराधना थी या प्रकृति-आराधना। पूर्वजों की आराधना से फिरके ने संगठन में सहयोग दिया और उसी ने रक्त-सम्बन्ध के बन्धनों को भी कड़ा किया। प्रकृति-आराधना का अर्थ प्रेतों के अस्तित्व में विश्वास था। समय की गति के साथ कोई भी व्यक्ति जो प्रेतों पर अधिकार कर सकता था अद्वितीय प्रभाव जमा लेता था। वह स्वयं भी एक रहस्य के समान आद्रित होता था। यह आदर भय पर आधारित था। जिस वस्तु को मनुष्य समझ नहीं पाते थे उसी को पूजने लगते थे। इस सम्बन्ध में जादूगर राजाओं का उदय राज्य के विकास में एक बहुत महत्वपूर्ण तत्व हो जाता है। जादूगर राजाओं के बाद पुरोहित राजा हुए। अर्वाचीन समाज में धर्म और राजनीति एक-दूसरे में बहुत मिले हुए थे। ऐसे अनेकों उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनमें धर्म ने राजनैतिक सामूहिक संस्थाओं को संगठित किया। भारत में धर्म अभी भी देश के राजनैतिक जीवन में बहुत हाथ रखता है। यहां दलों का विभाजन साम्प्रदायिक आधार पर है न कि राजनैतिक।

३—शक्ति :

शक्ति अथवा बल के प्रयोग ने राज्य को प्रदेश का तथा प्रभुत्व का चिह्न दिया है। एक फिरके के दूसरे से संघर्ष ने नेतृत्व के महत्त्व को प्रदर्शित किया। मनुष्य शारीरिक बल में प्रधान व्यक्तियों की ध्वजा के नीचे एकत्रित होने लगे क्योंकि वे उनको सुरक्षा प्रदान करते थे। प्रत्येक नेता की शक्ति एक विशेष प्रदेश तक सीमित होती थी और उस प्रदेश के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्ति सामान्य नेतृत्व के बन्धन से बन्धे रहते थे। जब एक नेता दूसरे प्रदेश पर अधिकार कर लेता था तो उसमें रहने वाले व्यक्ति उसके अधीन हो जाते थे। इस प्रकार अब रक्त-सम्बन्ध ही एकता का अनिवार्य बन्धन नहीं रह गया था।

४—राजनैतिक चेतना :

अरस्तू (Aristotle) ने जब यह कहा था कि "मनुष्य स्वभावतः एक राजनैतिक जन्तु है" तो वह नितान्त सत्य था। समाज में रहते हुए उसकी यह एक परम आवश्यकता है कि उसमें शान्ति और व्यवस्था हो। इसके लिए किसी प्रकार के संगठन की आवश्यकता है। मनुष्यों का कोई भी समूह बिना ऐसे संगठन के चिरकाल तक नहीं रह सकता। मनुष्य के दिमाग में संगठन की आवश्यकता का यह विचार राजनैतिक चेतना का उदय है। राजनैतिक चेतना का अर्थ है कुछ उद्देश्यों की अभिप्राप्ति। विकास के प्रारम्भिक दिनों में ये उद्देश्य स्पष्ट नहीं होते। लेकिन जनसंख्या में वृद्धि तथा सम्पत्ति के जमा होने के साथ ये उद्देश्य स्पष्ट हो गए। शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रखने तथा झगड़ों का निबटारा करने के लिए एक संगठन की आवश्यकता महसूस की गई। सुरक्षा की आवश्यकता ने इसे और भी बढ़ा दिया। वह राज्य जो कि अभी तक अदृश्य रूप में था अब एक दृश्य राजनैतिक संस्था का रूप धारण कर लेता है। प्रारम्भ में यह संगठन बहुत निम्नकोटि का था। सभ्यता की प्रगति के साथ वह स्वरूप में अधिक जटिल होता जाता है, अपने कार्य-क्षेत्र में अधिक सार्वभौमिक होता जाता है और मनुष्यमात्र की आवश्यकताओं के लिए अधिक अपरिहार्य।

यही वह विधि है जिसके द्वारा राज्य का विकास हुआ। यदि उसकी अभिवृद्धि को ठीक तरह समझना है तो यह मानना होगा कि जितने भी सिद्धान्त हैं उन्होंने प्रगति में सहयोग दिया है। लेकिन कोई भी एक सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का सही व्यौरा नहीं देता। सब ने एक साथ कार्य किया है जिनमें कुछ का अन्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व रहा है।

५—राज्य के सिद्धान्त

Q. 23. Briefly describe and criticise the different theories regarding the nature of the State.

राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में जो विभिन्न सिद्धान्त हैं उनका संक्षिप्त वर्णन तथा आलोचना कीजिए।

Ans.

राजनीति-शास्त्र में राज्य की प्रकृति के आधारभूत प्रश्न से अधिक महत्त्वपूर्ण सम्भवतः कोई प्रश्न नहीं। वास्तव में यह प्रश्न एक केन्द्र-स्थल है जिसके चारों ओर राजनीति-शास्त्र चक्कर लगाता है। राजनीति-शास्त्र के बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का हल, जैसे राज्य की आवश्यकता, राज्य का उचित कार्य-क्षेत्र आदि, इस आधारभूत प्रश्न के हल पर निर्भर है। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि इस आधारभूत प्रश्न पर बहुत मतभेद है। प्रायः राजनीति-शास्त्र के प्रत्येक लेखक ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है लेकिन कोई भी दो लेखक ऐसे नहीं हैं जो इस सम्बन्ध में सहमत हों कि राज्य की ठीक प्रकृति क्या है। हमारे लिए यहां यह सम्भव नहीं है कि इस प्रश्न पर जितना विशाल साहित्य उठ खड़ा हुआ है उस सब का वर्णन कर सकें। अस्तु यहां उसमें से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का ही वर्णन नीचे किया जा रहा है। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:—

१—सावयव सिद्धान्त

२—आदर्शात्मक सिद्धान्त

३—सत्ता का सिद्धान्त

४—अनुबन्ध अथवा समझौते का सिद्धान्त

५—कानूनी सिद्धान्त

६—उपयोगिता सिद्धान्त

७—आवश्यक बुराई के रूप में राज्य

८—वर्गीय रचना के रूप में राज्य

९—बहुवादी सिद्धान्त

१०—स्वायत्तवादी सिद्धान्त

१—सावयव सिद्धान्त :

(इस सिद्धान्त का वर्णन प्रश्न २४ में देखिए)

२—आदर्शात्मक सिद्धान्त :

(इस सिद्धान्त का वर्णन प्रश्न २५ में देखिए)

३—सत्ता का सिद्धान्त : वैसे इस सिद्धान्त का प्रथम प्रतिपादक इटली के विचारक मैकियावली (Machiavelli) को माना जाता है लेकिन इसको प्रचारित करने का कार्य अधिकतर उन्नीसवीं सदी के जर्मन लेखकों ने किया। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक सत्ता पद्धति है। इस सिद्धान्त के समर्थक राज्य की व्याख्या पूर्णतया एक सत्ता पद्धति के रूप में करते हैं। प्रो० कार्वर (Prof. T. N. Carver) ने कहा है कि राज्य एक शक्ति है और शक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं। इसका अर्थ यह है कि जिस उद्देश्य से मनुष्यों का राज्य के रूप में संगठन किया जाता है, जो उसकी रचना का निर्धारण करता है और उसकी नीतियों का नियंत्रण करता है वह है सत्ता का प्रेम। राज्य की उत्पत्ति बलवानों द्वारा शक्तिहीनों के जीत लेने से हुई और आज भी उसका अस्तित्व सत्ता पर ही आधारित है। इस विचारधारा का स्वाभाविक परिणाम है युद्ध का गौरवगान। तदनुसार ट्रीट्स्के (Treitschke) ने यह घोषित किया कि युद्ध मनुष्यमात्र का सर्वोत्तम व्यवसाय है और इसलिए शान्ति जीवन के लिए घातक है। एक अन्य लेखक जनरल वॉन बर्न हार्डी (General Von Bern Hardi) ने यह कहा कि युद्ध एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता है और ... की चाह जीवन के सिद्धान्त की प्रत्यक्ष विरोधी है। एक दूसरे

पर उसने लिखा कि "शक्ति ही सर्वोच्च अधिकार है और औचित्य क्या है इस बात का निश्चय युद्ध के निर्णायक द्वारा किया जाता है। जीव-शास्त्रीय आधार पर युद्ध न्याय का निर्णय है क्योंकि उसके निर्णय स्वयं वस्तु की प्रकृति पर आधारित होते हैं।"

प्रत्यक्षतः यह सिद्धान्त बड़ा भयानक है और स्वीकृत नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह गलत भी है क्योंकि इसके अनुसार शक्ति ही सब कुछ है। निस्सन्देह शक्ति राज्य का एक आवश्यक भाग है लेकिन वह राज्य की आधार नहीं है। ग्रीन ठीक था जब उसने यह कहा था कि "राज्य की आधार इच्छा है, शक्ति नहीं।" अस्तु हम राज्य की प्रकृति के इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हो सकते क्योंकि वह एक पक्षीय है। वह शक्ति के तत्त्व पर बहुत ज़ोर देता है तथा अन्य आवश्यक तत्त्वों की उपेक्षा कर देता है।

४—समझौते का सिद्धान्त : इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हॉब्स (Hobbes) लॉक (Locke) तथा रूसो (Rousseau) जैसे लेखक है जो राज्य की उत्पत्ति एक समझौते के परिणामस्वरूप बताते हैं जो उस समय किया गया जब मनुष्यों को प्राकृतिक अथवा अराजनैतिक अवस्था में रहना असुविधाजनक महसूस होने लगा। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिन्होंने कुछ अधिकारों के उपभोग के लिये राजनीतिक रूप में संगठन बना लिया है—ऐसे अधिकारों के लिए जिनका भोग करना अराजनैतिक अवस्था में सम्भव नहीं था। इसका अर्थ यह है कि राज्य का निर्माण मनुष्यों की इच्छानुसार हुआ और उनकी इच्छा से ही वह संचालित और नियन्त्रित भी है। दूसरे शब्दों में यह सिद्धान्त राज्य को एक व्यापारी संस्था बना देता है जिसमें हिस्सेदार अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर सम्मिलित होते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य की सत्ता उसके नागरिकों की अनुमति पर आधारित रहती है। नागरिक राज्य की आज्ञाओं का पालन इसलिए करते हैं कि वह उनकी अनेक सेवायें करता है जैसे शान्ति बनाए रखना और उनके जीवन तथा धन-सम्पत्ति की सुरक्षा करना। इसलिए अगर

राज्य अपने कर्तव्य पालन करने में चूकता है तो नागरिक भी उसकी आज्ञा पालन करने के दायित्व से मुक्त हो जाते हैं।

राज्य की प्रकृति का यह सिद्धान्त भी एकपक्षीय है। वह राज्य के अप्राकृतिक पक्ष पर अधिक जोर देता है और प्राकृतिक पक्ष को सर्वथा उपेक्षित कर देता है। राज्य मानव-निर्मित नहीं है जैसी कि इस सिद्धान्त की मान्यता है। वह मनुष्य की प्रकृति के लिए स्वाभाविक है और उसका विकास अनेक तत्वों के योग से हुआ है। यही नहीं, यह सिद्धान्त राज्य को एक व्यापारिक संस्था का रूप दे देता है क्योंकि वह उसका आधार पारस्परिक सेवा बताता है जो कि ठीक नहीं है। राज्य तथा उसके नागरिकों का सम्बन्ध इस सिद्धान्त के वर्णन से भी अधिक दृढ़ है। अस्तु यह सिद्धान्त भी राज्य की प्रकृति की ठीक व्याख्या नहीं करता।

(५) कानूनी सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक कानूनी संस्था है। इस मत के समर्थक राज्य को एक कानूनी नियमों के अधीन संगठित सामूहिक संस्था के रूप में देखते हैं। उनका कहना है कि राज्य को भी, अन्य समुदायों की तरह, एक व्यक्ति समझना चाहिए, जिसकी अपने नागरिकों से भिन्न एक इच्छा और कर्तव्य हैं। वह अपने नागरिकों के विरुद्ध न्यायालय में दावा कर सकता है और व्यक्ति भी उसके विरुद्ध दावा कर सकते हैं। इस सिद्धान्त के कुछ समर्थक तो यहाँ तक कहते हैं कि राज्य का यह व्यक्तित्व केवल कानूनी अथवा काल्पनिक ही नहीं अपितु मनुष्य के व्यक्तित्व की तरह वास्तविक भी है।

इस सिद्धान्त में भी कुछ सत्य का अंश अवश्य है लेकिन वह नितान्त सत्य नहीं। इसमें शक नहीं कि राज्य का एक कानूनी पक्ष भी है जहां तक वह अपने नागरिकों के अधिकारों की गारंटी करता है और उनसे कर्तव्य-पालन करवाता है। लेकिन राज्य का यही एक पक्ष नहीं है। डा० आशीर्वादम् के शब्दों में "राज्य का कानूनी दृष्टिकोण राज्य के उच्चतम जीवन की सर्वथा उपेक्षा कर देता है।" हीगल (Hegel) कहता है कि राज्य वह संसार है जिसे मानवात्मा ने अपने लिए निर्मित किया है।

फ़ॉलेट (Miss Follet) अपनी पुस्तक 'New State' में लिखती हैं कि "मेरी आत्मा का निवास स्थान राज्य है।" हमारे विचार में राज्य समान रूप से आध्यात्मिक एवं कानूनी निर्माण है।

(६) उपयोगिता सिद्धान्त—"राज्य मूलतः एक ऐसा संगठन है जिसका उद्देश्य अधिक-से-अधिक संख्या का अधिक-से-अधिक आनन्द बढ़ाना है।" ("The State is essentially an organization for the promotion of the greatest happiness of the greatest number.") इस वाक्य में राज्य के उपयोगिता सिद्धान्त का सार भरा हुआ है। सादे शब्दों में इस सिद्धान्त के अनुसार, राज्य एक "कल्याण पद्धति" (Welfare System) है। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य एक मानव-निर्मित संगठन है जिसका निर्माण उनके हित के लिए किया गया है। अस्तु मनुष्य को उसमें कोई भी परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त है। मानव-कृति होने के कारण राज्य की अपनी कोई स्वतन्त्र प्रकृति भी नहीं है।

राज्य की प्रकृति का यह विचार भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि वह अत्यन्त संकीर्ण है। वह राज्य को एक लोक सेवा कम्पनी मात्र बना देता है जो कि प्रत्यक्षतः गलत है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राज्य का एक कार्य लोक-कल्याण में वृद्धि करना भी है। लेकिन फिर भी उसे लोक सेवा कम्पनी का प्रतिरूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसकी सदस्यता ऐच्छिक नहीं है। मनुष्य राज्य में ही जन्म लेता है और जीवन पर्यन्त उसका सदस्य रहता है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त इस तथ्य को नहीं मानता कि राज्य की अपनी एक स्वतन्त्र इच्छा और व्यक्तित्व है। यह सर्वथा अनुचित है।

(७) राज्य एक बुराई के रूप में—राज्य की यह धारणा अन्य सबसे सर्वथा भिन्न प्रकार की है। इस विचारधारा के दो स्वरूप हैं। प्रथम स्वरूप व्यक्तिवादियों का है जो राज्य को एक "आवश्यक" बुराई मानते हैं। दूसरा, और चरम सीमा वाला, स्वरूप अराजकतावादियों का है जिनके

लिए राज्य एक ऐसी बुराई है जिसे "घटाया अथवा कम नहीं किया जा सकता।" यदि हम व्यक्तिवादियों के दृष्टिकोण का विश्लेषण करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि राज्य मनुष्य की कमजोरी के लिए एक रियायत है क्योंकि यद्यपि वह एक बुराई है लेकिन फिर भी मनुष्य के जंगलीपन के कारण वह आवश्यक है। हम इस विचार से सहमत नहीं क्योंकि राज्य एक बुराई, अथवा आवश्यक बुराई भी नहीं है वरन् एक यथार्थ अच्छाई है। "वह मनुष्य का सबसे अधिक सच्चा मित्र है क्योंकि मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण एवं स्वतन्त्र विकास राज्य के यन्त्र की सहायता के बिना असम्भव है।"

(८) राज्य एक वर्गीय रचना के रूप में—गत शताब्दि में कार्ल-मार्क्स (Karl Marx) ने एक नए मत का प्रतिपादन किया। उसने कहा कि राज्य मूलतः एक वर्गीय रचना (Class Structure) है जिसमें शक्ति-प्राप्त वर्ग निःशक्त वर्गों का शोषण करता है। दूसरे शब्दों में राज्य अमीरों द्वारा गरीबों के शोषण करने का साधन-मात्र है। ओपेनहीमर (Oppenheimer), जो इस मत का एक अन्य प्रमुख समर्थक है, कहता है कि "राज्य अन्य वर्गों पर अधिकार किए हुए एक वर्ग का संगठन है।" ("...an organization of one class dominating over the other classes") एक अन्य समर्थक कहता है कि "राज्य आर्थिक सत्ता प्राप्त वर्ग के हाथ का अस्त्र है।" ("The state is the formal staff of the class which owns economic power.")

राज्य का यह दृष्टिकोण भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि वह आधुनिक राज्यों के बारे में भले ही ठीक हो पर एक राज्य के सिद्धान्त के रूप में वह कभी भी ठीक सिद्ध नहीं हो सकेगा। इस सिद्धान्त के समर्थकों द्वारा की हुई राज्य की व्याख्या कुछ राज्यों के सम्बन्ध में और कुछ समयों में सही भले ही सिद्ध हो लेकिन वह सब राज्यों के सम्बन्ध में और सब समयों में लागू नहीं हो सकती है। डा० आशीर्वादम का ऐसा ही विचार है।

वे लिखते हैं "वह दूषित राज्यों पर ही लागू होती है एक स्वस्थ राज्य पर नहीं। एक स्वस्थ अथवा व्यवस्थित राज्य में व्यक्तिगत अथवा वर्गगत हित सामान्य हित के नीचे स्थान पाते हैं।"

६—**बहुवादी सिद्धान्त :** आधुनिक काल में प्रो० लिन्डसे, लास्की, बार्कर तथा फॉलेट जैसे लेखकों ने राज्य का एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जिसे बहुवादी सिद्धान्त कहा जाता है। वे राज्य को अन्य समुदायों के बराबर ही स्थान देना चाहते हैं जैसे कुटुम्ब, चर्च तथा ट्रेड यूनियन आदि। उनका तर्क है कि ऐसा कोई विशेष कारण नहीं जिसके फलस्वरूप राज्य को अन्य समुदायों से श्रेष्ठता दी जाय। लेकिन हम इस विचार को मानने को तैयार नहीं हैं। राज्य को अपनी विशेष प्रकृति के कारण अन्य समुदायों से श्रेष्ठता पाने का अधिकार है। स्वयं बहुवादियों ने इसको स्वीकृत किया है और वे ही राज्य को समुदायों में प्रथम स्थान देने लगे हैं।

१०—**स्वायत्तवादी सिद्धान्त :** इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य ही सर्वेसर्वा है। वह सर्वशक्तिमान् है और कभी गलती नहीं करता। मुसोलिनी के शब्दों में "राज्य के बाहर कुछ भी नहीं है।" राज्य एक पूर्णता है जिसकी तुलना में अन्य सब व्यक्ति और समूह आपेक्षिक (relative) हैं। वह एक निरंकुश, स्थायी एवं अलौकिक विधि से अनुमोदित संस्था है। व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन राज्य के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत है। मनुष्य के जीवन का कोई भी भाग ऐसा नहीं है जिसे वह अपना कह सके। यदि वह जीवित रहता है तो राज्य के लिए, और यदि वह मरता है तो राज्य के लिए। मुसोलिनी ने अपनी जनता के पालन के लिए यह नियम बनाया था कि "सब कुछ राज्य के अन्तर्गत, राज्य के बाहर कोई नहीं, राज्य के विरुद्ध कोई नहीं।" ("All within the State, none outside the State, none against the State."—Musoolini)

हम इस विचार को भी स्वीकृत करने से इन्कार करते हैं क्योंकि वह व्यक्ति के जीवन के मूल्य पर राज्य को उच्चता प्रदान करता है। व्यक्ति को राज्य का एक साधन मात्र समझा जाता है। डा. आशीर्वादम् ने उचित ही

कहा है कि "स्वायत्तवादी मत का अर्थ है व्यक्ति के जीवन का सैनिककरण। वह मनुष्य के व्यक्तित्व एवं योग्यता की पूर्ण उपेक्षा है। व्यक्ति राज्य के चक्र का एक-दांता मात्र बन जाता है।" ("The totalitarian view means the regimentation of the life of the individual. It is the wholesale denial of the worth and dignity of human personality. The individual becomes a mere cog in the wheel of the state." E. Ashirvadam.)

Q. 24. 'The State is an organism.' Explain and discuss.

(Agra 1941, 47)

Or

State and criticize the Organismic theory of State as developed by Herbert Spencer,

(Agra 1943)

Or

'Society or the State is not an organism. It is like on organism in some respects and unlike an organism in other respects." Explain and discuss (Agra 1950)

Or

Define an "organism". Indicate the exact implication of the organic or Organismic theory of the State. Does it mean that the state resembles an organism in all points? How is the relation of the State and the individual defined by the organic theory?

(Allahabad 1931; Madras 1937; Calcutta 1933, 35, 40)

Or

Carefully examine the organic theory of Herbert Spencer and point out the chief weaknesses in Spencer's arguments.

(Punjab 1935, 1943)

'राज्य एक जीवित शरीर (organism) है।' व्याख्या तथा विवेचना कीजिए।

अथवा

राज्य के सावयव सिद्धान्त का वर्णन करो और उसकी आलोचना करो।

अथवा

"समाज अथवा राज्य एक जीवित शरीर नहीं है। कुछ बातों में वह एक जीवित शरीर के समान है और कुछ बातों में असमान है।" इस कथन की व्याख्या एवं विवेचना कीजिए।

अथवा

'जीवित शरीर' (organism) की परिभाषा कीजिए। सावयव सिद्धान्त के उपलक्षित अर्थों का सही अंकन कीजिए। क्या इसका अर्थ यह है कि राज्य सभी बातों में एक जीवित शरीर के समान है ? इस सिद्धान्त के द्वारा राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध कैसा निर्धारित किया गया है।

अथवा

स्पेन्सर के सावयव सिद्धान्त की सावधानी से परीक्षा कीजिए और उसके तर्कों की प्रमुख कमज़ोरियों की ओर भी संकेत कीजिए।

Ans.

राज्य की प्रकृति का सावयव (Organic) सिद्धान्त प्रायः उतना ही प्राचीन है जितना कि राजनैतिक दर्शन। अफलातून (Plato) ने गणतन्त्र की तुलना एक विशाल मनुष्य से की थी और कहा था कि "सबसे उत्तम

राज्य वह था जिसका संगठन सिद्धान्तः मनुष्य के शरीर के गठन से लगभग मिलता हो। सिसरो (Cicero) ने राज्य के प्रधान की तुलना उस शक्ति से की थी जो मानव-शरीर का शासन करती है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ब्लंश्ली (Bluntschli) ने कहा कि 'राज्य स्वयं मानव-शरीर की छाया ही है।" उसको राज्य एक अप्राकृतिक अथवा कृत्रिम यन्त्र नहीं लगता था वरन् "एक जीवित निराकार शरीर" लगता था। उसने तो यहाँ तक कहा कि राज्य पुंलिंग है। रूसो की दृष्टि से भी राज्य-रूपी शरीर और मानव-शरीर में बहुत साम्य था। उसने राज्य की सर्वोच्च शक्ति की तुलना व्यक्ति के शरीर से की; कानूनों और रूढ़ियों की मस्तिष्क से; न्यायाधीशों और मजिस्ट्रेटों की इच्छा और बुद्धि अथवा चेतना की इन्द्रियों से; व्यापार, कृषि, और उद्योग की मुँह और पेट से तथा लोकराजस्व (Public Finance) की तुलना खून से की।

लेकिन राज्य के सावयव सिद्धान्त को हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbet Spencer) के नाम से विशेषकर सम्बन्धित किया जाता है जिसने राज्य और मानव-शरीर के बीच बहुत सूक्ष्म रूपक बांधा है। उसने यह घोषित कर दिया कि राज्य अथवा समाज एक प्राकृतिक जीवित शरीर है जो अन्य जीवशास्त्रीय जीवित शरीरों से किसी आवश्यक रूप में भिन्न नहीं है। उसकी तुलना निम्न प्रकार है :—

१—**रचना :** जिस प्रकार शरीर की रचना रक्त, मांस, हड्डी आदि से हुई है उसी प्रकार राज्य भी व्यक्तियों से मिलकर बना है। दोनों ही में अंगगत इकाइयां सम्पूर्ण वस्तु के जीवन में योग देती हैं।

२—**वृद्धि-क्रम :** जीव शरीर और राज्य दोनों ही की वृद्धि और उन्नति का क्रम एक-सा है। जिस प्रकार जीवशरीर साधारणता और एकरूपता से जटिलता और भिन्नरूपता की ओर वृद्धि एवं उन्नति करता है ठीक उसी प्रकार राज्य भी एक साधारण और प्राथमिक स्वरूप से उन्नति करके आधुनिक जटिल संगठन बन गया है।

३—**पारस्परिक निर्भरता :** प्रत्येक दशा में अंगों में पारस्परिक

निर्भरता है। शरीर के प्रत्येक अंग अथवा राज्य के प्रत्येक सदस्य का अपने कार्य भली भांति करना शेष के स्वास्थ्य और जीवन के लिए आवश्यक है। एक अंग की व्याधि-ग्रस्त दशा का अन्य अंगों के स्वास्थ्य एवं उचित कार्य-करण पर प्रभाव पड़ता है। उसी प्रकार समाज के विभिन्न वर्ग एवं अंग एक-दूसरे पर निर्भर हैं। उनके कार्यों की एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया होती है। समस्त समाज का स्वास्थ्य एवं स्फूर्ति भिन्न-भिन्न अंगों के स्वास्थ्य एवं उचित कार्यकरण पर निर्भर रहता है।

४—**संगठन में सादृश्य :** जीवित शरीर के तीन भाग अथवा हिस्से होते हैं: जीवन प्रणाली, विभाजन प्रणाली और विनियमन-प्रणाली। जीवन-प्रणाली (Sustaining System) के अन्तर्गत मुँह, पेट आतें आदि आते हैं। इसी प्रणाली द्वारा भोजन का पाचन होता है और समस्त शरीर की मशीन चलती रहती है। विभाजन प्रणाली के अन्तर्गत रक्त की जमा करने वाली चीजें, जैसे हृदय, धमनियाँ और नसें आतीं हैं। इस विभाजन अथवा संचारण प्रणाली द्वारा ही शरीर के विभिन्न अंगों में रक्त भेजा जाता है। विनियमन प्रणाली नाड़ी रूपी गति प्रदान करने वाली मशीन है। इस विनियमन अथवा नाड़ी प्रणाली के द्वारा ही शरीर के विभिन्न अंगों के कार्य किए जाते हैं और उनका नियन्त्रण होता है।

राज्य की भी इसी प्रकार अपनी प्रणालियाँ हैं। शरीर की जीवन-प्रणाली के समान राज्य में उत्पादन प्रणाली होती है अर्थात् कृषि, उद्योग आदि। विभाजन प्रणाली राज्य के यातायात एवं संवाहन के साधनों के समान है और विनियमन प्रणाली राज्य की सरकार होती है।

५—**विनाश क्रम :** जिस प्रकार जीवशरीर नाशवान है जिसका विनाश-क्रम निरन्तर जारी रहता है ठीक उसी प्रकार सामाजिक शरीर के अन्तर्गत वृद्ध, दुर्बल और व्याधिग्रस्त व्यक्ति मर जाते हैं और उनका स्थान नवजात व्यक्ति ले लेते हैं। इसी विधि द्वारा समाज स्थायी रूप से कायम बना रहता है।

इन एकरूपताओं और समानताओं से स्पेन्सर ने यह निष्कर्ष निकाला

कि राज्य एक जीवित शरीर है जो जन्म, वृद्धि और विनाश के कानूनों के अधीन है। लेकिन स्पेन्सर ने स्वयं यह स्वीकार किया कि राज्य और मानव-शरीर की एकरूपता सर्वथा पूर्ण नहीं है। उसने संकेत किया कि :

(अ) पशु शरीर-संगठन में संश्लिष्ट (Concrete) है अर्थात् उसकी इकाइयाँ एक-दूसरे से निकट सम्पर्क द्वारा बँधी हुई हैं। पशु-शरीर के अंग एक संश्लिष्ट पूर्ण का निर्माण करते हैं। लेकिन राज्य अथवा समाज की प्रकृति विश्लिष्ट (Discrete) है। उसकी अंगभूत इकाइयाँ एक-दूसरे के सम्पर्क में नहीं हैं वरन्, थोड़ी अथवा बहुत, एक-दूसरे से भिन्न हैं।

(ब) स्पेन्सर ने यह भी स्वीकार किया कि राज्य अथवा समाज में कोई "केन्द्रीय चेतना" ("nerve sensorium") नहीं होती अर्थात् राज्य में पशु-शरीर के समान कोई मस्तिष्क नही होता जो उसको शारीरिक एकता में बाँध दे। राज्य के सदस्य की अपनी पृथक् चेतना-शक्ति होती है और दूसरों से सर्वथा स्वतन्त्र एवं भिन्न प्रकार से कार्य कर सकता है।

लेकिन इन भिन्नताओं के कारण स्पेन्सर ने अपना सिद्धान्त नहीं छोड़ा। इन भिन्नताओं पर उसने अपना व्यक्तिवाद का सिद्धान्त बनाया। उसका निष्कर्ष था कि राज्य को अपने व्यक्तियों को स्वयं अपना कल्याण ढूँढ़ने के लिए स्वतन्त्र रखना चाहिए क्योंकि समाज का अस्तित्व अपने सदस्यों के हित के लिए है और सदस्य समाज के हित के लिए नहीं हैं। लेकिन उसने यह अनुभव नहीं किया कि उसका निष्कर्ष राज्य के सावयव सिद्धान्त का निषेध था।

सिद्धान्त का मूल्यांकन:

इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं। प्लेटो, सिसरो तथा रूसो जैसे लेखकों ने राज्य और एक जीवित शरीर के बीच एकरूपता स्थापित की। उनका निष्कर्ष था कि कुछ बातों में राज्य जीवित-शरीर के समान है। लेकिन ब्लंश्ली और विशेषकर स्पेन्सर का यह मत था कि राज्य स्वयं जीवित शरीर है। जो राज्य की सावयव प्रकृति पर तर्क करते हैं वे राज्य अथवा समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों की पारस्परिक निर्भरता पर जोर देते

Q. 25. Critically examine the Idealist theory of the State.

(Punjab 1944, 46; Agra 1941)

Or

"The State is an entity over and apart from the people who compose it, with a real will and personality of its own." Examine critically the theory of State embodied in the above statement. (Agra 1949)

Or

"The Absolutist theory places the State above all moral obligations which is unsound, irrational and mischievous." Discuss.

(Agra 1950)

राज्य के आदर्शात्मक सिद्धान्त की आलोचनापूर्ण परीक्षा कीजिए।

अथवा

"राज्य उन व्यक्तियों से ऊपर और अलग एक सत्ता है, जो उसका निर्माण करते हैं तथा उसकी अपनी इच्छा और निजी व्यक्तित्व है।" इस कथन में जो राज्य का सिद्धान्त है उसकी समीक्षा कीजिए।

अथवा

"निरंकुश सिद्धान्त राज्य को सम्पूर्ण नैतिक कर्तव्यों से ऊपर रखता है जो कि सर्वथा अनुचित, विवेकरहित और दुष्ट है।" समीक्षा कीजिए।

Ans.

(अ) राज्य का आदर्श सिद्धान्त क्या है ?

राज्य का आदर्शात्मक सिद्धान्त कई नामों से पुकारा जाता है। बोसान्के (Bosanquet) जैसे लेखक उसे दर्शनात्मक सिद्धान्त (Philosophical Theory) कहते हैं और हॉबहाउस (Hobhouse)

ने उसका नाम आध्यात्मिक सिद्धान्त (Metaphysical Theory) रखा है। इस सिद्धान्त की उत्पत्ति के चिह्न हमें ग्रीक राजनैतिक विचारकों के लेखों में मिलते हैं जो राज्य को एक "अपने में पूर्ण" (Self Sufficing) इकाई मानते थे। राज्य को स्वयं अन्तिम उद्देश्य समझा जाता था न कि एक अन्तिम उद्देश्य का साधन मात्र। चूंकि राज्य को अपने में सारे व्यक्तियों की सामाजिक आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हुए समझा जाता था और साथ ही सारी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला भी, इसलिए वह जो भी आशा व्यक्तियों से करे वह एक निरंकुश शक्ति पर आधारित समझी जायगी। अरस्तू (Aristotle) का मत था कि मनुष्य राज्य का ऋणी है और वह कर्ज यह है कि राज्य मनुष्य को वह सुविधायें प्रदान करता है जिनके द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करता है।

आदर्शात्मक सिद्धान्त आवश्यक रूप से हीगल (Hegel), बोसांक्वे (Bosanquet) और ग्रीन (T. H. Green) के नामों के साथ जोड़ा जाता है। लेकिन हीगिल ने इसका जैसा प्रतिपादन किया है वह निरंकुशता की पराकाष्ठा समझा जाता है। हीगल राज्य को मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माता मानता था। उसके मतानुसार मनुष्य वास्तविक स्वतन्त्रता का भोग राज्य के अन्दर रहकर ही करता है। "यह स्वतन्त्रता जो केवल समाज में ही सम्भव हो सकी वह व्यक्ति के हृदय की स्वतन्त्रता की धारणा का वाह्य आकृति-प्रदर्शन अथवा प्रत्यक्ष उपस्थिति है—ऐसी धारणा का जो समाज के बिना अप्राप्य रह जाती।" ("This freedom which became possible only in society is an externalisation or objectification of all that is highest in the conception of freedom in the individual's heart, a conception which but for society would remain unrealized.") मनुष्य स्वभाव से ही स्वतन्त्रता चाहता है और यह मनुष्य की अदृश्य अथवा आन्तरिक स्वतन्त्रता है। राज्य स्वतन्त्रता को स्थायी रखने और उसके उपभोग करने

की व्यवस्था करता है और यह स्वतन्त्रता का दृश्य अथवा बाह्य रूप है। हीगल की राय में वास्तविक स्वतन्त्रता तभी सम्भव हो सकती है जब मनुष्य के बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व में अनुरूपता न हो। हीगल के शब्दों में "यह राज्य में ही है कि मनुष्य ने अपने बाह्य व्यक्तित्व को अपने विचार के आन्तरिक व्यक्तित्व तक पूर्णतया उठा लिया है।" वास्तविक स्वतन्त्रता, जो रहती है और समाज की देन है, सक्रिय और बढ़ती हुई है और वह अपनी अभिव्यक्ति निम्न साधनों द्वारा करती है :—

(१) राज्य के कानूनों में। कानून और स्वतन्त्रता एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। वास्तव में राज्य के कानून स्वतन्त्रता का निर्माण एवं उसकी गारंटी करते हैं। इसलिए राज्य के कानून न तो गलत ही हो सकते हैं और न न्याय-विरुद्ध। यदि वे ऐसे हों तो स्वतन्त्रता का अस्तित्व सम्भव नहीं। तदनुसार राज्य के कानूनों का कोई भी विरोध न्याय-विरुद्ध एवं असामाजिक माना जाता है।

(२) यह राज्य के माध्यम द्वारा ही है कि व्यक्ति आन्तरिक नीति (Morality) का नियम प्राप्त करता है। सादे शब्दों में, हीगल के अनुसार, नीतिमान् क्या है और अनीतिमान् का विचार मनुष्य के अन्तः-करण का अथवा सद्विवेक का फल नहीं है। नीति और अनीति वह है जो राज्य निर्धारित करे। हीगल के मत से यह कहना गलत है कि राज्य द्वारा लादी गई नीति कोई नीति नहीं है। वास्तव में यथार्थ नीति वही है जो राज्य ने निर्धारित की हो।

३—अन्त में, वास्तविक स्वतन्त्रता अपनी अभिव्यक्ति सारी सामाजिक संस्थाओं और प्रभावों, जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में सहायता देते हैं, की प्रणाली में करती है। ऐसी सामाजिक संस्थाओं का निश्चय एवं निर्माण करना राज्य का काम है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया होगा कि मनुष्य के कार्यों का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है जहां राज्य का हस्तक्षेप न हो। इन कार्यों के अन्तर्गत मनुष्य के विचार और अन्तःकरण भी आ जाते हैं। यह राज्य ही है जो

यथार्थ स्वतन्त्रता का निर्माण करता है और राज्य के विना मनुष्य के लिए वास्तविक स्वतन्त्रता के सम्वन्ध में सोचना भी असम्भव है। हीगल के शब्दों में "यथार्थ स्वतन्त्रता राज्य से कुछ भी कम नहीं है।" ("Nothing Short of the state is the actualization of freedom.") इसका कारण यह है कि हीगल के मतानुसार राज्य का एक वास्तविक व्यक्तित्व होता है और एक वास्तविक इच्छा होती है। राज्य का व्यक्तित्व और उसकी यह इच्छा अन्य व्यक्तित्वों के योग के ऊपर तथा उससे अलग होती है। प्रत्येक मनुष्य की इच्छा और उसका व्यक्तित्व राज्य की सामान्य इच्छा और व्यक्तित्व में उतर आता है। सामान्य इच्छा सवकी इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती है और वही केवलमात्र विवेकपूर्ण इच्छा होती है। राज्य सामान्य इच्छा का मानवस्वरूप है और राज्य की आज्ञा मानने में हम अपने आपकी आज्ञा मानते हैं। वास्तव में वह सव मनुष्यों की इच्छाओं में जो सर्वोत्तम है उसका बदला हुआ और शुद्ध सार है। चूंकि सामान्य इच्छा ही केवलमात्र विवेकपूर्ण इच्छा होती है इसलिए उसके कार्य न तो विवेकहीन होते हैं न न्यायविरुद्ध। सामान्य इच्छा के इन गुणों से निम्न परिणाम निकलते हैं :—

(१) राज्य सामान्य इच्छा का जीवित स्वरूप है जो कि यथार्थ और विवेकयुक्त इच्छा है इसलिए कभी भी अप्रतिनिधि रूप से काम नहीं कर सकती। जोड (C. E. M. Joad) के शब्दों में वह सिपाही जो चोर को पकड़ता है और वह न्यायाधिकारी जो उसे जेल में बन्द कर देता है वास्तव में चोर की यथार्थ इच्छा की–पकड़े जाने और जेल में वन्द होने की–अभिव्यक्ति कर रहे हैं। सिपाही और न्यायाधिकारी तो उस राज्य के कर्मचारी हैं जो चोर की यथार्थ इच्छा का प्रतिनिधित्व एवं उसकी अभिव्यक्ति करता है क्योंकि चोर उसका एक सदस्य है। वास्तव में चोर जब थाने को ले जाया जाता है तो वह स्वतन्त्रता से कार्य करता है। व्यक्ति की यथार्थ स्वतन्त्रता राज्य में ही प्राप्त की जाती है।

(२) राज्य एक जीवित शरीर (organism) है : आदर्शात्मक

सिद्धान्त के समर्थक इस बात को मानते हैं कि राज्य एक जीवित शरीर है। वे व्यक्तियों की समाज पर निर्भरता पर जोर देते हैं। एक व्यक्ति के जीवन और समुदाय के जीवन में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है और समुदाय ही व्यक्ति को योग्यता और महत्त्व प्रदान करता है। ये सम्बन्ध जो व्यक्ति को एक दूसरे से तथा राज्य से बांधते हैं मनुष्य के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग होते हैं। "वह उनके बिना वह नहीं होगा जो कि वह है और वह जो कुछ है सो केवल-मात्र उन्हीं के कारण।" ("He would not be what he is without them and he only is what he is because of them.") इसलिए एक व्यक्ति एकाकी मनुष्य की तरह आचरण नहीं कर सकता। इसी प्रकार व्यक्ति के लिए यह भी असम्भव है कि वह राज्य की इच्छा का विरोध करे अथवा इस प्रकार व्यवहार करे जो राज्य की इच्छा के विरुद्ध हो।

(२) राज्य के अन्दर अपने सब नागरिकों की सामाजिक नीति (morality) होती है और वह उसका प्रतिनिधित्व करता है: "कारण यह है कि नीतिमान् सम्बन्धों के अन्दर दो पक्षों का भाव उपलक्षित है, और यहां राज्य के अतिरिक्त और कोई दूसरा दल नहीं हो सकता जो स्वयं सब व्यक्तियों का योग है।"

हीगल के निष्कर्षों का वर्णन करते हुए डा. गार्नर कहते हैं कि "राज्य हीगल के लिए एक 'ईश्वर-राज्य' है जो कभी गलती नहीं कर सकता, सर्वशक्तिमान है और व्यक्ति से उन सभी बलिदानों के पाने का अधिकारी है जिनकी उसके हित को जरूरत हो। अपनी सर्वशक्तिमान् प्रकृति और अपने बलिदान और भक्ति के कारण जिनको धारण करना उसका अधिकार है वह व्यक्ति को ऊंचा उठा देता है तथा उसे उत्तम बना देता है जिसकी प्रवृत्ति स्वार्थी बनने की है और उसे सार्वलौकिक वस्तु के जीवन की ओर वापिस ले जाता है।" ("The State to Hegel is a 'God State' incapable of wrong, infallible, omnipotent and entitled to every sacrifice which its interest

may require of the individual. By virtue of his transcedent character and of its sacrifice and devotion which it has a right to command it elevates and ennobles the individual, whose tendency is to become selfish and self-centred, and carries him back into the life of universal substance."—Dr. Garner) चूंकि राज्य को एक यथार्थ और जीवित व्यक्तित्व माना गया है इसलिए वह स्वयं ही एक लक्ष्य है जिसके अपने कुछ अधिकार हैं। व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं हैं और राज्य के अधिकार व्यक्ति के अधिकारों से ऊपर जाते हैं।

यह निरंकुश सिद्धान्त की चरम सीमा है। शान्ति एवं युद्ध सभी समयों में राज्य कानूनतः अपने नागरिकों के जीवन पर पूर्ण अधिकार अथवा शक्ति का प्रयोग कर सकता है। न ही कानून अथवा सिद्धान्त में ऐसी कोई बात है जिससे उसके आदेशों का विरोध किया जा सके क्योंकि जिन पर वह शक्ति का प्रयोग करता है वे उनसे भिन्न नहीं हैं जो उसकी आज्ञापालन अनिच्छा से करते हैं। युद्ध-काल में राज्य के आदेशों को पूर्णतया मान्य होना चाहिए और वह जैसा चाहे वैसा करे और जब एक बार संकट की घोषणा कर दी जाय तो सब नागरिकों को अपना जीवन और सम्पत्ति राज्य को अर्पित कर देने चाहियें।

(ब) आलोचना :

१—यह सिद्धान्त निरंकुशता की ओर ले जाता है : आदर्शात्मक सिद्धान्त को सिद्धान्ततः अयुक्ति-सिद्ध, वास्तव में असत्य और वर्तमान राज्यों के विदेशी नीति सम्बन्धी कार्यों को एक खतरनाक सीमा तक बढ़ा देने की सम्भावना वाला कहकर बुरा बताया गया है। हिटलर तथा मुसोलिनी हीगल के अन्धानुयायी थे। उसके परिणाम मानवता के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुए। यह सिद्धान्त अन्त में मनुष्य की नीच प्रवृत्ति को उभाड़ता है जिसका परिणाम अविवेकपूर्ण खून-खराबी होता है।

२—नीति वैयक्तिक होती है : इसी प्रकार यह कथन कि, राज्य नीति के सिद्धान्तों के ऊपर है और वह राज्य है जो नीति निर्धारित करता है, भी असत्य है। नीति वैयक्तिक बुद्धि शीलता का विषय है और राज्य द्वारा निर्धारित नीति का कोई भी नुस्खा मनुष्य के अन्तःकरण पर कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता जब तक कि वह स्वयं ही मनुष्य को उचित न जँचे।

३—राज्य और समाज भिन्न हैं : राज्य को मानव-समाज के सम्पूर्ण योग के प्रतिरूप कहना भी एक असत्य तथ्य है। राज्य और समाज दो भिन्न चीजें हैं। जैसे ही यह भेद किया जाता है हीगल की राज्य की धारणा जमीन पर चित्त आ गिरती है।

४—व्यक्ति को बहुत दबा दिया जाता है : इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का अपना एक व्यक्तित्व है जो उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व के ऊपर है जो उसका निर्माण करते हैं। यह सिद्धान्त निरर्थक कहकर अस्वीकृत कर दिया गया है। ड्युग्वी (Duguit) तथा मैकाइवर इसे काल्पनिक मानते हैं। यह धारणा राज्य की सर्वशक्तिमत्ता और व्यक्ति की अत्यन्त कठोर आधीनता का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत की जाती है। इसके अनुसार मनुष्य को अपना जीवन तथा घर तक राज्य के लिए कुर्बान कर देना चाहिए। यह सिद्धान्त व्यक्ति को राज्य के प्रति विद्रोह करने का अधिकार भी नहीं प्रदान करता। जब राज्य किसी आलोचना को भी सहन नहीं करता तो ऐसा कोई अधिकार कैसे सम्भव हो सकता है? इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त मनुष्य को उन अधिकारों को भी नहीं देना चाहता जिन्हें प्राकृतिक अधिकार कहा जाता है।

५—राज्य एक साधन है : इस सिद्धान्त की व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध के बारे में भी आलोचना की जाती है। यह सत्य है कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास समाज में रहकर ही कर सकता है। लेकिन इस तथ्य के मानने का अर्थ यह नहीं कि राज्य की सर्वशक्तिमता को भी मान लिया जाय। राज्य लक्ष्य नहीं है; वह एक लक्ष्य का साधनमात्र है और उसका अस्तित्व मनुष्य के कल्याण के लिए है।

६—यथार्थ और अवास्तविक इच्छा का अन्तर गलत है : न यथार्थ इच्छा, जिसका कि व्यक्ति को ज्ञान नहीं होता, और अवास्तविक इच्छा, जिसका उसको बोध होता है, के अन्तर में ही कोई सत्यता है। "वह केवल-मात्र उनको, जो साधारणतया प्रभुत्व-प्राप्त राज्य के पूर्णतया-स्वेच्छाचारी और अत्याचारी कार्य करने लगें, न्याय और प्रजातन्त्र का दिखावा अथवा बाह्यरूप प्रदान करता है।" ("It is only a device for giving an appearance of justice and democracy to what must otherwise appear the purely arbitrary and tyrannical acts of Sovereign State.")

Q. 26. "After all, the state is not itself an end, but merely the means to an end." Discuss this statement and Explain the ends of the state.

(Punjab 1942; Bombay 1941)

"आखिर राज्य स्वयं एक लक्ष्य नहीं है वरन् एक लक्ष्य का साधन मात्र है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा राज्य के लक्ष्यों को समझाइए।

Ans.

राज्य लक्ष्य है अथवा साधन ?

इस प्रश्न पर राजनीतिक विचारकों में बहुत मतभेद है। कुछ विचारकों का मत है कि राज्य एक लक्ष्य है जब कि दूसरों का मत है कि वह एक लक्ष्य का साधन मात्र है। इन दो मतों में से कौनसा मत ठीक है ? सत्य यह है कि ये दोनों ही मत आंशिक रूप में ठीक हैं और आंशिक रूप में गलत। वास्तव में राज्य एक लक्ष्य और साधन दोनों ही है। यदि राज्य को केवल मात्र लक्ष्य ही माना जाय तो परिणाम होगा व्यक्ति के मूल्य पर राज्य को अनावश्यक महत्व प्रदान करना। राज्य को लक्ष्य मानने का तर्कित निष्कर्ष आधुनिक अधिनायक तन्त्र (Fascism) है। इटली के Labour

Charter की प्रथम धारा में लिखा है :

"इटली का राष्ट्र एक जीवधारी शरीर है जिसके अपने लक्ष्य हैं, अपना जीवन है और साधन हैं जो अपनी सत्ता और स्थिरता में किसी भी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह से श्रेष्ट है जो कि उसका निर्माण करते हैं। यह आध्यात्मिक, राजनैतिक और आर्थिक इकाई है जो अपना सम्पूर्ण प्रत्यक्षीकरण अपने अधिनायकतन्त्रीय राज्य में प्राप्त करती है।" ("The Italian nation is an orgonisn having ends, a life and means, superior in power and duration to the single individuals or groups of individuals comprising it. It is moral, political and economic unit which finds its integral realisation in its Fascist state.") दूसरी ओर यदि हम राज्य को केवल साधन ही मान लें जिसका उद्देश्य अधिक-से-अधिक व्यक्तियों के कल्याण में वृद्धि करना है तो यह राज्य के वास्तविक स्वरूप के प्रति अन्याय होगा। जैसा कि डा० आशीर्वादम ने संकेत किया है "इस मत के विरुद्ध प्रधान आपत्ति यह है कि राज्य किसी एक पीढ़ी के कल्याण का ही ध्यान नहीं करता। वह आने वाली पीढ़ियों के कल्याण का भी ध्यान रखता है और दूर के लक्ष्य की पूर्ति के लिए अपने नागरिकों पर अनेक कार्य लाद देता है। यह स्पष्ट है, कि वैयक्तिक कल्याण राज्य का केवल मात्र लक्ष्य नहीं है।"

इसलिए केवल यही मत ठीक है कि राज्य एक लक्ष्य एवं साधन दोनों ही है। विलौबी (Willoughby) ने इस सामान्य, मत की अनुकूलता पर प्रकाश डाला है। उसने लिखा है कि यदि हम केवल राज्य को वैयक्तिक दृष्टिकोण से देखें तो वह केवलमात्र एक साधन है अथवा ऐसी मशीन है जिसके द्वारा मानवता का उच्चतम विकास प्राप्त किया जाता है। लेकिन यदि राज्य को नागरिकों, जो कि उसका निर्माण करते हैं, से पृथक् एवं भिन्न संस्था के रूप में देखा जाय तो वह सचमुच ही स्वयं एक लक्ष्य है। ब्लंश्ली

(Bluntschli) ने राज्य के द्वैध स्वरूप की व्याख्या एक उपमा द्वारा की है। "एक चित्र अक्सर कलाकार के लिए जीविका कमाने का साधन होता है, लेकिन फिर भी कला की एक सच्ची कृति कलाकार के लिए उसके उच्चतम प्रयत्न का उद्देश्य होती है; उसमें वह अपनी सजीव भावना की अभिव्यक्ति देखता है; उसके आदर्श का मूर्त रूप होता है। इस प्रकार उसका स्वयं भी एक लक्ष्य होता है।" डा० आशीर्वादम इस उपमा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि इसी तरह राज्य भी व्यक्ति के कल्याण के लिए एक साधन है और साथ ही स्वयं एक लक्ष्य भी क्योंकि वह व्यक्तियों के किसी विशेष समूह अथवा पीढ़ी के हित के बहुत आगे को देखता है।

राज्य के लक्ष्य क्या हैं?

बहुत प्राचीन समय से लेखकों ने राज्य के लक्ष्य की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। राज़नीति-विज्ञान के निर्माता अरस्तू (Aristotle) ने सर्वप्रथम राज्य का लक्ष्य निर्धारित किया था और वह लक्ष्य आज भी सर्वोत्तम माना जाता है। उसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति केवल व्यक्ति के जीवन के लिए हुई और वह उसके उत्तम जीवन के लिए कायम रहता है। सत्रहवीं सदी में लॉक (Locke) ने भी लगभग ऐसा ही लक्ष्य राज्य का बताया जब उसने कहा कि राज्य का लक्ष्य "मानवता का हित" है।

उन्नसवी और विशेषकर बीसवीं सदी में राज्य के लक्ष्य के प्रश्न को अधिक महत्व दिया जाने लगा और इस विषय पर एक विशाल साहित्य उठ खड़ा हुआ। हमारे लिए यह बहुत कठिन है कि यहां पर विभिन्न लेखकों द्वारा बताए गए राज्य के सभी लक्ष्यों का वर्णन कर सकें। अस्तु हम यहां केवल कुछ अधिक प्रसिद्ध लेखकों द्वारा बताए राज्य के लक्ष्यों का सारांश देंगे।

प्रसिद्ध जर्मन-लेखक ब्लंश्ली (Bluntschli) के अनुसार राज्य का लक्ष्य राष्ट्रीय क्षमता का विकास, राष्ट्रीय जीवन का विकास और अन्त में उसकी पूर्णता है। किन्तु इसके साथ यह भी आवश्यक है कि "राजनैतिक विकास की प्रक्रिया मानवता के भाग्य के विपरीत न हो

के अनुसार राज्य का प्राथमिक उद्देश्य राष्ट्रीय सत्ता कायम करना और उसका विकास करना है तथा अन्तिम उद्देश्य "मानयता का भाग्य" है। इस प्रकार लेखक ने राष्ट्रीय विकास और मानवता के हित को एक साथ जोतने का प्रयत्न किया है जो कि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है।

एक आधुनिक अमरीकी लेखक बर्गेस (Burgess) ने राज्य के तीन लक्ष्य बताये हैं: प्राथमिक, माध्यमिक और अन्तिम। राज्य का प्राथमिक लक्ष्य शासन तथा नागरिक स्वतन्त्रता की स्थापना एवं रक्षा करना है। माध्यमिक लक्ष्य राष्ट्रीय प्रतिभा का विकास और राष्ट्रीय सिद्धान्त की पूर्णता प्राप्त करना है। अन्तिम लक्ष्य है मानवता की पूर्णता और मानव सभ्यता की अभिवृद्धि। यह बात ध्यान देने योग्य है कि बर्गेस का विचार है कि प्रत्येक उद्देश्य अग्रगामी उद्देश्य की प्राप्ति का साधन भी है।

एक अन्य प्रसिद्ध लेखक गार्नर ने अपनी पुस्तक "Political Science and Government" में बर्गेस के द्वारा बताए राज्य के लक्ष्य की आलोचना की है। उसकी आलोचना का आधार यह है कि बर्गेस के लक्ष्य में साधन और लक्ष्य में स्पष्टता नहीं है। उदाहरणतः वह कहता है कि "यह देखना कठिन है कि सरकार की स्थापना को एक लक्ष्य क्यों माना जाय जिसे प्राप्त करना है? उसे तो साधन माना जाना चाहिए जिसके द्वारा लक्ष्य प्राप्त किए जाते हैं।" बर्गेस द्वारा बताए गए लक्ष्य के स्थान पर गार्नर ने अपने तीन लक्ष्य रखे हैं जो इस प्रकार हैं:—

१—राज्य के नागरिकों में शान्ति, व्यवस्था, सुरक्षा तथा न्याय कायम रखना।

२—समाज की सामूहिक आवश्यकताओं की अभिवृद्धि अर्थात समाज का कल्याण।

३—सभ्यता की अभिवृद्धि और मानवता की प्रगति।

इन विभिन्न मतों की परीक्षा करने से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राज्य का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करना है और

इस सम्बन्ध में हमें फिर पीछे जाकर अरस्तू के स्वर-में-स्वर मिलाकर यही कहना पड़ता है कि "राज्य की उत्पत्ति जीवन के लिए हुई और श्रेष्ट जीवन के लिए वह बना हुआ है।" ("The State originated for life and it continues for good life.")

९—राज्य का प्रभुत्व और बहुवाद

Q. 27. What is meant by sovereignty? What are its essential attributes?

Or

"Sovereignty is the original, absolute, unlimited power over the individual subiect and over all associations." Explain and discuss.

(Calcutta 1942; Punjab 50, 1941, 36; Madras 1937.)

प्रभुत्व से क्या तात्पर्य है? उसके लक्षण क्या हैं?

अथवा

"प्रभुत्व व्यक्ति तथा सर्वस्व समुदायों पर मौलिक, पूर्ण एवं अमर्यादित शक्ति है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

Ans.

(अ) प्रभुत्व का अर्थ—

प्रभुत्व राज्य का एक आवश्यक तत्व है। इसके अँग्रेजी शब्द "Sovereignty" की उत्पत्ति लेटिन भाषा के "Superanus" शब्द से हुई है जिसका अर्थ सर्वोच्च है। इस प्रकार प्रभुत्व शब्द से हमारा तात्पर्य राज्य की सर्वोच्चता से है। प्रभुत्व के दो पक्ष हैं: आन्तरिक और बाह्य। एक राज्य को किसी अन्य बाह्य शक्ति के हस्तक्षेप तक नियन्त्रण से सर्वथा स्वतन्त्र होना चाहिए। इस प्रकार राज्य के प्रभुत्व से हमारा तात्पर्य राज्य की अपनी प्रादेशिक सीमाओं में सर्वोच्चता और बाह्य हस्तक्षेप तथा नियन्त्रण से मुक्त होना है।

प्रभुत्व की आधुनिक धारणा का प्रथम वैज्ञानिक प्रतिपादन फ्रांसीसी दार्शनिक बोदाँ (Jean Bodin) ने किया था। उसने उसकी परिभाषा इस प्रकार की थी : "नागरिकों तथा प्रजा पर कानून से अमर्यादित राज्य की सर्वोपरि सत्ता का नाम प्रभुत्व है।" इस प्रकार उसने राज्य के आन्तरिक प्रभुत्व पर ही जोर दिया था। ग्रोशस (Hugo Grotius) ने अपेक्षाकृत उत्तम परिभाषा दी। उसने कहा कि "प्रभुत्व सर्वोच्च राजनैतिक शक्ति है जो ऐसे व्यक्ति में केन्द्रित है जिसके कार्य किसी अन्य के अधीन नहीं हैं और जिसकी इच्छा का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता।" आधुनिक लेखकों में विलॉवी (Willoughby) के अनुसार "प्रभुत्व राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।" विल्सन (Woodrow Wilson) ने उसे "नित्य प्रयोग में आने वाली कानूनों को बनाने तथा उन्हें लागू करवाने की शक्ति कहा है।" बर्गेस ने उसकी परिभाषा में कहा है कि "वह समस्त व्यक्तियों एवं संस्थाओं पर मौलिक, निरपेक्ष और असीमित सत्ता है।" एक अन्य स्थान पर उसने यह परिभाषा दी है : "यह आदेश देने तथा उसका पालन कराने की बेरोक एवं स्वतन्त्र सत्ता है।"

(ब) प्रभुत्व के लक्षण :

अब हमें प्रभुत्व के लक्षणों की विवेचना करनी चाहिए। प्रभुत्व के लक्षण निम्नलिखित हैं :

१—स्थायित्व

२—अनन्यता

३—सर्वव्यापिता

४—असीमता

५—अविच्छेद्यता, और

६—एकता

१—स्थायित्व : स्थायित्व प्रत्येक राज्य का लक्षण है और चूँकि प्रत्येक राज्य प्रभुत्व-प्राप्त होता है वह तदनुसार स्थायी होता है। राज्य का प्रभुत्व उस समय तक बिना विघ्न के कायम रहता है जब तक स्वयं राज्य

का अस्तित्व रहता है। शासक की मृत्यु अथवा सरकार में परिवर्तन का अर्थ प्रभुत्व प्राप्त शक्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता। सरकारें बदलती रहती हैं, राज्य कायम रहता है। इसीलिए हम ब्रिटिश संविधान में सुनते हैं कि "राजा मर गया है, राजा चिरंजीवी हो। ("The King is dead, long live the King.") प्रभुत्व के इस पहलू को निम्न साधारण नियम में बाँध सकते हैं "प्रभुत्व के अन्त का अर्थ राज्य की समाप्ति है।"

२—सर्वव्यापिता : प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक व्यक्तियों के समुदाय को राज्य की एक प्रभुत्व-प्राप्त शक्ति के अधिकार में होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति अथवा संगठन, चाहे वह कैसा भी सार्वभौमिक हो, राज्य के प्रभुत्व पर असर नहीं डालता। यदि वह ऐसा करता है तो वह राज्य के अन्तर्गत एक राज्य बन जाता है। डा० गार्नर (Dr. Garner) के शब्दों में प्रभुत्व अपने कार्य रूप में राज्य के अधिकार-क्षेत्र के बराबर होता है और उसके दायरे में राज्य के सभी व्यक्ति और वस्तुएं आ जाती हैं। आधुनिक राज्य अपने अधिकार-क्षेत्र में किसी भी ऐसे व्यक्ति को प्रस्वीकृत नहीं करता जो उसकी समान शक्ति वाला हो।

प्रभुत्व-प्राप्त शक्ति की सार्वभौमिक विशेषता एक अपवाद को छोड़कर नितान्त सत्य है। हम जानते हैं कि प्रत्येक आधुनिक राज्य में दूसरे देशों के राजदूत रहते हैं। जिस स्थान में वे रहते हैं उसे "दूतावास" (Embassy) कहा जाता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक नियम है कि दूतावास के सदस्य उस देश के कानून के अधीन होते हैं जिस देश का झण्डा उस पर फहराया जाता है। सांकेतिक भाव में उसका अर्थ है राजनैतिक प्रतिनिधियों का अतिरिक्त प्रादेशिक प्रभुत्व। लेकिन यह बात भी नोट करनी चाहिये कि यह रियायत अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टता का मामला है जो प्रत्येक राज्य सम्बन्धित राज्यों के राजदूतों को प्रदान करता है। उसके प्रभुत्व की सार्वभौमिकता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यदि कोई राज्य ऐसा चाहे तो वह इस विशेषाधिकार को प्रदान करने से मना कर सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब प्रभुत्व-प्राप्त राज्यों ने अतिरिक्त प्रादेशिकता (Extra terr-

itoriality) के विशेषाधिकार को ले लिया था।

अनन्यता : प्रभुत्वप्राप्त शक्ति अनन्य होती है। उसकी प्रतिस्पर्धा करने वाली दूसरी शक्ति नहीं होती। अन्यथा उसमें कोई भी प्रभुत्व-प्राप्त नहीं है। राज्य के अन्दर केवल एक की सर्वोच्च शक्ति हो सकती है जिसे निवासियों की आज्ञाकारिता प्राप्त करने का अधिकार होता है। राज्य के अन्तर्गत अन्य-अन्य अधिकारी भी हो सकते हैं जो शक्ति का प्रयोग करते हैं पर उनकी शक्ति प्रदत्त (Delegated) होती है न कि मौलिक। प्रभुत्व के विभाजन का अर्थ उसका नष्ट होना है। इसलिए उसका विभाजन नहीं किया जा सकता।

४—असीमता : इसका यह अर्थ है कि प्रभुत्व-प्राप्त शक्ति असीमित होती है और किसी अन्य उच्चतर शक्ति के आगे झुकती नहीं है। इसके विपरीत मत रखने का अर्थ है एक उच्चतर शक्ति के अस्तित्व की कल्पना करना जिसके द्वारा प्रभुत्व मर्यादित रहता है। कानूनी पदावली में यह कथन सर्वथा सत्य है। एक प्रभुत्व-प्राप्त शक्ति जैसा भी चाहे कानून बना और मिटा भी सकती है। राज्य की सीमा में कोई अन्य शक्ति नहीं है जो इस सर्वोच्च शक्ति के भोग पर प्रतिबन्ध लगावें। राज्य के बाहर भी उससे बड़ी कोई शक्ति नहीं है। लेकिन एक कानूनी सत्य व्यवहार में झूट भी हो सकता है क्योंकि इस असीमित शक्ति पर बहुत से प्रतिबन्ध हैं। ये सीमायें स्वयं राज्य की प्रकृति से ही उत्पन्न हैं। राज्य की सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग सरकार के द्वारा किया जाता है जो कि उसकी कार्यसंचालिका होती है। सरकार व्यक्तियों से मिलकर बनती है। कोई भी व्यक्ति प्रकृत्यः निर्दोष नहीं होता और एक दोषपूर्ण सत्ता असीमित नहीं हो सकती। यही नहीं, प्रत्येक सरकार की शक्ति की परिस्थितियों के अनुरूप व्यवस्था करनी चाहिए। यदि व्यवस्था परिस्थितियों के अनुरूप की जाय तो उसका अर्थ सर्वोच्च शक्ति पर स्पष्ट प्रतिबन्ध है। डिसे (Dicey) के अनुसार प्रतिबन्ध दो प्रकार के हैं : (१) आन्तरिक प्रतिबन्ध और (२) बाह्य प्रतिबन्ध।

बाह्य प्रतिबन्ध का उदय इस सम्भावना से होता है कि एक व्यक्ति

कानूनों को न माने यदि सर्वोच्च शक्ति अपने अधिकार का प्रयोग जनता की इच्छाओं के प्रतिकूल और मनचाहे ढंग से करे। यही नहीं, कुछ नैतिक बातें भी हैं जिनके विरुद्ध आचरण करने का साहस कोई भी शासक नहीं कर सकता। यह एक आन्तरिक प्रतिबन्ध है और अत्यन्त निरंकुश शासक भी इन दोनों विचारों से प्रतिबन्धित होता है। दो अन्य प्रकार के प्रतिबन्ध भी हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून और संवैधानिक कानून के फल हैं।

५—अविच्छेद्यता :—राज्य का प्रभुत्व अविच्छेद्य है, अर्थात्, वह अन्य स्थान में बदला नहीं जा सकता। यदि ऐसा होता है तो राज्य का लोप हो जाता है। Lieber कहता है कि 'प्रभुत्व का स्वत्व अलग नहीं किया जा सकता जिस प्रकार कि एक वृक्ष अपने फलने-फूलने के अधिकार को नहीं छोड़ सकता अथवा एक व्यक्ति बिना अपना नाश किए अपना जीवन दूसरे व्यक्ति को नहीं दे सकता।' रूसो का भी ऐसा ही विचार है यद्यपि उसने यह स्वीकार किया है कि शक्ति को स्थानान्तरित किया जा सकता है। लेकिन कुछ अन्य विद्वान् हैं जिनका मत है कि राज्य का यह लक्षण इतिहास की घटनाओं के विरुद्ध है। राज्य के प्रदेश के एक भाग का दूसरे राज्य में स्थानान्तरित करने का अर्थ प्रभुत्व का नाश नहीं होता। प्रदेश का अधिकारत्याग और प्रभुत्व के स्वत्व का अलग किया जाना एक ही बात नहीं है। हाँ, यह ठीक है कि इस क्रम से राज्य अपने उस भाग पर प्रभुत्व को खो देता है जिस पर उसने अधिकार त्याग कर दिया है।

इसीसे मिला हुआ "Imprescriptibility" का लक्षण है जिसका अर्थ है कि सर्वोच्च शक्ति खोई नहीं जा सकती यदि उसका बहुत काल से प्रयोग नहीं किया गया है। डा० गार्नर के शब्दों में "Sovereignty cannot be lost by mere lapse of time as property in land may be lost by prescription at private law."

६—एकता :—राज्य का प्रभुत्व एक इकाई है और इसलिए अविभाज्य है। वह राज्य की सर्वोच्च इच्छा है और उसकी किसी अन्य साधन

द्वारा अभिव्यक्ति का अर्थ सर्वोच्च इच्छा का विभाजन नहीं है।

लेकिन अमरीकी लेखकों का विचार इसके विपरीत है। Madison कहता है कि "एक संघ-राज्य में प्रभुत्व एक ओर राज्यों और दूसरी ओर केन्द्र में विभाजित रहता है।" एक संघ में कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वतन्त्र राज्यों का संगठन होता है। तदनुसार एक नई सरकार का निर्माण किया जाता है जिसे केन्द्रीय सरकार कहा जाता है। वे विषय जो सब राज्यों के सामान्य काम के होते हैं केन्द्रीय सरकार को दे दिए जाते हैं और शेष राज्यों के पास रहते हैं। अमेरिकन मत यह था कि केन्द्रीय सरकार अपने अधिकार क्षेत्र में सर्वोच्च बनी रहती है और राज्य अपने क्षेत्र में और इसलिए इसका अर्थ प्रभुत्व का विभाजन है। लेकिन यह सही मत नहीं है। संघ की इकाइयां प्रभुत्व-प्राप्त अंग नहीं होतीं—न पूर्णतः और न आंशिक रूप में ही। वे संगठन द्वारा एक नया राज्य निर्माण करती हैं और इस प्रकार एक नई प्रभुत्व-प्राप्त सत्ता का जन्म होता है। वास्तव में संघ में प्रभुत्व संविधान शोधन करने वाली शक्ति के अन्दर रहता है। न केन्द्रीय सरकार और न राज्य ही प्रभुत्व-प्राप्त होते हैं। इसलिए यह कहना सत्य है कि प्रभुत्व अविभाज्य है।

Q. 28. Explain clearly the following concepts:

(a) Legal Sovereignty

(b) Political Sovereignty and

(c) Popular Sovereignty

(Calcutta 1944, 42, 41; Punjab 1941, 40; Dacca 1935; Bombay 1935.)

निम्नलिखित धारणाओं की व्याख्या कीजिए :

(अ) कानूनी प्रभुत्व

(ब) राजनैतिक प्रभुत्व और

(स) लोक प्रभुत्व।

Ans.

प्रभुत्व राज्य का एक निर्माणकारी तत्व है। तब तक राज्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है जब तक कि एक आन्तरिक संगठन ऐसा न हो जो उसकी आज्ञाओं का पालन करवा सके। राज्य के लिए यह भी आवश्यक है कि उसका अपने प्रदेश में रहने वाले व्यक्तियों पर पूर्ण अधिकार हो और वाह्य नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त हो। राज्य का यह लक्षण प्रभुत्व कहलाता है। इसका अंग्रेजी शब्द Sovereignty है जिसकी उत्पत्ति लेटिन भाषा के शब्द 'Superanus' से हुई है। इसका सर्वप्रथम वैज्ञानिक अर्थ में प्रयोग फ्रान्सीसी लेखक बोदाँ (Jean Bodin) ने किया था।

प्रभुत्व की धारणा को हम दो मुख्य दृष्टिकोणों से देख सकते हैं। यह अभाग्य की बात है कि राज्य का आधार-तत्व होते हुए भी प्रभुत्व शब्द के एक से अधिक अर्थ हैं।

१—**कानूनी प्रभुत्व** :—कानूनी प्रभुत्व उस समुदाय में रहता है जिसे कानून द्वारा आदेश जारी करने की शक्ति मिली होती है। वह यही शक्ति है जिसके आदेशों को राज्य का कानून अन्तिम कानूनी अधिकार प्रदान करता है। वह शक्ति, चाहे वह एक व्यक्ति हो या व्यक्ति-समूह हो, जिसे अन्त में कानून बनाने का अधिकार मिला है, राज्य की कानूनी प्रभु कहलाती है और कानूनी प्रभु अन्तिम शक्ति है। न्यायालय केवल उसी कानून को मान्यता प्रदान व लागू करते हैं जिसकी उत्पत्ति कानूनी प्रभु से हुई हो और इस कानून की अवज्ञा करने पर शारीरिक दण्ड मिलता है।

कानूनी प्रभु की शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है और उसका अधिकार सुनिश्चित एवं अविभक्त होता है। उसकी कानून बनाने की शक्ति पर कोई यथार्थ प्रतिबन्ध नहीं हो सकते। इंग्लैंड में कानूनी दृष्टि से सबसे बड़ी सत्ता पार्लियामैन्ट है और वह कोई भी कानून बना अथवा मिटा सकती है। वास्तव में न्यायालय केवल उन्हीं कानूनों को स्वीकृति प्रदान करते हैं जो पार्लियामैंट द्वारा बनाए जाते हैं। डिसे (Dicey) के शब्दों में इंग्लैंड की पार्लियामैंट "एक बच्चे को बालिग बना सकती है, वह छोटे बच्चे

को खड़ा कर सकती है और यदि वह ठीक समझे तो एक मनुष्य को अपने ही मुकदमे में अपना निर्णायक बना सकती है.।" ("The English Parliament can adjudge an infant as of full age; it may attain a man of treason after death; it may legitimate an illegitimate child, or, if it sees fit, make a man a judge in his own case.") तदनुसार यह निष्कर्ष निकले कि :

१—कानूनी प्रभु सदा निश्चित और निर्धारित होता है।

२—वह एक व्यक्ति हो सकता है जैसा कि एक निरंकुश शासक होता है, अथवा एक व्यक्ति-समूह हो सकता है जैसा कि इंग्लैंड की पार्लियामैंट है।

३—कानूनी प्रभु निश्चित रूप से संगठित होता है और राज्य के कानून में वह ज्ञात रहता है।

४—राज्य की इच्छा की कानूनी रूप में घोषणा करने का अधिकार केवलमात्र उसी को प्राप्त होता है।

५—नागरिकों द्वारा उपभोग किए जाने वाले सभी अधिकार कानूनी प्रभु द्वारा प्रदत्त होते हैं। यदि कानूनी प्रभु उन अधिकारों को प्रदान करता है तो वह उन्हें वापिस भी ले सकता है, इसमें यह अर्थ भी निहित है कि कानूनी प्रभु के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं हो सकते।

६—कानूनी प्रभु की शक्ति असीमित और सर्वोच्च होती है।

(२) **राजनैतिक प्रभुत्व**—कानूनी प्रभुत्व पर विचार कर लेने से ही प्रभुत्व की कठिनाइयां नहीं सुलझ जातीं। कानूनी तौर पर यह सत्य है कि पार्लियामैंट कोई भी कानून बना सकती है, न्यायालयों को उसे लागू करना होगा और उसकी शक्ति असीमित और सर्वोच्च है। लेकिन पार्लियामैंट की शक्ति अनेक प्रकार से सीमित है। वह ऐसा कोई कानून नहीं बना सकती जो कि अंग्रेज लोगों की इच्छा या हित के प्रतिकूल हो क्योंकि पार्लियामैंट के सदस्य उनकी इच्छा की उपेक्षा नहीं कर सकते

जिन्होंने उन्हें चुना है। यदि वे ऐसा करते हैं तो वे पुनः नहीं चुने जा सकते। कारलाइल (Carlyle) के शब्दों में पार्लियामैंट को यह कहना पड़ता है "मैं उनका नेता हूं इसलिए मुझे उनका अनुसरण करना चाहिए।" अन्त में उन्हीं के निर्णय के आगे कानूनी प्रभु को झुकना पड़ता है और हर दशा में उन्हीं की इच्छा अन्तिम रूप से मान्य होगी। यह शक्ति जिसका कि देश के कानून में कहीं नाम तक नहीं है वास्तव में कानूनी प्रभु के पीछे नियन्त्रण रखने वाली शक्ति है। यदि कानूनी प्रभु उसकी उपेक्षा करने का प्रयत्न करता है तो एक कानूनी सत्य राजनैतिक असत्य हो सकता है। इसलिए राजनैतिक प्रभुत्व कानूनी प्रभुत्व का अन्तिम कोप है।

यह शक्ति, अर्थात्, राजनैतिक प्रभुत्व, कानून में कहीं भी ज्ञात नहीं है। वह असंगठित और अनिर्धारित होता है। वह निश्चित भी नहीं होता। एक संकीर्ण अर्थ में हम यह कह सकते हैं कि उत्तरदायी सरकार में निर्वाचक-मण्डल ही राजनैतिक प्रभुत्व का निर्माण करता है। लेकिन यह बिल्कुल ठीक नहीं है। राजनैतिक प्रभुत्व न तो निर्वाचक-मण्डल ही है और न वह समस्त जनता का सामूहिक रूप ही कहा जा सकता है और न ही वह लोकमत की बराबरी का होता है। यह ठीक है कि निर्वाचक-मण्डल को प्रतिनिधियों के चुनने की शक्ति रहती है लेकित निर्वाचक-मण्डल की अपनी कोई स्वतन्त्र राय नहीं होती। उन पर दलबन्दी का बहुत प्रभाव होता है और मत देते समय वे पार्टी को वोट देते हैं न कि अपनी पसन्द के उम्मीदवार को। यही नहीं, निर्वाचक-मण्डल का निर्णय विज्ञापन के तीन साधनों से प्रभावित होता है, छापाखाना (Press) रंगमंच और प्रचार।

इसके अतिरिक्त समस्त जनता के समूह से भी हम राजनैतिक प्रभुत्व का अर्थ नहीं लगा सकते। सर्वप्रथम, एक प्रजातान्त्रिक देश में सभी व्यक्तियों को वोट देने का अधिकार नहीं मिला होता है। यदि उन्हें मत देने का अधिकार नहीं है तो हम यह नहीं कह सकते कि प्रतिनिधियों के निर्वाचन में उनका कोई भी हाथ है। जन-समूह प्रायः प्रजानायक के प्रभावपूर्ण भाषणों अथवा पुरोहित-वर्ग के या भूमिधारी उच्च वर्ग के प्रभाव के

समक्ष झुक जाता है। वह जनता की प्रकृति के प्रति भी एकरूप नहीं है। यही नहीं लोकमत की दो विशेषतायें होनी चाहियें। प्रथम वह लोक-प्रकृति का मत होना चाहिए और दूसरे अधिकांश जनता उसका धारण करे।

इन परिस्थितियों में हम कह सकते हैं कि राजनैतिक प्रभुत्व "उन सब प्रभावों का योग होता है जो राज्य में कानून के पीछे होते हैं।" एक प्रति-निधि सरकार में राजनैतिक प्रभु, निर्वाचक-मण्डल, धन अन्य वे सब साधन सम्मिलित होते हैं जो *प्रत्यक्षतः* अथवा अप्रत्यक्षतः जनमत निर्धारित करते हैं। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में कानूनी एवं राजनैतिक प्रभु एक ही होते हैं क्योंकि वहां मतदाताओं का कानून-निर्माण में प्रत्यक्ष हाथ होता है। पर एक प्रतिनिधि सरकार में कानूनी और राजनैतिक प्रभु भिन्न-भिन्न होते हैं। राजनैतिक प्रभु अपने प्रतिनिधि चुनते हैं और उन प्रतिनिधियों को कानून बानने का अधि-कार दिया जाता है।

(३) लोक प्रभुत्व—लोक-प्रभुत्व की धारणा और भी अधिक असंदिग्ध है और उसका किसी वैज्ञानिक अर्थ में प्रयोग नहीं होता। वह अन्त में प्रभुत्व जनता में स्थापित करता है। आजकल हम जनता के प्रभुत्व के बारे में बहुत सुनते हैं और वह एक प्रजातान्त्रिक नारा कहा जाता है। लेकिन जनता का प्रभुत्व प्राचीनकाल में भी मान्य था। वेदकाल के पहले की हिन्दू नीति अन्य देशों के लिए एक आदर्श थी। रोमन राजनैतिक विचार में हम देखते है कि Caesar ने अपनी पदवी और अन्तिम शक्ति रोमन जनता से प्राप्त की। रूसो लोक-प्रभुत्व का एक अन्य बड़ा पुजारी था। उसके मतानुसार लोक-प्रभुत्व "सामान्य इच्छा" (General Will) का प्रभुत्व था और उसके मत में "सामान्य इच्छा" सबकी इच्छाओं के उत्तम अंश का पवित्र किया हुआ सार था। वह फ्रांस की क्रान्ति का आधारभूत नारा हो गया और उस समय से आज तक वह प्रजातन्त्र की आधारभूत एवं मूल धारणा बन गया है।

इस सिद्धान्त में हमारे विश्वास के होते हुए भी हम यह निश्चित करने में असफल रहते हैं कि ये प्रभु जनता कौन है ? क्या उनसे हमारा अर्थ राज्य

की समस्त असंगठित जनसंख्या है जिसमें औरतें, बच्चे, अपराधी, असहाय और पागल सभी सम्मिलित हैं। व्यावहारिक राजनीति में समस्त जनता के प्रभुत्व का कोई अर्थ नहीं है। चूंकि वे असंगठित है इसलिए वे प्रभु नहीं हो सकते। प्रभु होने के लिए संगठन आवश्यक है। यही नहीं, प्रत्येक देश में व्यक्तियों के कुछ ऐसे वर्ग होते हैं जिन्हें मत देने तक का अधिकार नहीं होता। फ्रान्स में औरतों को मत देने का अधिकार प्राप्त नहीं है। बच्चे, असहाय, पागल और अपराधी प्रायः प्रत्येक देश में मत देने से वंचित रखे जाते हैं।

इस सब के बावजूद भी इसका यह अर्थ नहीं कि अन्त में जनता को सर्वोच्च नहीं होना चाहिए। राज्य का अस्तित्व जनता के लिए होता है और राज्य की मशीन अर्थात् सरकार किस प्रकार काम करे यह जनता की इच्छानुसार ही होना चाहिए। यद्यपि प्रतिनिधियों का निर्वाचन निर्वाचक मण्डल करता है लेकिन फिर भी मनुष्य के वोट देने के अधिकार का मापदण्ड जाति, धर्म, समाज में स्थिति या सम्पत्ति आदि का भेद नहीं होना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अन्य मनुष्यों के समान ही समाज का एक आवश्यक अंग समझा जाना चाहिए। मताधिकार प्रत्येक वयस्क को होना चाहिए और जनता के प्रतिनिधियों को राजनैतिक शक्ति का प्रयोग करना चाहिए।

Q. 29. Clearly distinguish between :—

(i) Actual sovereignty and Titular Sovereignty.

(ii) De facto and De Jure Sovereignty.

निम्नलिखित में अन्तर स्पष्ट कीजिए :—

(१) यथार्थ प्रभुत्व और नाममात्र का प्रभुत्व

(२) वास्तविक प्रभुत्व और कानूनन प्रभुत्व

Ans.

१—यथार्थ प्रभुत्व और नाममात्र का प्रभुत्व:—

नाम मात्र के प्रभुत्व (Titular Sovereignty) का अर्थ केवल

नाम का प्रभुत्व है वास्तविक नहीं। वह वास्तविक वस्तु की अपेक्षा एक सिद्धान्त ही अधिक है। एक नाममात्र के प्रभु का अर्थ है ऐसा प्रभु जो यथार्थतः प्रभुत्व-शक्ति का प्रयोग नहीं करता है। प्रभु (sovereign) शब्द का प्रयोग प्रायः एक राजा अथवा शासक के लिए किया जाता है। एक साधारण ज्ञान वाले व्यक्ति के लिए राजा ही राज्य की सबसे बड़ी शक्ति है। यह उस समय तो सत्य था जब राजा की शक्ति असीमित हुआ करती थी। परन्तु अब राजाओं की असीमित शक्ति का जमाना समाप्त हो गया है। हम प्रजातन्त्र के युग में रह रहे हैं। राजा अब सरकार की मशीन का एक अंग है और सरकार, जैसा कि हम जानते हैं प्रभु नहीं होती। वह एक साधन है स्वामी नहीं। उसी प्रकार जब राजा सरकारी मशीन का एक अंग है तो वह एक सेवक है स्वामी नहीं। स्वामी एक अन्य समुदाय है। इसलिए प्रभु शब्द का राजा के लिए प्रयोग केवल एक नाम या खिताब है।

नाममात्र के प्रभु का सबसे उत्तम उदाहरण इंग्लैंड का राजा है। यह सत्य है कि इंग्लैंड का राजा राज्य करता है पर शासन नहीं करता और राज्य तथा शासन करने में बहुत कुछ अन्तर है। शासन करने की शक्ति किसी अन्य स्थान में रहती है। वह संसद समेत राजा (King-in-Parliament) है और यही समुदाय इंग्लैंड में यथार्थ प्रभु है।

२—वास्तविक प्रभुत्व और कानूनन प्रभुत्व :

कानूनन प्रभुत्व (De jure sovereignty) कानूनी (legal) प्रभुत्व होता है और उसका आधार कानून में होता है। वह व्यक्ति या व्यक्ति-समूह जो इस प्रभुत्व का प्रयोग करता है शासन करने का कानूनी अधिकार रखता है। यह वह प्रभुत्व है जिसे कानून स्वीकृत करता है और जिसे वह शासन करने तथा आज्ञा मनवाने का अधिकार प्रदान करता है। लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि वास्तविक प्रभुत्व किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्ति-समूह द्वारा प्रयोग किया जाता है, कानूनी प्रभु द्वारा नहीं। वह व्यक्ति या व्यक्ति-समूह जो वास्तविक प्रभुत्व-शक्ति का प्रयोग करता है और जो उस समय जनता से सम्मान पाता है वास्तविक प्रभु कहलाता है।

विधिपूर्वक पालन राज्य के बाह्य प्रभुत्व पर प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक सिद्धान्त है कि उसे नागरिक कानून (Municipal Law) का एक भाग होना चाहिए और सभी सभ्य देश इसको मानते हैं। तद्नुसार कोई भी देश ऐसा कानून नहीं पास कर सकता जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुस्थापित नियमों के प्रतिकूल हो। यही नहीं, लीग आफ नेशन्स, जो समाप्त हो चुकी है, तथा राष्ट्र संघ, दोनों, सदस्य राज्यों पर यह प्रतिबन्ध लगाते हैं कि कोई भी देश उस समय तक युद्ध का सहारा न ले जब तक कि झगड़ा पहले निर्णय के लिए प्रस्तुत न किया जा चुका हो। राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् (Security Council of the U. N. O) द्वारा नियुक्त किया गया काश्मीर कमीशन भारत तथा पाकिस्तान दोनों के बाह्य प्रभुत्व पर स्पष्ट प्रतिबन्ध है।

(Q.) 31. State the Austinian theory of sovereignty and discuss the extent to which modern Austinians have modified their theory in response to subsequent criticisms.

(Allahabad 1930; Agra 1938; Bombay 1938; Madras 1936, 34; Nagpur 1942; Punjab 1946, 44, 42, 39, 37, 35)

ऑस्टिन के प्रभुत्व के सिद्धान्त का वर्णन कीजिए और बताइए कि उसके आधुनिक अनुयायियों ने अपने सिद्धान्त को आलोचनाओं के फलस्वरूप कहां तक संपरिवर्तित कर लिया है।

Ans.

(अ) सिद्धान्त की व्याख्या :

प्रभुत्व का कानूनी सिद्धान्त मूलतः ऑस्टिन (John Austin) के नाम से जुड़ा हुआ है जिसने १८३२ में "Lectures on Jurisprudence" ग्रन्थ लिखा था। ऑस्टिन ने अपने सिद्धान्त को हॉब्स, और बैन्थम की शिक्षाओं में आधारित किया है लेकिन उसका सिद्धान्त

बिल्कुल उनके जैसा नहीं है। आस्टिन का सिद्धान्त तर्क संगत है, यथार्थ है और प्रभुत्व की विश्लेषणात्मक व्याख्या है।

आस्टिन कानून की परिभाषा से प्रारम्भ करता है और उसका सिद्धान्त प्रधानतः उसकी प्राकृतिक कानून की धारणा पर आधारित है। कानून की परिभाषा उसने इस प्रकार की है "एक उच्चतम व्यक्ति द्वारा निम्न व्यक्तियों को दिया गया आदेश।" इससे वह अपने प्रभुत्व के सिद्धान्त का विकास करता है। वह लिखता है : "यदि एक निर्दिष्ट श्रेष्ठ मानव, जो इसी प्रकार के किसी अन्य श्रेष्ठ मानव के आदेशों का पालन करने का अभ्यस्त न हो, किसी-किसी समाज के अधिकांश भाग को आदेश देता है और वह अभ्यस्त रूप से उसका पालन करता है, तो उस समाज में वह मानव प्रभु होता है और वह समाज (उस श्रेष्ठ व्यक्ति सहित) राजनीतिक तथा स्वतन्त्र समाज होता है।" ("If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior, receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is sovereign in that society, and that society (including the superior) is a society political and independent.")

(ब) परिभाषा का विश्लेषण :

यदि हम उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण करें तो हमें प्रभुत्व में निम्न बातें ध्यान में रखने लायक मिलेंगी :—

१—प्रभुत्व-शक्ति अनिश्चित नहीं होती। वह निर्दिष्ट होती है।

२—प्रभु की आज्ञाओं का अभ्यस्त पालन होता है : उस निर्दिष्ट श्रेष्ठ मानव की समाज का अधिकांश भाग अभ्यस्त रूप से आज्ञापालन करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आज्ञापालन एक अभ्यास की बात होनी चाहिए न कि सामयिक। और वह आज्ञापालन समाज के अधिकांश भाग द्वारा किया जाना चाहिए। जहां समाज के अधिकांश भाग द्वारा यह अभ्यस्त आज्ञापालन नहीं होती वहां कोई प्रभु नहीं हो सकता।

३—प्रभुत्व अविभाज्य है : प्रभुत्व-शक्ति को किसी नियन्त्रण के अधीन नहीं होना चाहिए—न देश के अन्दर किसी की अधीनता न हीं बाहर के किसी व्यक्ति की अधीनता। उसकी शक्ति आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही रूपों में सर्वोच्च होनी चाहिए। उसके प्रभुत्व पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है और वह अविभाज्य है।

४—प्रभुत्व-शक्ति प्रत्येक राजनैतिक समाज के लिए आवश्यक है : प्रभुत्व-हीन (Non-sovereign) समाज न तो राजनैतिक ही कहा जा सकता है और न स्वतन्त्र ही।

५—कानून एक आदेश है : कानून प्रभु का आदेश है और जो कुछ भी वह आदेश दे वह कानून है। चूंकि वह एक आदेश है इसलिए उसकी आज्ञा पालन करने में असफल रहने पर दण्ड मिलेगा।

६—प्रजा को राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं है : अधिकार वे ही हैं जिनको प्रभु ने कानून द्वारा दिया हो और जिनकी वह देख-भाल रखता हो।

(स) आलोचना :

इस प्रकार ऑस्टिन के मतानुसार प्रभुत्व-प्राप्त शक्ति असीमित, सर्व-व्यापक, अविच्छेद्य, स्थायी, अनन्य और एक होती है। लेकिन ऑस्टिन के इस सिद्धान्त के बहुत से आलोचक हैं। वे जो कुछ कहते हैं उसका सार निम्न प्रकार है :

(१) वह अनैतिहासिक है—ऑस्टिन के इस विश्वास की, कि प्रभुत्व-शक्ति एक निर्दिष्ट उच्चतम व्यक्ति में ही होनी चाहिए, सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) क्लार्क (Clark), सिडविक (Sidgwick) और अन्य ऐतिहासिक कानून-वेत्ताओं ने अत्यन्त कटु आलोचना की है। सर हेनरी मेन का मत है कि अनेकों बार प्रभुत्व-शक्ति ऐसे व्यक्तियों के हाथों में रह चुकी है जो निर्दिष्ट नहीं थे। ऑस्टिन के अनुसार वर्णित प्रभु हमें बहुत कम मिलता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मेन ने रणजीतसिंह का उदाहरण दिया है जो कि पंजाब का एक निरंकुश शासक रह चुका है तथा जिसकी आज्ञाओं

का जरा-सा भी उल्लंघन करने पर मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। अपनी असीमित शक्ति के बावजूद भी वास्तव में वह एक भी आदेश धार्मिक नियमों तथा चलती हुई प्रथाओं के विरुद्ध नहीं जारी कर सकता था। उसके कानून मूलतः प्रथाओं, रूढ़ियों और धार्मिक नियमों से उत्पन्न होते थे।

(२) लोक-प्रभुत्व के विरुद्ध—ऑस्टिन का सिद्धान्त आधुनिक लोक-प्रभुत्व की धारणा के प्रति भी असंगत है। वह राजनैतिक प्रभुत्व की भी उपेक्षा करता है जिसके आदेश के समक्ष अन्त में कानूनी प्रभु को अवश्य झुकना चाहिए।

(३) कानून की प्रकृति की गलत धारणा—ऑस्टिन द्वारा दी गई कानून की यह परिभाषा "उच्चतम व्यक्ति द्वारा निम्न व्यक्ति को दिए गए आदेश" स्वीकार नहीं की जाती है। प्रभु का शब्द कानून नहीं हो सकता। प्रभु को परम्परागत कानून (Customary Law) को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए जिस समय वह आदेश जारी कर रहा हो। परम्परागत कानून का उद्गम निर्दिष्ट उच्चतम व्यक्ति की इच्छा में कभी नहीं हो सकता। कोई भी प्रभु अपने देश में प्रचलित रूढ़ियों तथा प्रथाओं के साथ खेल करने अथवा उनकी उपेक्षा करने का साहस नहीं कर सकता। यदि वह कभी ऐसा करता है तो वह क्रान्ति को आमन्त्रित करता है जिसके द्वारा प्रथाओं को तोड़ने वाली शक्ति स्वयं तोड़ दी जायगी। ऑस्टिन ने स्वयं भी प्रथाओं के महत्व तथा राज्य में उनके भाग को अच्छी तरह समझा था। तदनुसार उसने कहा था कि "प्रभु जो स्वीकृति देता है वही वह आदेश देता है।" (What the sovereign permits he commands.")

(४) कानून राज्य से पहले—क्रैब (Krabbe) ड्युग्वी (Duguit) जैसे लेखकों द्वारा यह भी कहा गया है कि अपनी शक्ति के प्रयोग में राज्य की कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं हो सकती। कानून का अस्तित्व राज्य के निर्माण के पहले से है और प्रभुत्व कानून द्वारा सीमित है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रतिबन्ध—अगर प्रभुत्व-शक्ति आन्त-

रिक क्षेत्र में सीमित है तो बाह्यतः भी वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों से सीमित है। इंग्लैंड की पार्लियामैंट, कानूनी प्रभु होने पर भी, ऐसा कोई कानून नहीं बना सकती जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो।

(६) वह समुदायों के अधिकारों की उपेक्षा करता है—ऑस्टिन का सिद्धान्त राज्य को प्रभुत्व प्राप्त, असीमित एवं सर्वव्यापक शक्तियां दे देता है। वहुवादी इसका विरोध करते हैं। वे एक प्रभुत्व के "शास्त्रीय" (Classical) सिद्धान्त का प्रतिरोध करते हैं और राज्य के अन्तर्गत अन्य समुदायों के महत्त्व पर जोर देते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक समुदाय की राज्य से स्वतन्त्र अभिवृद्धि है और उसका अस्तित्व भी राज्य की इच्छा पर निर्भर नहीं रहता। "ये समुदाय अपने उद्देश्यों के लिए ठीक उसी प्रकार प्रभुत्व-प्राप्त हैं जैसे अपने उद्देश्य के लिए राज्य।"

(७) संघ-राज्य में प्रभुत्व—ऑस्टिन का विश्वास है कि प्रभुत्व अविभाज्य है। लेकिन एक संघ-राज्य के सम्बन्ध में यह सत्य नहीं है। हैमिल्टन (Hamilton) और मैडीसन (Madison) जैसे अमेरिकन लेखकों का मत है कि अमेरिका में प्रभुत्व राज्यों और केन्द्रीय सरकार के बीच विभाजित है। दूसरे कुछ लेखक ऐसे हैं जो कहते हैं कि प्रभुत्व के विभाजन का अर्थ उसका नष्ट करना है। उदाहरणतः गैल्सन Galsoun ने लिखा है, "प्रभुत्व एक सम्पूर्ण वस्तु है; उसे विभाजित करना नष्ट करना है।"

यह सोचना कि एक-संघ-राज्य में प्रभुत्व विभाजित रहता है गलत है। संघीय प्रणाली में प्रभुत्व संविधान में रहता है जिससे कि केन्द्रीय सरकार तथा राज्यों की सरकारें दोनों ही अपनी शक्तियां प्राप्त करती हैं। इस प्रकार एक-संघ-राज्य में ऑस्टिन ने एक प्रभुत्व का होना संविधान में पाया होता हालांकि वह संविधान उसका "निर्दिष्ट उच्चतम व्यक्ति" नहीं हो सकता था।

यह सत्य है कि ऑस्टिन द्वारा प्रतिपादित प्रभुत्व के सिद्धान्त की वहुत आलोचना हुई है लेकिन फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि एक कानूनी सिद्धान्त के रूप में वह अत्यन्त स्पष्ट एवं तर्कसंगत है।

Q. 32. On what grounds do the Pluralists

attack the theory of sovereignty ?

(Patna 1932,42; Bombay 1935; Punjab 1948)

Or

"No longer we write Man versus the state, we write Group versus the State." Explain and Discuss. (Agra 1936)

Or

"We see the State less as an association of in dividuals in a common life; we see it more as an association of individuals already united in various groups for a further and more embarrassing purpose." (Barker)

How does this view affect the theory of sovereignty as developed by Bodin, Hobbes and Austin? (Agra 1943)

बहुवादी लेखक प्रभुत्व के सिद्धान्त की किन-किन धाराओं पर आलोचना करते हैं ?

अथवा

"अब हम मनुष्य बनाम राज्य नहीं लिखते, हम लिखते हैं समूह बनाम राज्य।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

अथवा

"हम राज्य को एक सामान्य जीवन में रहने वाले व्यक्तियों के संगठन के रूप में कम देखते हैं, हम उसे ऐसे व्यक्तियों के समुदाय के रूप में अधिक देखते हैं, जो पहले से ही विभिन्न समूहों में अन्य उद्देश्यों के लिए संगठित हैं।" (बार्कर)

यह विचार बोदाँ, हॉब्स तथा ऑस्टिन द्वारा प्रतिपादित प्रभुत्व के सिद्धान्त पर किस तरह का प्रभाव डालता है ?

Ans.

बहुवादी लेखकों (Pluralists) ने राज्य के प्रभुत्व की जो आलोचना की है वह तीन प्रकार की है ।

१—राज्य का प्रभुत्व और समूह-स्वराज्य :

राज्य के प्रभुत्व पर बहुवादी आक्रमणों में सबसे प्रथम और अधिक महत्त्वपूर्ण आक्रमण राज्य को प्रदान की गई प्रधानता पर है । वे इस बात को अनुचित समझते हैं कि राज्य को अन्य समुदायों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाय और उसे उन पर नियन्त्रण करने की शक्ति दी जाये । बहुवाद राज्य को तो रखना चाहता है पर प्रभुत्व-प्राप्त राज्य को दुत्कारता है । वह समाज के अन्तर्गत विभिन्न समूहों को, जिन्हें वह उतना ही आवश्यक एवं उपयोगी समझता है जितना स्वयं राज्य है, स्वतन्त्रता देना चाहता है । इसलिए इन समूहों को राज्य के समान उच्चता प्रदान की जानी चाहिए। विभिन्न समूह अपने कार्य करने में स्वतन्त्र होने चाहियें और राज्य को सामूहिक जीवन की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए । राज्य के साथ वे भी महत्त्वपूर्ण कार्य संपादन करते हैं । वे मानव प्रकृति के विभिन्न पहलुओं एवं आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं इसलिए वे भी उतनी ही स्वतन्त्रता के अधिकारी हैं जितना कि राज्य को समझा जाता है । इनमें से प्रत्येक समूह का अपना एक व्यक्तित्व एवं सामूहिक चेतना होती है जो कहीं बाहर से नहीं निर्मित होती । समूहों को भी कुछ विशेष कार्यों को करना होता है और इन कार्यों के करने में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि उससे असामर्थ्य और गड़बड़ी फैलती है । राज्य को उनसे उच्चता या श्रेष्ठता पाने का कोई हक नहीं है । निम्न उद्धरणों से राज्य के प्रभुत्व के प्रति बहुवाद का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायगा ।

"यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के सिद्धान्त का खण्डन हो चुका है ।" (लिन्डसे) ("If we look at the facts it is clear enough that the

theory of Sovereign State has broken down."
Lindsay)

"प्रभुत्व की धारणा को राजनीतिक सिद्धान्तों में से निकाल देना चाहिए।" (क्रैब) ("The nation of sovereignty must be expunged from political theory."—Krabbe)

राज्य के प्रभुत्व के विरुद्ध इन बलशाली तर्कों के बावजूद भी बहुवादी राज्य के प्रभुत्व को सर्वथा नष्ट कर देने में सफल नहीं हुए हैं। अधिकतर बहुवादी लेखक राज्य को एकीकरण एवं व्यवस्था करने का कार्य देते हैं। वे राज्य से यह चाहते हैं कि वह समूहों और समूहों के बीच के, समूहों और व्यक्तियों के बीच के, तथा व्यक्तियों और व्यक्तियों के बीच के मतभेदों की व्यवस्था करके समाज में से संघर्ष समाप्त कर दे।

पॉल बैन्कर (Paul Bancour) के मतानुसार राज्य का कर्तव्य यह है कि वह समूहों को अन्य समूहों तथा अपने सदस्यों के प्रति अतिक्रमण करने वाले कोई कार्य करने से रोके। लिन्डसे राज्य "समुदायों का समुदाय" ("organization of organizations") स्वीकृत करता है और अपनी अनिवार्य तथा सर्वव्यापक सदस्यता के कारण उसे अन्य समुदायों से पृथक् श्रेणी का बताता है।

इस सबके बावजूद भी यह कहना पड़ता है कि बहुवादियों ने अत्यन्त उपयोगी सेवा की है। उन्होंने समाज में समूहों के महत्व को दर्शाया है और उनके लिए अधिकाधिक स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। राज्य की निरन्तर वृद्धि पाती हुई निरंकुशता के विरुद्ध बहुवाद एक स्वागत की चीज है। इसने वास्तव में विभिन्न समूहों और समुदायों के प्रति राज्य का स्थान सन्तुलित कर दिया है।

२—राज्य का प्रभुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता :—

राज्य के प्रभुत्व के परम्परागत सिद्धान्त पर आक्रमण की दूसरी धारा अन्तर्राष्ट्रीयता के विचारों और संस्थाओं के विकास पर आधारित है। यह तर्क द्विविध है। प्रथम, यह कहा जाता है कि कानूनी प्रभुत्व का सिद्धान्त

वाह्य विषयों के सम्बन्ध में सर्वथा असंगत है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के फलस्वरूप कानूनी तथ्य बहुत बदल गए हैं। यथार्थ में राज्य का प्रभुत्व ढहता जा रहा है।

दूसरे, यह कहा जाता है कि राज्य का प्रभुत्व समाज के कृत्रिम विभाजन पर आधारित है जो अन्त में अनेक प्रकार के संघर्षों एवं प्रतिस्पर्धाओं को जन्म देता है। संसार का अनेक प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय राज्यों में विभाजन कोई स्वाभाविक एकता या हितों की समानता नहीं प्रदर्शित करता। विभाजन का स्वाभाविक आधार व्यावसायिक, सांस्कृतिक, आर्थिक अथवा मानसिक सादृश्य होगा। संसार के लोगों में इस आधार पर अधिक एकता है जितनी किसी अन्य पर नहीं।

यह कहा जाता है कि आधुनिक राज्य किसी आवश्यक सादृश्य-जातीय, आर्थिक अथवा मानसिक—का मूर्त्त रूप नहीं है तथा देशभक्ति केवल एक परम्परागत विभाजन है। वे वास्तविक भावनायें जो मनुष्यों को मिलातीं अथवा विभाजित करती हैं राजनैतिक, भौगोलिक अथवा राष्ट्रीय रेखाओं से स्वतन्त्र हैं। इसलिए इस विभाजन को समाप्त हो जाना चाहिए और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं संगठन के सिद्धान्तों को स्थान मिलना चाहिए।

लास्की (Harold J. Laski) के मतानुसार एक स्वतन्त्र प्रभु राज्य की धारणा, अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष में, मनुष्य मात्र के हित के लिए घातक है। "एक विश्व राज्य में, चाहे वह किसी भी प्रकार निर्मित हो और उसके फलस्वरूप किसी भी मात्रा में स्थानीय अधिकार-प्रदान (Decentralisation) हुआ हो, पृथक् प्रभुत्व के लिए कहीं स्थान नहीं है।"

यह तर्क बहुत सारयुक्त है। आधुनिक युग में, जब कि समस्त विश्व एक इकाई बन गया है, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं सद्व्यवहार की आवश्यकता स्पष्ट ही है। कोई राज्य, चाहे वह कैसा भी पृथक् क्यों न स्थित हो, अकेला और दूर नहीं बना रह सकता। लेकिन फिर भी एक प्रभुत्व-सम्पन्न विश्व-राज्य की स्थापना में प्रभुत्व का किसी प्रकार का विभाजन नहीं होगा क्योंकि उस दशा में प्रभुत्व विश्व-राज्य में रहेगा, और यदि उसमें प्रभुत्व का विभाजन

रहे ही तो वह स्वयं मनुष्य के विस्तृत हित में होगा।

३—राज्य का प्रभुत्व और कानून :—

प्रभुता के सिद्धान्त पर आक्रमण की तीसरी धारा उसके हित के पहलू पर है और वह कानूनों की प्रकृति तथा विषय की दृष्टि से किया गया है। दो फ्रान्सीसी लेखकों—Duguit तथा Krabbe—का यह कहना है कि राज्य कानूनों का निर्माण नहीं करता वरन् कानून राज्य को स्वीकृति प्रदान करते हैं। तदनुसार इन लेखकों की दृष्टि में कानून राज्य की अपेक्षा प्रधान है। इसलिए कानून राज्य पर उतने ही बाध्य हैं जितने किसी अन्य व्यक्ति पर। कानून केवल वही नहीं है जो सामान्य ज्ञान या सामाजिक हित चाहे। वह आवश्यक रूप में एक ऐसी वस्तु है जो एक उच्चतर शक्ति द्वारा निश्चित किए जाते हैं।

राज्य के प्रभुत्व के सम्बन्ध में लास्की का विचार :—

प्रो० लास्की (Prof. H. J. Laski) अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Grammar of Politics" में इस बात पर जोर देते हैं कि प्रभुता का सिद्धान्त अब वैध नहीं रहा। उनके मतानुसार आधुनिक राज्य एकात्मक नहीं है, वह निरंकुश नहीं है और न ही वह स्वतन्त्र है। वह अनेक स्थितियों वाली (Pluralistic) है तथा वैधानिक और उत्तरदायी है। वह उन्हीं शक्तियों द्वारा सीमित है जिनका वह प्रयोग करता है; वह अपने जारी किए गए आदेशों में निर्देशकारी है प्रभुता स्थापित करने वाला नहीं; वह निर्वाचक-मण्डल की प्रत्येक इच्छा के अनुसार बदलता रहता है न कि स्थायी है। और बाह्यतः तथा आन्तरिक क्षेत्र में दोनों ही प्रकार से उसके कार्य प्रतिबन्धों एवं पुनरीक्षण के अधीन हैं। इन आधारों पर लास्की का यह मत है कि कोई प्रभु नहीं है कोई निर्दिष्ट उच्चतम व्यक्ति नहीं है जो सर्वथा अन्तिम रूप से आदेश जारी कर सके और जिनका मानना अथवा पालन करना प्रजा के लिए आवश्यक हो।

निष्कर्ष :

अस्तु हम कह सकते हैं कि बहुवादी राज्य के प्रभुत्व को समाप्त करने

में समर्थ नहीं हुए हैं जिस उद्देश्य से वे चले थे। परन्तु फिर भी उन्होंने व्यक्तियों और समुदायों की स्वतन्त्रता प्रतिपादित करके उनका बहुत उपकार किया है। इसके लिए उन्हें राज्य का आमूल उन्मूलन नहीं करना पड़ा। वे उसे एक राजनैतिक समुदाय के रूप में बनाए रखते हैं और उसे "एकीकरण एवं व्यवस्था" (coordination and adjustment) के अतिरिक्त कार्य भी सौंप देते हैं। इसलिए बहुवाद को हम उन ज़्यादतियों के विरुद्ध स्वागत प्रतिक्रिया कह सकते हैं जो कि परम्परागत प्रभुत्व के सिद्धान्त ने अपने हीगल जैसे समर्थकों के हाथों में पड़कर किए थे।

मैरियम तथा बार्न्स (Meriam and Barnes) ने अपनी पुस्तक "History of Political Thought in Recent Times" में यह दिखाया है कि इन आक्रमणों के बावजूद भी प्रभुत्व के सिद्धान्त को त्याग नहीं दिया गया है और न ही त्यागा जा सकता है।

बार्कर तथा लास्की भी यह स्वीकृत करते हैं कि राज्य का कर्तव्य सामान्य रूपरेखा में विभिन्न समुदायों के स्वरूप का निर्धारण-करना है। Barker राज्य को "जीवन का सामान्य तथा व्यापक कार्यक्रम" ("general and all embracing scheme of life") कहता है।

Lewis Rockow ने 'Doctrine of the Sovereignty of the Constitution' पर एक लेख में यह दिखाया है कि बहुवादी आलोचना राज्य के सामाजिक संगठन पर एक सिद्धान्त बनती जा रही है। अब वह एकीकरण के एक साधन के रूप में राज्य पर आक्रमण-मात्र नहीं रह गई है। बहुवादियों ने राज्य की व्यावहारिक सीमित शक्ति एवं राज्य पर कानून की प्रधानता बताकर बहुमूल्य सेवा की है। लेकिन जब तक राज्य को कम-से-कम सिद्धान्त में, असीमित शक्ति नहीं प्रदान की जाती तो विभिन्न समुदायों की रक्षा करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा।

७—कानून और दण्ड व्यवस्था

Q. 33. What is meant by Law ?

(Calcutta 1938, 35, 32, 30; Nagpur 1943, 34; Dacca 1938, Agra 1943; Punjab 1949)

कानून का क्या अर्थ है ?

Ans.

(अ) राजनीति शास्त्र में कानून का क्या अर्थ है ?

कानून शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। जब प्रकृति संसार में उसका प्रयोग होता है तो उससे तात्पर्य है कारण और प्रभाव का अनुक्रम अथवा व्यवहार की एकरूपता जो प्राकृतिक पदार्थों में पाई जाती है। ऐसे कानून भौतिक कानून (Physical Laws) कहलाते हैं। ये प्रायः एक से रहते हैं। उदाहरण के लिए हम आकर्षण का कानून (Law of Gravitation) प्रस्तुत कर सकते हैं। दूसरी ओर जब हम सामाजिक संसार में इस शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ आचरण के उन नियमों से होता है जो समाज में रहने वाले मनुष्यों के सम्बन्धों का विनियमन करते हैं। इन नियमों के पीछे या तो लोकमत की इच्छा रहती है या समाज की नैतिक चेतना। इस दशा में वे सामाजिक कानून Social Laws) कहलाते हैं। ये कानून राज्य की शक्ति द्वारा भी लागू किए जा सकते हैं। इस दशा में वे राजनैतिक या निश्चित कानून (Positive Laws) कहलाते हैं। जब इन नियमों का सम्बन्ध मानव व्यवहार के आन्तरिक पहलू से अथवा मानव प्रवृत्तियों से होता है तो उन्हें नैतिक कानून (Moral Laws) कहा जाता है। राजनीति-शास्त्र में हमारा सम्बन्ध केवल उन निश्चित कानूनों से है जिनकी प्रकृति आदेशों के समान होती

है और जो किसी काम के करने या न करने का आदेश देते हैं और जिनके उल्लंघन का अर्थ दण्ड होता है। इसकी व्याख्या करते हुए हालैन्ड Holland लिखता है, "राजनीति-शास्त्र में कानून के अर्थ तथा सार के सम्बन्ध में इस समय तीन प्रमुख दल हैं।" उनके दृष्टिकोणों का विवेचन निम्न प्रकार किया जा सकता है :—

(ब) विश्लेषणात्मक सम्प्रदाय · "विश्वलेषणात्मक सम्प्रदाय" के प्रधान आस्टिन (John Austin) हैं। इस सम्प्रदाय की विचारधारा के अनुसार कानून के दो आवश्यक लक्षण होते हैं :—

(१) कानून एक निर्दिष्ट उच्चतम व्यक्ति का आदेश होता है। यह निर्दिष्ट उच्चतम व्यक्ति एक व्यक्ति हो या व्यक्ति-समूह जो वास्तव में किसी स्वतन्त्र राजनैतिक समाज में प्रभु होते हैं।

(२) शक्ति अथवा बल (force) कानून का सार होता है। कहने का तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति कानून का उल्लंघन करता है वह राज्य द्वारा दण्डित किया जा सकता है। राज्य के हाथ में जो शक्ति होती है वह इस बात का निश्चय करती है कि कानूनों का ठीक तरह पालन हो रहा है या नहीं। हालैन्ड के मतानुसार "कानून का सबसे प्रत्यक्ष लक्षण यह है कि वह प्रतिरोधी होता है।"

मैकियेवाली (Machiavelli) तथा बोदां (Bodin) का भी ऐसा ही मत था। हॉब्स (Hobbes) द्वारा दी गई कानून की परिभाषा भी इससे सहमत है। आस्टिन (Austin) का मत था कि कानून, चाहे वे किसी भी रूप में व्यक्त किए जाये, एक निर्दिष्ट उच्चतम व्यक्ति द्वारा निर्धारित आदेश कहा जा सकता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार कानून का एकमात्र उद्गम प्रभु (Sovereign) है चाहे वह एक व्यक्ति हो या व्यक्ति-समूह हो।

(स) ऐतिहासिक सम्प्रदाय :

ऐतिहासिक सम्प्रदाय (Historical School) मूलतः सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) तथा सैविग्नी (Savigny) के नाम से

जुड़ा हुआ है। वे विश्लेषणात्मक सम्प्रदाय द्वारा दी गई कानून की परिभाषा पर आपत्ति करते हैं। वह बहुत संकीर्ण समझी जाती है। यह कहा जाता है कि: —

(१) कानून सदा एक निर्दिष्ट उच्चतम व्यक्ति द्वारा निर्मित नहीं होता।

(२) कानून के अन्य दूसरे उद्गम भी हैं और ये आदेश की प्रकृति के नहीं होते। कानून विभिन्न प्रथाओं, रूढ़ियों, धार्मिक आज्ञाओं और अन्य तत्त्वों का फलस्वरूप होता है।

तदनुसार ऐतिहासिक सम्प्रदाय का यह मत है कि कानून विकासशील और प्रगतिशील होता है। कानून को समय की आवश्यकताओं और मांगों के अनुसार अपने को व्यवस्थित करना चाहिए। इसलिए कानून का अध्ययन उसकी परिस्थितियों, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक एवं ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए करना चाहिए। कोई भी कानून-निर्माता जनता पर ऐसा कानून नहीं थोप सकता। उसे किसी भी प्रकार परिस्थियों और राष्ट्र की रायों द्वारा न सुझाया गया हो जिसके लिए वह कार्य करता है।

(द) समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय :

समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय (Sociological school) का सब से अच्छी विवेचना करने वाला लेखक क्रैब (Krabbe) है। इस लेखक के मत में कानून "उन अनेक निर्णयों में से एक की अभिव्यक्ति है जो हम लोग अपनी प्रकृति और स्वभाव के कारण करते हैं।" ("......The expression of one of the many judgements of value which we human beings make by virtue of our disposition and nature.") हम अपने को उसके अधीन कर देते हैं जो अच्छी है, सुन्दर है और उचित है। इसलिए कानून वह है जो हमारे निर्णय और मूल्यांकन के मापदण्ड से उचित और अच्छा है। "वह किसी वाह्य कानूनी शक्ति का नहीं वरन् एक आन्तरिक मानव का विषय है।" ("...Not a matter of external legal authority but an external human matter.") सादे

शब्दों में क्रैब के अनुसार हम कानून का पालन इसलिए करते हैं कि वह हमें उचित और अच्छा लगता है न कि उसके दण्ड के भय के कारण जो कि उसके पालन न करने से मिलता है। उचित और अच्छा क्या है? वह हमारी नैतिकता का मापदण्ड है।

निष्कर्ष

कोई भी एक मत हमारी कानून की धारणा को सन्तुष्ट नहीं करता। प्रत्येक सम्प्रदाय जिस मत का प्रतिपादन करता है उसमें कुछ मात्रा में सत्य अवश्य है। हम इस तथ्य से इन्कार नहीं कर सकते कि कानून समय और समाज की मांगों के अनुसार बदलता रहता है जिसके लिए कि उसका निर्माण होता है। उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह समाज के आर्थिक, धार्मिक एवं नैतिक मापदण्ड को भी अन्तर्गत करे। इसलिए वह स्थिर नहीं वरन् प्रगतिशील होता है। उसे जनता के नैतिक दृष्टिकोण के अनुरूप अपने को बना लेना चाहिए। कानून हमें यह बताता है कि क्या करना चाहिए क्या नहीं। कानून जिस बात का आदेश देता है तथा जिस बात का निषेध करता है वह इस बात का परिणामस्वरूप है कि हमें क्या उचित लगता है और क्या अनुचित अथवा अच्छा या बुरा। कानून के पीछे नैतिक एवं भौतिक दोनों ही प्रकार की बाध्यता रहती है। भौतिक बाध्यता के लिए सरकार की संगठित शक्ति होती है। कानून इस अर्थ में आदेश है कि उसका पालन प्रत्येक व्यक्ति द्वारा होना चाहिए। इसलिए यह स्पष्ट हो गया होगा कि विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा व्यक्त तीनों ही मत एक-दूसरे के पूरक हैं। वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) द्वारा दी गई निम्न परिभाषा से यह साफ हो जायगा : "सुस्थापित विचार और अभ्यास की वह स्थिति जिसने सरकार के अधिकार और शक्ति द्वारा पोषित एकरूप नियमों की शक्ल में स्पष्ट एवं यथारीति प्रस्वीकृति प्राप्त कर ली हो।" ("That position of the established thought and habit which has gained distinct and formal recognition in the shape of uniform rules back-

ed by the authority and power of government.")

Q. 34. What are the different kinds of Laws ? Distinguish between :

(a) Statute Law and Constitutional Law.

(b) International Law and Positive Law.

कानून कितने प्रकार के होते हैं ? निम्नलिखित में अन्तर स्पष्ट कीजिए—

(अ) साधारण कानून और वैधानिक कानून

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय कानून और यथार्थ कानून

Ans.

कानून की परिभाषा:—

कानून जीवन का मार्ग है। वह समाज में एक व्यक्ति के व्यवहार के लिए प्रस्वीकृत कुछ नियमों का समूह है। सामाजिक जीवन में कानून मनुष्य और समाज के सम्बन्धों का विनिमयन करते हैं। प्रायः उनके पीछे नैतिक या भौतिक सम्मोदन रहता है। राजनैतिक अर्थ में, ऑस्टिन के मतानुसार, कानून का अर्थ अन्त में किसी स्वतन्त्र राजनैतिक समाज के अन्तर्गत प्रभुत्व-प्राप्त शक्ति के आदेशों को कहा जा सकता है। जैसा कि सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने संकेत किया है यह परिभाषा संकीर्ण है क्योंकि उसके अन्तर्गत प्रथाओं, परम्परागत नियमों की सब दशायें नहीं आतीं जो कि वास्तव में उसी प्रकार पूज्य एवं शक्तियुक्त हैं जिस प्रकार संकलित कानून। वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) इस कठिनाई को हटा देते हैं और कानून की परिभाषा इस प्रकार करते हैं : "कानून सुस्थापित विचार एवं अभ्यास की वह स्थिति है जिसने सरकार के अधिकार एवं शक्ति से पोषित एकरूप नियमों के रूप में स्पष्ट एवं यथारीति प्रस्वीकृति प्राप्त कर ली हो।" ("Law is that position of the established thought and habit which has

gained distinct and formal recognition in the shape of uniform rules backed by the anthority and power of government.") परन्तु कानून की सबसे अधिक व्यापक परिभाषा हालैण्ड (Holland) ने दी है : "कानून बाहरी आचरण का वह सामान्य नियम है जिसको एक निर्दिष्ट शक्ति लागू करती है, जो शक्ति मानवीय है और शक्तियों में वह है जो राजनैतिक समाज में सर्वोच्च है। अथवा संक्षेप में कानून बाहरी आचरण का सामान्य नियम है जिस पर एक प्रभुत्व-सम्पन्न राजनैतिक सत्ता अमल करवाती है।" ("A law is a general rule of action taking cognizance only of external acts, enforced by a determinate authority, which authority is human and among authorities is that which is paramount in political society, or briefly, a law is a general rule of external action enforced by a sovereign political authority.")

कानून के विभिन्न प्रकार—

प्रोफेसर हालैंड का कानूनों का वर्गीकरण सबसे अधिक सामान्य है। पहले वे कानूनों का विभाजन दो श्रेणियों में करते हैं : (१) निजी कानून (Private Law) और सार्वजनिक कानून (Public Law)। निजी कानून वह है जो नागरिकों के आपस के सम्बन्धों का निर्धारण करता है। उसमें राज्य से कहीं सम्बन्ध नहीं आता। वह केवल नागरिकों के अधिकारों की निजी व्यक्तियों के रूप में व्याख्या एवं विनियमन करता है। सार्वजनिक कानून का सम्बन्ध राज्य और नागरिकों से होता है। वह ऐसे नियमों का समूह है जो नागरिकों को राज्य के विरुद्ध प्राप्त होते हैं।

हालैण्ड सार्वजनिक कानून को पुनः निम्न श्रेणियों में विभाजित करते हैं : (१) वैधानिक कानून; (२) प्रशासकीय कानून और (३) अपराध कानून। वैधानिक कानून (Constitutional Law) उन सिद्धान्तों का

समूह होता है जिन पर सरकार आधारित होती है तथा उन सिद्धान्तों का जो सरकार की कार्य-प्रणाली का निर्णय करते हैं और सरकार की शक्ति की सीमाओं का निर्धारण करते हैं। प्रशासकीय कानून (Administrative Law) वह है जिसके अन्तर्गत सरकारी कर्मचारियों पर अभियोग चलाया जाता है। इसके लिए भिन्न प्रकार के नियम तथा एक भिन्न न्यायालय होता है जो इसी काम के लिए बनाया जाता है। सामान्य नागरिकों के अपने सामान्य न्यायालय और कानून होते हैं जो कि सरकारी कर्मचारियों पर लागू नहीं होते। अपराध नियम (Criminal Law) का सम्बन्ध अपराधों एवं राज्य द्वारा दी गई सज़ाओं से होता है।

प्रोफेसर गिलक्राइस्ट (Gilchrist) ने कानूनों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है: (१) वैधानिक कानून (Constitutional Law); इसका वर्णन ऊपर हो चुका है। (२) साधारण कानून (Statute Law)। यह वह कानून है जो कानून निर्मात्री सभाओं द्वारा बनाया जाता है। (३) अध्यादेश (Ordinances)। अध्यादेश सरकार की कार्यकारिणी शाखा द्वारा जारी किये जाते हैं। यह कुछ निश्चित शक्तियों के अन्तर्गत, जो कि राज्य के कानून द्वारा कार्यकारिणी के प्रधान को दी जाती हैं, ही जारी किए जा सकते हैं। सही अर्थ में ये कानून नहीं होते। वे विशेष समयों पर विशेष उद्देश्यों के लिए ही जारी किए जाते हैं जिससे शासन अधिक सुचारु और सुविधाजनक हो जाय। भारत में पहले जो गवर्नर जनरल को विशेषाधिकार मिला करते थे उनसे हम पूर्वपरिचित हैं। (४) सामान्य कानून (Common Law) यह अलिखित होता है और रीतियों और प्रथाओं पर आधारित होता है लेकिन फिर भी वह न्यायालयों द्वारा उसी प्रकार लागू किया जाता है जिस प्रकार अन्य कानून किए जाते हैं। (५) अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) यह कानून संसार के सभ्य राज्यों से सम्बन्धित होता है और नैतिकता की भावना के ऊपर आधारित एकरूप सम्बन्धों की व्यवस्था करता है।

(अ) वैधानिक कानून और साधारण कानून में अन्तर—

वैधानिक कानून (Constitutionl Law), का सम्बन्ध जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, किसी देश विशेष की सरकार के संगठन से होता है। उसके विषय-क्षेत्र में सरकार के विभिन्न अंगों की बनावट एवं सम्बन्ध तथा नागरिकों के राज्य से सम्बन्ध भी सम्मिलित होते हैं। वैधानिक कानून लिखित हो सकता है अथवा अलिखित अथवा आंशिक रूप में दोनों। वह देश की प्रथाओं, रीतियों अथवा रूढ़ियों का अचेतन किन्तु शक्तिशाली विकास हो सकता है अथवा किसी विशेष समय पर किन्हीं विशेष व्यक्तियों द्वारा निर्मित भी हो सकता है। इंग्लैंड का संविधान अधिकांश में अलिखित और विकासशील है, अमेरिका का संविधान लिखित एवं निर्मित है। यही नहीं कुछ राज्यों में वैधानिक कानून में साधारण कानून निर्मात्री सभाओं द्वारा संशोधन नहीं किए जा सकते। उसमें परिवर्तन करने के लिए एक विशेष यन्त्र की आवश्यकता होती है।

इसके विपरीत साधारण नियम (Statute Laws) देश के सामान्य नियम होते हैं जिन्हें राज्य की व्यवस्थापिका लागू करती है। वे सदा लिखित होते हैं। वे राज्य की साधारण व्यवस्थापिका द्वारा बनाए एवं संशोधित किए जाते हैं और इसके लिए किसी विशेष यन्त्र की आवश्यकता नहीं होती। साधारणतः यह कानून वैधानिक कानून के विधान (Provision) के अन्तर्गत ही लागू किया जाता है। वैधानिक कानून अपेक्षाकृत अधिक व्यापक एवं सम्मिलित होता है जबकि साधारण कानून का सम्बन्ध छोटी और विशेष समस्याओं से होता है जो देश में समय-समय पर उठ खड़ी होती हैं और न उसका जनता इतना सम्मान ही करती है जितना वैधानिक कानून का।

(ब) यथार्थ कानून और अन्तराष्ट्रीय कानून—

यथार्थ कानून (Positive Laws) एक विशेष राज्य तक ही सीमित होते हैं। वे हर राज्य में भिन्न हो सकते हैं। प्रत्येक देश आवश्यकता एवं सुविधानुसार अपने यथार्थ नियमों में संशोधन करने अथवा उन्हें बदल देने में स्वतन्त्र है। यथार्थ नियम राज्य की शक्ति की स्वीकृति द्वारा लागू

हो सकते हैं। नागरिक द्वारा उनका भंग करने का परिणाम उसका दण्डित होना है।

दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) का विस्तार समस्त विश्व में होता है और सभी राज्यों में एक समान लागू होता है। उनमें परिवर्तन अथवा संशोधन केवल अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा ही हो सकता है। उनके लागू करने अथवा उनके भंग करने पर दण्ड देने के लिए कोई समान्यतः स्वीकृति शक्ति नहीं है।

Q. 35. What are the different sources of law?

(Calcutta 1935, 32; Punjab 1940; Nagpur 1943, 34)

कानून के विभिन्न स्रोत कौन-कौन से हैं?

Ans.

कानून, जैसा कि आज हम उसे देखते हैं, विकास की विभिन्न स्थितियों से गुज़र चुका है और उसके विकास में अनेक तत्वों ने योग दिया है। ये तत्व कानून के स्रोत (Sources of law) कहे जा सकते हैं। ये निम्नलिखित हैं :—

१—रीति (Custom)
२—धर्म
३—वैज्ञानिक विवेचन
४—न्यायिक निर्णय (Judicial interpretation)
५—न्याय भावना (Equity)
६—कानून-निर्माण (Legislation) और
७—प्राचीन कानून की पुस्तकें (Ancient codes)

१—रीति:—कानून का सबसे प्राचीन स्रोत रीति थी। अर्वाचीन समाज में झगड़ों का फैसला वर्तमान सामाजिक रीतियों की सहायता से किया जाता था। ये रीतियाँ कुटुम्ब, जाति अथवा फिरके की सामान्य प्रथाओं पर

आधारित होती थीं। रीतियों की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं : ऐसे नियम जिन्हें अपनी उपयोगिता के कारण सब जगह स्वीकार किया जाता है तथा माना जाता है। कभी-कभी मनुष्य आचरण के किसी विशेष मार्ग का अनुसरण इसलिए करने लगते हैं कि उनके लिए वैसा करना सुविधाजनक है। वह आचरण का मार्ग दुहराया जाता है क्योंकि वह मनुष्यों के लिए उपयोगी है। समय की गति के साथ वे उसके प्रयोग के अभ्यस्त हो जाते हैं और वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को चलता रहता है। कभी-कभी कोई रीति आकस्मिक रूप से भी उठ खड़ी होती है और मनुष्य उसका अनुसरण करने लगते हैं।

आचरण के नियम स्वयं में ही कानून नहीं होते, बल्कि वे कानून बन जाते हैं जब वे राज्य की निश्चित शक्ति द्वारा प्रस्वीकृत कर लिए जाते हैं। राज्य की कोई भी मशीन उनकी उपेक्षा नहीं कर सकती। यदि वह ऐसा करती है तो वे लोग जो उनका अनुसरण करते हैं उस स्थापित शक्ति के विरुद्ध विद्रोह कर देते हैं। तदनुसार वे राज्य के कानून के रूप में परिणत कर दिए जाते हैं। इंग्लैंड का सामान्य कानून (Common Law) प्रधानतः रीतियों से ही बना है।

२—धर्म:—अर्वाचीन समाज में रीति-कानून (Customary law) और धर्म एकरूप थे। आचरण के सभी नियमों को धार्मिक समर्थन प्राप्त था। पिता, फिरके के मुखिया और राजा के कार्य धार्मिक धारणाओं पर आधारित थे। राज्य के विकास की प्रारम्भिक स्थितियों में पुरोहित राजाओं की संस्था अर्वाचीन समाज में धर्म के महत्वपूर्ण भाग का निदर्शन करती है। अभी भी भारत में Hindu law का सबसे अधिक प्रभावशाली आधार मनुस्मृति (The Code of Manu) है। मनुस्मृति आंशिक रूप से धार्मिक है और आंशिक कानूनी है। Mohammedan law भी क़ुरान पर आधारित है।

३—वैज्ञानिक विवेचन :—कानून के विकास में प्रसिद्ध लेखकों के विवेचनों का महत्व भी किसी तरह कम नहीं है। प्रत्येक देश में प्रसिद्ध कानूनी

लेखकों के मतों को बहुत महत्व दिया जाता है। ये विद्वान् कानून की अत्यन्त सूक्ष्म विवेचना करते हैं और वर्तमान कानूनों की विस्तृत व्याख्या करते हैं तथा जहाँ-कहीं उनमें दो अर्थ लगाए जाने की सम्भावना होती है वहां उसे स्पष्ट कर देते हैं। वे समाज में उसके प्रभाव की विवेचना भी करते हैं। जब किसी विशेष विषय पर न्यायाधीश कानून को चुप देखता है तो वह अपने पथ-प्रदर्शन के लिए इन टीकाकारों के मतों को लेता है। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि इन टीकाकारों के मत निर्णयात्मक नहीं होते। वे कानून के तत्व का विश्लेषण करने के हेतु केवल तर्क देते हैं।

टीकाकार कानूनी सिद्धान्तों, रीतियों, निर्णयों और कानूनों का संकलन करके, उनकी तुलना करके तथा उन्हें तार्किक दृष्टि से क्रम बद्ध करके सम्भाव्य मामलों के लिए पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त निर्धारित कर देता है। वह कमियों को संकेत करता है और उनसे सिद्धान्त निकालता है। इस तरह से टीकाकार का मत, न्यायाधीशों के बार-बार स्वीकार किए जाने पर, वर्तमान कानून का भाग बन जाता है।

४—न्यायिक निर्णय—न्यायाधीश का कार्य अत्यन्त कठिन होता है। उसका कार्य न्याय का शासन करना होता है और न्याय का शासन करते हुए वह कानून का प्रयोग करके मामलों का निर्णय करता है। जब न्यायाधीश कानून का प्रयोग करता है तो वह उसकी व्याख्या भी करता है। कानून की व्याख्या करने में न्यायाधीश उसे इच्छानुसार घुमा सकता है और विस्तृत कर सकता है। दूसरे शब्दों में न्यायाधीश किसी मामले के सब पक्षों की कानून, रीतियों एवं सम्मिलित वैज्ञानिक टीकाकारों की दृष्टि के अनुसार विवेचना करता है। वह कानून की भाषा को स्वीकार करे या उसे अस्वीकृत कर दे लेकिन ऐसा करते समय उसे निश्चित कारण देने चाहिएँ। तदनुसार वह अपने सहकारी न्यायाधीशों के लिए पूर्व दृष्टान्त रखता है। इसे सामान्यतः न्यायाधीश-निर्मित-कानून (Judge-made-law) कहते हैं। ये निर्णय समान मामलों में पूर्वदृष्टान्त के रूप में उद्धृत किए जाते हैं। और अधिकृत निर्णय के रूप स्वीकार किए जाते हैं। न्यायाधीश होल्म्स (Jus-

tice Holmes) ने कहा था कि "न्यायाधीश कानून बनाते हैं और उन्हें ऐसा अवश्य करना चाहिए।"

५—"न्यायभावना" : न्याय भावना (equity) शब्द से हमारा तात्पर्य समानता, ईमानदारी, या न्याय है। कानून कभी सर्वथा पूर्ण नहीं हो सकता। ऐसी अनेक बातें हो सकती हैं जिन पर वह चुप हो, कुछ न कहता हो। ऐसी दशाओं जिनमें वर्तमान कानून पर्याप्त नहीं समझा जाता मामले का निर्णय करने के लिए न्यायाधीश अपने विवेक का प्रयोग करता है। न्यायाधीश का विवेक सामान्य भावना अथवा ईमानदारी पर आधारित रहता है। ऐसे स्थलों पर न्यायाधीश का विवेक वर्तमान कानून की संपूर्ति होता है। वह कानून को नम्य बनाता है और नए कानून बनाने अथवा पुराने कानून को बदलने का अनियमित तरीका है। "न्याय भावना" भी न्यायाधीशों के द्वारा निर्मित कानून के समान ही होती है। फिर भी दोनों में कुछ अन्तर है। न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून में न्यायाधीश वर्तमान कानून की व्याख्या करता है। "न्याय भावना" में वर्तमान कानून चुप होता है और न्यायाधीश उसमें कुछ जोड़ देता है जो उसमें नहीं होता।

६—कानून निर्माण : वर्तमान समय में कानूननिर्माण ही कानून का प्रधान स्रोत है। जहां तक सम्भव है रीति और न्यायभावना के स्थान पर निश्चित कानूनों को रखा जा रहा है। कानून बनाने में व्यवस्थापिका के सदनों के सदस्यों को रीतियों धार्मिक मतों और न्याय-भावना का ध्यान रखना चाहिए। प्रत्येक देश की सरकार को एक व्यवस्थापक विभाग रखना चाहिए जिसमें नागरिकों की आवश्यकताओं के अनुसार कानून बनाने का काम किया जाना चाहिए।

bles, मनुस्मृति और कुरान की आयतों का नाम ले सकते हैं। इन कानूनी ग्रन्थों के आधार पर विभिन्न देशों में कानून बनाए गए हैं। इस अर्थ में इन प्राचीन कानूनी ग्रन्थों को कानून के स्रोतों में सम्मिलित किया जा सकता है।

निष्कर्ष : वुडरोविल्सन ने कानून के स्रोतों का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार किया है :

"कानून का सबसे प्राचीन स्रोत रीति है लेकिन धर्म समकालीन है। "निर्णय" (adjudication) स्वयं अधिकृत रूप में आता है और वहुत प्राचीन समय से "न्यायभावना" के साथ-साथ चला आ रहा है। केवल कानून निर्माण, जो कि कानून का चेतन एवं निश्चित संगठन है। और वैज्ञानिक विवेचन, जो उसके सिद्धान्तों का तर्कयुक्त विकास है, ही ऐसे हैं जो कानून के स्रोत के रूप में बहुत बाद में आए।"

Q. 36. What is the connection between law and morality ?

[Calcutta 1938, 32; Punjab 1940,50; Agra 1934 (Supp)]

कानून और नैतिकता का क्या सम्बन्ध है ?

Ans.

(अ) कानून और नैतिकता का सम्बन्ध :—

कानून के विषय का अध्ययन राजनीति शास्त्र में आता है जबकि नैतिकता नीतिशास्त्र (Ethics) के क्षेत्र में आती है। राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र में बहुत निकट सम्पर्क है। ये दोनों शास्त्र मनुष्य का समाज में नैतिक साधन के रूप में अध्ययन करते हैं यद्यपि एक राजनीतिक इकाई के रूप में मनुष्य का व्यवहार कानून द्वारा निर्धारित होता है और नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य से एक सामाजिक इकाई के रूप में है। लेकिन वह अन्तिम उद्देश्य जिसके लिए प्रत्येक राज्य कायम रहता है इन नैतिक मूल्यों की प्राप्ति ही है जिसके द्वारा मनुष्य अपना सर्वोच्च स्वरूप प्राप्त कर सकता है।

सादी शब्दों में राज्य के अन्तिम उद्देश्य का साधन मात्र है और वह अन्तिम उद्देश्य मनुष्य को समाज की एक नैतिक इकाई बनाता है। इसलिए राज्य के कार्यों का मनुष्य के नैतिक अन्तिम उद्देश्य से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। राज्य के कानून इस अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति में बहुत योग देते हैं।

(च) कानून और नैतिकता में भेद :—

कानून और नैतिकता में इतना निकट सम्बन्ध है कि प्राचीन लेखक जो प्राकृतिक कानून पर लिखा करते थे नैतिकता और कानून में गड़बड़ कर देते थे और दोनों के बीच में कोई अन्तर नहीं स्पष्ट करते थे। यह आधुनिक काल की ही देन है जो अब कानून और नैतिकता का भेद स्पष्ट हो गया है। दोनों के बीच जो अन्तर है उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

१—वस्तुविषय : कानून और नैतिकता दोनों अपने वस्तुविषय (content) में भिन्न हैं।

२—क्षेत्र : नैतिकता का क्षेत्र अधिक व्यापक है और राजनैतिक कानून का संकीर्ण। नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से है। मनुष्य के विचारों, निमित्तों एवं कार्यों सभी का उससे सम्बन्ध है। दूसरी ओर कानून का सम्बन्ध केवल मनुष्य के कार्यों से ही है। उसका मनुष्य के विचारों से कोई सम्बन्ध नहीं। कानून के क्षेत्र में विचार तभी आते हैं जब उनका स्वरूप कार्यों में बदल जाता है।

४—दृश्य और अदृश्य का अन्तर : कानून बाह्य पदार्थ विषयक (objective) है जबकि नैतिकता चेतना सम्बन्धी (subjective) है।

५—कानून सार्वभौमिक है : कानून को एक प्रमुख लक्षण उसकी सार्वभौमिकता है। कानून राज्य के सभी नागरिकों के लिए एक समान होता है। नैतिकता मनुष्य से मनुष्य में भिन्न होती है। मेरी नैतिकता मेरे भाई की नैतिकता से भिन्न है। वह एक आन्तरिक कृतज्ञता है जो व्यक्तियों के सामाजिक चरित्र को व्यक्त करती है और उन पर जो रचनात्मक प्रभाव काम करते हैं उनकी प्रतिक्रिया करती है।

६—कानून के पीछे प्रमाण : कानून का उल्लंघन करने से सदा दण्ड मिलता है। लेकिन अनैतिक अथवा नीति· विरुद्ध कोई काम करने से कोई शारीरिक दण्ड नहीं मिलता जब तक कि वह कानून के विरुद्ध न हो। राज्य के कानूनों के पीछे शक्ति का प्रमाण (sanction) रहता है नैतिकता का समर्थन निन्दित होने का भय करता है न कि शक्ति अथवा बल।

७—कानून के विरुद्ध नीति विरुद्ध नहीं है : उपर्युक्त से यह अर्थ निकला कि कानून एक शक्ति का विषय है, क्योंकि वह आदेश देता है और निषेध करता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि -कानून जिस बात का निषेध करे वह नीतिविरुद्ध हो। कुछ ऐसी बातें हो सकती हैं जो नीति-विरुद्ध तो हों पर कानून के विरुद्ध नहीं, जैसे रेस कोर्स (Race course) में जाना। उसी प्रकार कोई विशेष कार्य कानून के विरुद्ध हो सकता है पर नीतिविरुद्ध नहीं। यदि हम बायें हाथ पर सवारी न चलायें तो वह नीति-विरुद्ध नहीं है यद्यपि वह कानून के विरुद्ध है। इसलिए राज्य ऐसे कानून भी बना सकता है जो सुविधा और उपयोगिता पर आधारित हों न कि नैतिकता के मापदण्ड पर।

८—नैतिकता विश्वास या श्रद्धा की वस्तु है · कानून इस बात की चिन्ता न करते हुए कि हम एक विशेष बात को पसन्द करते हैं या नहीं हमें वह करने के लिए बाध्य कर सकता है। उदाहरणतः राज्य का कानून मुझे प्रति रविवार को गिरजाघर में जाने का आदेश दे सकता है। यदि मैं

इस आदेश का पालन न करूँ तो राज्य मुझे उसके लिए विवश कर सकता है। अस्तु मैं दण्ड के भय के कारण गिरजाघर जाना प्रारम्भ कर दूँगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि गिरजाघर जाने के कारण मैं एक धार्मिक-वृत्ति का नागरिक हो गया हूँ। यह एक विश्वास की वस्तु है। यह राज्य के कानूनों की तरह लादी जा सकती। राज्य द्वारा लादी गई नैतिकता कोई, नैतिकता नहीं।

६—राज्य द्वारा नैतिक अधिकार स्वीकृति नहीं : कुछ ऐसी चीजें हैं जिनके लिए राज्य के कानून स्वीकृत नहीं करते। ये हैं नैतिक अधिकार और कर्तव्य। नैतिक अधिकारों का नागरिक अधिकारों से अन्तर स्पष्ट करना होगा। यह मेरा नैतिक कर्तव्य है कि मैं अपने माता-पिता की सेवा करूँ क्योंकि माता-पिता को हमसे वैसा कराने का नैतिक अधिकार है। लेकिन यदि मैं अपने नैतिक कर्त्तव्य पूर्ण न करूँ और अपने को कुपुत्र सिद्ध करूँ तो राज्य मुझे आज्ञाकारी बनने के लिए विवश नहीं कर सकता।

कानून और नैतिकता में भेद की ये मुख्य बातें हैं और उनकी कोई उपेक्षा नहीं कर सकता। लेकिन इन अन्तरों के बावजूद भी कानून और नैतिकता का एक-दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। आर्वाचीन समाज में कानून की उत्पत्ति रीतियों और रूढ़ियों से हुई और रीतियाँ जैसा कि हम जानते हैं मनुष्य के अभ्यास की वस्तु हैं जो कि उनके अनुभव के फलस्वरूप हैं। रीतियां कुछ बातों का निषेध करती थीं क्योंकि अनुभव ने यह बताया कि वे नीति के विरुद्ध हैं। कोई भी बात जो अच्छे जीवन के लिए हानिकर सिद्ध होती थी नीति के विरुद्ध समझी जाती थी। कानून और नैतिकता में कोई अन्तर नहीं था। प्रत्येक बात जो समुदाय के लिए हितकर थी वह कानूनी थी और कोई भी बात जो अच्छी थी वह नैतिक भी थी। कानून समुदाय के विचारों के अनुरूप होने का प्रयत्न करते थे।

यह बात भी याद रखनी चाहिए कि मनुष्य आवश्यक रूप से एक नैतिक जीव है और व्यक्ति के नैतिक जीवन के लिए राज्य परमावश्यक है और उसका नैतिकता के सम्बन्ध में एक प्रत्यक्ष कार्य है। राज्य का यह कार्य

दो प्रकार का है :—(१) यथार्थ और (२) निषेधात्मक।

राज्य का यथार्थ (positive) कार्य अच्छे कानून बनाना है। ऐसे कानून जो मनुष्यों के अधिकाधिक नैतिक हित में हों। यह मनुष्यों के लिए हितकर है कि शराब पीना बन्द कर दिया जाय। इसलिए मद्यनिषेध कानून बना है।

Q. 37. Carefully examine the various theories of punishment. Explain Green's view and justification. (Agra 1940)

दण्ड-व्यवस्था के विभिन्न सिद्धान्तों की सावधानी से परीक्षा कीजिए और ग्रीन के इस सम्बन्ध में विचारों की व्याख्या कीजिए।

Ans.

दण्ड-व्यवस्था के सम्बन्ध में तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं :

(१) प्रतिफलात्मक सिद्धान्त

(२) निवर्तक सिद्धान्त

(३) सुधारात्मक सिद्धान्त

(१) प्रतिफलात्मक सिद्धान्त

प्रतिफल शब्द का अर्थ है प्रतिकार अथवा बदला लेना। इसलिए इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का स्वरूप अपराधी से अपराध का बदला लेना है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का आधार है 'जैसी करनी वैसी भरनी।'

प्राचीन समय में दण्ड का यह स्वरूप बहुत प्रचलित था। उस समय अपराध व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के विरुद्ध समझा जाता था। परिणामस्वरूप अपराधी को उन व्यक्तियों के हाथ में सौंप दिया जाता था जिनको कुछ हानि पहुँचती थी। उन व्यक्तियों को उस अपराधी से प्रतिकार लेने का पूर्ण अधिकार था। सभ्यता की उन्नति और राजनैतिक संगठन के साथ शान्ति, सुरक्षा, जनता के अधिकार और उसकी स्वतन्त्रता का प्रबन्ध राज्य ने एक आवश्यक कार्य के रूप में अपने हाथ में ले लिया। इस प्रकार इस धारणा को पुष्टि हुई कि अपराध किसी व्यक्ति के प्रति नहीं होता वरन् राज्य के

प्रति होता है क्योंकि राज्य नागरिकों के अधिकार, उनकी स्वतन्त्रता और उनके जीवन का रक्षक होता है। इस प्रकार प्रतिकार का अधिकार भी राज्य को ही रहता है न कि उस व्यक्ति को जिसकी हानि हुई है। फलस्वरूप राज्य द्वारा की हुई दण्ड-व्यवस्था वैयक्तिक प्रतिकार से कहीं अधिक श्रेष्ट सिद्ध होती है। इस प्रकार राज्य का प्रतिकार लेने का अधिकार उस की दण्ड-व्यवस्था का आधार है।

स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड अपराधी की समाज-विरोधी प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम होता है। दूसरे शब्दों में अपराध राज्य की सत्ता के प्रति एक चुनौती होता है। अपने कार्य द्वारा अपराधी नैतिक सत्ता एवं प्रधानता को भंग करता है और उसे दण्ड देकर उसकी पुनः स्थापना एवं रक्षा की जाती है। अपराधी को बिना दण्डित किए छोड़ देना वैसा ही है जैसे रोगी को औषधि न देना। कान्ट तथा हीगिल (Kant and Hegel), जो इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हैं, के विचार ऐसे ही हैं। उनके मतानुसार अपराधी के लिए दण्ड एक निषेधात्मक पुरस्कार है। अपराधी उसका पात्र होता है। दण्ड के द्वारा व्यक्ति किसी वस्तु से वंचित नहीं हो जाता जो उसके पास होती है। वह तो उसे उसकी देय वस्तु ही देता है।

आधुनिक काल में इस सिद्धान्त को कोई नहीं स्वीकार करता है। इसके विरुद्ध मुख्य तर्क यह है कि वह राज्य को रक्त की प्यासी अथवा अत्याचारी संस्था बना देता है इस सिद्धान्त का स्वयं नाम ही कानों को कटु लगता है क्योंकि उससे यह प्रकट होता है कि राज्य व्यक्ति से बदला लेना चाहता है—ठीक उसी तरह जिस प्रकार क्षति भुगतने वाला व्यक्ति बदला लेना चाहता है। इस प्रकार का विचार सर्वथा गलत है। राज्य द्वारा दण्ड-व्यवस्था करने का सार तो व्यक्तिगत प्रतिकार को मिटाना है। दण्ड का उद्देश्य प्रतिफलात्मक ही नहीं सुधारात्मक भी है।

(२) निवर्त्तक सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त का भाव एक न्यायाधीश के अपराधी के प्रति कहे

गए इस कथन से कि "उसे भेड़ें चुराने के लिए दण्ड नहीं दिया जा रहा है वरन् इसलिए कि भविष्य में भेड़ें न चुराई जा सकें" से स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का उद्देश्य अपराध होने से रोकना है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि अपराधी को दण्ड देने से अन्य व्यक्तियों को यह सबक मिल जाता है कि यदि वे ऐसा करेंगे तो उन्हें भी वही दण्ड मिलेगा। इसलिए यह स्वाभाविक है कि दण्ड कठोर हो ताकि वह दूसरों को अपराध करने से रोकने में सहायक हो। प्राचीन भारत का प्रसिद्ध राजनैतिक दार्शनिक चाणक्य अथवा कौटिल्य भी इस सिद्धान्त का समर्थक था और उसी के प्रभाव के कारण मौर्यकालीन शासन में छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी कठोर दण्ड दिया जाता था। साधारण से अपराध के लिए अपराधी को मृत्युदण्ड या अँग-भंग का दण्ड दे दिया जाता था। इंग्लैंड में भी मध्यकाल में इसी प्रकार की दण्ड-व्यवस्था प्रचलित थी जबकि कभी-कभी अपराधी को जिन्दा भी जला दिया जाता था।

इसमें शक नहीं कि इस सिद्धान्त में कुछ सत्य अवश्य है। कठोर दण्ड सत्य ही बहुत अंशों में अपराधों को रोकने में समर्थ होता है। लेकिन वह अपराध की पुनरावृत्ति के विरुद्ध पक्की गारन्टी नहीं होता। इतिहास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि कठोर दण्ड अपराधों को रोकने में सफल नहीं हुआ है। इसके विपरीत जब एक मनुष्य को कठोर दण्ड दिया जाता है तो पक्का अपराधी बन जाता है। इसलिए यह सिद्धान्त भी असन्तोष जनक बताकर अस्वीकृत कर दिया गया है। वास्तविकता यह है, जैसा कि आधुनिक अन्वेषणों ने सिद्ध कर दिया है कि अपराध एक मानसिक कमजोरी है जिसे इलाज की आवश्यकता है न कि दण्ड की।

(३) सुधारात्मक सिद्धान्त :

सब से नवीन होने के कारण यह सिद्धान्त दण्ड-व्यवस्था का सबसे अधिक सन्तोषजनक हल प्रस्तुत करता है। वह मनोविज्ञान-शास्त्र के क्षेत्र में की गई खोजों के अनुरूप है। इस सिद्धान्त के अनुसार अपराध मनुष्य की

/

८—अन्तर्राष्ट्रीय कानून

Q. 38. What is International Law? Can it be regarded as law in the real sense of the terms?

अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसे कहते हैं? क्या उसे वास्तविक अर्थ में कानून माना जा सकता है?

Ans.

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय कानून क्या है?

संवाहन एवं आवागमन के साधनों के विकास ने संसार के विभिन्न देशों की दूरी को समाप्त कर दिया है और उनमें सम्पर्क बढ़ा दिया है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ गया है। संसार के राष्ट्रों के बीच इन नए सम्बन्धों के लिए एक प्रकार के विनियमन की आवश्यकता है। वह कानून जो इन सम्बन्धों का विनियमन करता है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहलाता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून आधुनिक सभ्यता की देन है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा यह है: अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन नियमों के समूह का नाम है जिन्हें सभ्य राज्य अपने एक-दूसरे से सम्बन्धों में पालन करते हैं तथा इन नियमों को प्रत्येक राज्य अपने नैतिक स्तर अथवा सुविधा के अनुसार लागू करता है।"

(ब) क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कानून है:

क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कानून कहा जा सकता है? इस प्रश्न पर विभिन्न लेखकों में मतभेद है। कुछ लेखक उसे कानून मानते हैं कुछ नहीं मानते। दोनों ही पक्षों में तर्क दिए जा सकते हैं?

(१) विपक्षी तर्क—

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को निम्न आधारों पर कानून नहीं कहा जा सकता—

१—**प्रभुत्व सम्पन्न राज्य**—प्रत्येक आन्तरिक एवं वाह्य रूप से प्रभुत्व सम्पन्न है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून कानून है तो वह राज्य के प्रभुत्व को कम कर देगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्दर समस्त संसार के एक राज्य होने का भाव निहित है जिसका कि वर्तमान राज्यों के ऊपर सर्वोच्च अधिकार होगा। चूँकि वर्तमान राज्य को प्रभुत्व है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू नहीं किया जा सकता और इस कारण वह कानून नहीं कहा जा सकता।

२—**अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनाने के लिए कोई निर्दिष्ट शक्ति नहीं**—आस्टिन के अनुसार कानून एक निर्दिष्ट प्रभु द्वारा निम्न व्यक्तियों को दिया गया आदेश है। चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनाने के लिए ऐसी कोई निर्दिष्ट शक्ति नहीं है वह कानून नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसी शक्ति का जन्म होता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून संसार का नागरिक कानून (Municipal Law) बन जायगा।

३—**कानून के पीछे कोई कानूनी प्रमाण होना चाहिए**—यदि नागरिक कानून तोड़ता है तो वह दण्डित किया जाता है। इसलिए वह कानून का पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साथ ऐसी कोई कानूनी शक्ति नहीं है जो राज्यों को इन नियमों को मानने को बाध्य कर सके। राज्य चाहे तो उन्हें माने, चाहे न भी माने। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या करने के लिए कोई न्यायालय नहीं है। प्रत्येक राज्य उसकी अपनी इच्छानुसार व्याख्या करता है। यदि ऐसा कोई न्यायालय है भी तो राज्य उसका निर्णय मानने को वाध्य नहीं।

(२) पक्षीय तर्क :

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के समर्थकों का कहना है कि निम्न आधारों पर उसे कानून कहा जा सकता है—

१—**राज्य वास्तव में प्रभुत्व प्राप्त नहीं है**—आजकल के दिनों

उसे लागू करने के लिए कोई उच्चतम शक्ति नहीं हो सकती। यदि एक उच्चतम शक्ति स्थापित की जाती है तो राज्यों का प्रभुत्व नष्ट हो जायगा और अन्तर्राष्ट्रीय कानून-विश्व राज्य के नागरिक-कानून के रूप में बदल जायगा। इसलिए बहुत से लेखकों के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे कोई प्रमाण नहीं है। यदि कोई प्रमाण रहा होता तो जापान, चीन पर हमला करने तथा मंचूरिया पर अधिकार जमाने का साहस नहीं कर सकता था। इन आधारों पर यह कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को नैतिकता के अन्तराष्ट्रीय नियमों के रूप में समझा जाना चाहिए न कि एक अन्तर्राष्ट्रीय कानून। जैसे ही वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उत्पत्ति होगी वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नाम से नहीं पुकारा जायगा। वह केवलमात्र एक विश्व राज्य का नागरिक कानून (Municipal law) ही होगा।

अन्य कुछ लेखक ऐसे भी हैं जो यह कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे भी कुछ प्रमाण है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भंग उसके पालन से अधिक होता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि उसके कोई प्रमाण नहीं हैं। कभी-कभी नागरिक कानून का भंग भी बहुत उद्दण्डता से किया जाता हैं यद्यपि उसके पीछे अनेक प्रमाण हैं। नागरिक कानून के पीछे क्या प्रमाण है? वह शारीरिक शक्ति नहीं वरन् लोकमत की शक्ति है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में भी लोकमत की वृद्धि होती जा रही है जो कि राज्यों द्वारा शक्ति के स्वेच्छाचारी प्रयोग के विरुद्ध बन्धन का कार्य कर रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे विस्तृत लोकमत का प्रमाण है। जब कभी एक राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भंग के लिए दोषी ठहराया जाता है तो वह एक अभियुक्त व्यक्ति की तरह अपनी सफाई देने का प्रयत्न करता है। यह सिद्ध करता है कि प्रत्येक राज्य अपने विरुद्ध लोकमत का भय करता है और यह कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून सभी राज्यों द्वारा सम्मानित होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे दूसरा प्रमाण उद्दण्ड राष्ट्रों से युद्ध की आशंका और राजनैतिक सम्बन्ध-विच्छेद होने का डर है। यह बहुत शक्तिशाली प्रमाण है। आजकल के दिनों में कोई भी अकेला राष्ट्र अन्य राष्ट्रों से

उद्दण्डता करने का साहस नहीं कर सकता क्योंकि उनकी सामूहिक शक्ति किसी भी एक राष्ट्र की शक्ति से कहीं अधिक होती है। प्रत्येक शान्तिप्रिय राष्ट्र आक्रमणकारी राष्ट्र के विरुद्ध लड़ने को तैयार रहता है क्योंकि उसकी भी सुरक्षा उसमें निहित रहती है। सारे कमजोर राष्ट्र भी उसी राष्ट्र के पक्ष में एकत्रित हो जाते हैं जिस पर आक्रमण किया जाता है। पिछले दिनों में शत्रुराष्ट्रों (Axis Powers) को मित्रराष्ट्रों (Alied powers) के विरुद्ध गैरकानूनी युद्ध करने के लिए बहुत दण्डित किया गया। इसके अतिरिक्त एक विश्व युद्ध में बहुत धन नष्ट होता है। वह विजित एवं विजेता दोनों को ही समान रूप से नष्ट कर देता है। आजकल के दिनों में युद्ध को एक ही स्थान तक सीमित रखना बहुत कठिन है। प्रत्येक युद्ध, शीघ्र अथवा देर में, विश्व युद्ध बन जाता है। कोई भी विचारी राष्ट्र ऐसा जोखिम नहीं उठाता जब तक कि वह ऐसा करने को विवश न हो गया हो।

तीसरे हम कुछ आर्थिक प्रमाण भी रख सकते हैं जो कि राजनैतिक प्रमाणों से कम प्रभावशील नहीं हैं। आजकल कोई भी राष्ट्र अपने में पूर्ण नहीं है। प्रत्येक देश को दूसरे देशों पर विभिन्न वस्तुओं के लिए निर्भर रहना पड़ता है। यदि सभी अन्य-अन्य आक्रमणकारी राज्य से व्यापार सम्बन्धों को समाप्त कर दें तो उसे बहुत-सी वस्तुओं के बिना काम चलाना पड़ेगा। जीवन का साधारण स्तर गिर जायगा। सैनिक शक्ति पर भी इसका हानिकर प्रभाव होगा और उसे विवश होकर स्वयं प्रारम्भ किए युद्ध को रोक देना होगा।

इस प्रकार हम देखते है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे अनेक प्रमाण हैं और वे बहुत प्रभावशाली हो सकते हैं यदि उन्हें प्रयोग में लाने की इच्छा हो और उसके लिए एक संगठन हो। इन्हें प्रयोग में लाने के लिए राष्ट्रसंघ (U. N. O.) उचित संस्था है। यदि वह सभी उद्दण्ड राष्ट्रों के प्रति समान व्यवहार करे और निष्पक्ष बनी रहे तो वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रचना करने में सफल हो सकती है। उसे विजित और विजेता का अन्तर समाप्त कर देना चाहिए। चिरकालीन शान्ति का आधार समानता, न्याय

और ईमानदारी हो सकती है। लीग ऑफ नेशन्स इसीलिए असफल रही कि वह इटली और जापान के विरुद्ध प्रमाणों का प्रयोग नहीं कर सकी। वर्तमान राष्ट्रसंघ ने उत्तरी कोरिया के विजेताओं को ललकार कर तथा उन्हें दक्षिण कोरिया से बाहर निकाल कर और उनसे हथियार डाल देने की मांग करके इस समस्या का सामना किया है। अभी तक तो वह एक प्रभावशाली संस्था सिद्ध हुई है। अब हमें देखना है कि भविष्य में क्या होता है।

Q. 40. Give the various sources of International Law.

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न स्रोतों का वर्णन करो।

Ans.

जिस प्रकार साधारण कानून के विभिन्न स्रोत हैं उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भी निम्नलिखित विभिन्न स्रोत हैं। इन सभी स्रोतों ने मिलकर उसे यथासम्भव पूर्ण बना दिया है। ये स्रोत हैं—

(१) रोमन कानून (Roman Law);
(२) प्रसिद्ध लेखकों की रचनायें;
(३) सन्धियाँ एवं सभायें;
(४) नागरिक कानून (Municipal Law);
(५) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में निर्णय;
(६) युद्ध एवं राजनीति का इतिहास; तथा
(७) राजनीतिज्ञों और नीतिज्ञों के मत।

रोमन कानून—रोमन कानून वह आधार प्रस्तुत करता था जिस पर कि राष्ट्रों के बीच खड़े होने वाले प्रश्नों का निर्णय होता था। वह न्याय, न्यायभावना (Equity) तथा सामान्य ज्ञान पर आधारित था। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने रोमन कानून के स्थूल सिद्धान्तों का अनुसरण किया है। इसने भी नैतिक कर्तव्यों के सभी राज्यों पर लागू होने के विचार पर जोर दिया है। कानून के समक्ष नागरिकों की समानता के रोमन विचार को अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों की समानता तक बढ़ा दिया

गया है ।

प्रसिद्ध लेखकों की रचनायें—ग्रोशस (Hugo Grotius), वुल्फ़ (Wolf) और वैटिल (Vattil) आदि की रचनाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास पर बहुत प्रभाव डाला है । इन सब लेखकों ने प्रभुत्व सम्पन्न राज्यों द्वारा बाह्य व्यवहारों में धारण किये गए नियमों को उनके तार्किक निष्कर्षों के रूप में लिपिबद्ध कर दिया है । इन लेखकों ने यह दिखा कर कि राष्ट्र वास्तव में कौनसे नियमों को मानते हैं, दिये हुए प्रश्नों पर सामान्यतम की व्याख्या करके और सामान्य स्वीकृति पर आधारित पहले के नियमों की परिभाषा तथा संपरिवर्तित स्परूप देकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक स्रोत प्रस्तुत किया है ।

सन्धियां तथा सभायें—दो राज्यों के बीच राजनैतिक अथवा आर्थिक उद्देश्यों के लिए की गई सन्धियां अथवा सभायें (Conventions) भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अंगभूत स्रोत का निर्माण करती हैं । शान्ति तथा व्यापार की सन्धियां, समझौते (Alliances) और सभायें पहले से चलते आते हुए नियमों की व्याख्या करते हैं और उन्हें इतना संपरिवर्तित कर देते हैं कि पारस्परिक एकता और सद्भावना का वास्तविक स्रोत सिद्ध हो जाते हैं । सन्धियां और सभायें निकटवर्ती राज्यों के प्रदेशों और सीमान्तों पर भी असर डाल सकती हैं । वे युद्ध काल में लड़नेवाले राष्ट्रों तथा तटस्थ राष्ट्रों—दोनों के व्यापारिक सम्बन्धों अथवा व्यवहार पर भी असर डाल सकतीं हैं जैसे कि १८६४ का प्रसिद्ध जिनेवा सम्मेलन ।

नागरिक कानून—प्रत्येक राज्य के नागरिक कानून में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीज देखे जा सकते हैं । यह देश का नागरिक कानून ही है जो नागरिकता प्राप्त करने की विधि तथा कानून का विनियमन करता है । यह दूसरे देशों अथवा राज्यों में नियुक्त राजदूतों के कार्यों और कर्तव्यों की व्याख्या भी करता है और इन सब का अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर प्रभाव पड़ता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में निर्णय : राज्यों में अपने झगड़ों का निर्णय कराने के लिए उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों अथवा पंचायत न्याया-

लयों के सामने रखने का रिवाज-सा बन गया है। ये निर्णय अन्य झगड़ों के निर्णय के लिए पूर्व दृष्टान्त बन जाते हैं और उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सम्मिलित कर लिया जाता है। आधुनिक समय में हेग कान्फ्रेंस तथा वाशिंगटन और लॉसेन कान्फ्रेंसों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून में महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का योग दिया है। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् (U. N. Security Council), जिसकी बैठकें आजकल हो रहीं हैं, भी अपने गर्भ में बहुत अच्छे परिणाम छिपाए हुए है।

युद्ध और राजनीति का इतिहास : विभिन्न युद्धों का तथा उनके बाद होने वाली सन्धिवार्त्ताओं तथा उनके परिणामों का इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए अच्छी सामग्री प्रदान करता है। समय-समय पर जारी किए गए अध्यादेश, घोषणायें एवं घोषणा-पत्र अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इस स्रोत की संपूर्त्ति करते हैं।

नीतिज्ञों एवं राजनीति विशारदों के मत : प्रसिद्ध कानून-वेत्ताओं के लेख तथा राज्य के कागजातों पर उनके मत और राज्यों के वैदेशिक कार्यालयों के पत्र-व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वृद्धिशील सिद्धान्तों में योग देते हैं। प्रायः ये मत गुप्त होते हैं लेकिन प्रजातान्त्रिक सरकारों वाले देश, जैसे इंग्लैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका इन कागजों को प्रकाशित करते हैं।

Q. 41. What is Internationalism ? Describe briefly the factors encouraging and discouraging the growth of Internationlism and an effective world order.

अन्तर्राष्ट्रीयता क्या है ? उन तत्त्वों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए जो अन्तर्राष्ट्रीयता तथा एक विश्व-व्यवस्था को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित करते हैं।

Ans.

अन्तर्राष्ट्रीयता उसका विकास : अन्तर्राष्ट्रीयता एक नई वस्तु है। वह बीसवीं शताब्दि का एक आदर्श पुरस्कार है। यह सभी जानते हैं कि

मनुष्य का मस्तिष्क जिज्ञासु, अधीर और गतिशील है। वह नई वस्तुओं, नए विचारों, जीवन के नए मार्गों को ढूँढ़ता रहता है। मनुष्य का स्वभाव उसके मस्तिष्क के अधीनस्थ होने के कारण सदा नए-नए लोगों से सम्पर्क की फिराक में रहता है और उनसे सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक हितों की अनुरूपता स्थापित करना चाहता है। अस्तु मनुष्य जाति का इतिहास प्रसार, व्यवस्था और विकास का इतिहास है। हमारा राजनीति-शास्त्र का ज्ञान हमें केवल प्राचीन ग्रीक काल तक ही ले जाता है जहां हम देखते हैं कि मनुष्य का अपने निकट पड़ोस के बाहर किसी प्रकार का राजनैतिक अथवा सामाजिक सम्पर्क नहीं था। प्राचीन ग्रीस का एक नागरिक अपने नगर से परे कुछ नहीं जानता था। यह माना जाता था कि उसके नगर के बाहर न तो कोई सभ्यता है और न राजनैतिक विचारशीलता, किं अन्य सब कुछ वर्बरता और उपद्रव है। आवागमन के साधनों के क्रमिक विकास और मनुष्य की आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ ग्रीक नगर-राज्यों के स्थान पर जागीरदारी राज्य (Feudal States) स्थापित हुए, यद्यपि जागीरदारी राज्यों के पहले हम मध्ययुग में दांते (Dante) का "विश्व-राज्य" (World Empire) तथा सार्वलौकिकता (Universalism) की ओर अन्य ऐसे ही प्रयत्नों के बारे में पढ़ते हैं। लेकिन ये विचार कभी जमने अथवा कार्य रूप में बदलने नहीं पाए। जागीरदारी युग में, यद्यपि अपेक्षाकृत मनुष्य के सम्पर्क का क्षेत्र विस्तृत हो गया था, लेकिन वह प्रदेशीय सीमाओं में बंधा हुआ था और व्यक्ति के हित उसके जागीरदारी राज्य तक ही सीमित थे। बाद में १६ वीं शताब्दि में राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ। ये राष्ट्रीय राज्य जागीरदारी राज्यो की अपेक्षा में उन्नत कहे जा सकते हैं क्योंकि उनमें मनुष्य अपने को एक विशाल राजनैतिक सत्ता अर्थात् अपने देश की इकाइयां समझने लगे थे। राष्ट्रीय राज्यों के साथ शासन की कला का उदय हुआ और मनुष्य यह अनुभव करने लगे कि वह एक बड़े संसार के भाग हैं। संसार के विभिन्न लोगों में अधिकाधिक सहयोग और पारस्परिक जानकारी की आवश्यकता हुई। समाज अत्यन्त जटिल बन गया। व्यक्ति

और राज्य दोनों ही अधिकाधिक अन्योन्याश्रित बन गए। आवागमन के साधनों ने, जिन्हें वैज्ञानिक अनुसन्धान कहना ठीक होगा, संसार के राष्ट्रों को निकट लाने में अन्य किसी भी वस्तु से अधिक योग दिया।

इस प्रकार सार्वलौकिकता अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ। प्रत्येक राष्ट्रीय राज्य को यह आभास हुआ कि वर्तमान विश्व-सहयोग की स्थिति में अकेले बने रहने की नीति ठीक नहीं बैठती है। अब कोई भी राष्ट्र संसार की घटनाओं को काहिली से नहीं देखता रह सकता था क्योंकि वे कम-से-कम अप्रत्यक्ष रूप में उस पर भी असर डालती थीं। उदाहरणार्थ हम आज के कोरिया-युद्ध को ले सकते हैं जिसने अप्रत्यक्ष रूप से भारत तथा अन्य देशों पर प्रभाव डाला है। इस प्रकार आज की राष्ट्रीयता बहुत अंशों में अन्तर्राष्ट्रीयता के आवरण में ढकी हुई है। सामान्य अर्थ में एक व्यक्ति अब केवल अपने राष्ट्रीय राज्य का ही सदस्य नहीं रह गया है; वरन् वह समस्त संसार का नागरिक बनने की शिक्षा ले रहा है। अन्तर्राष्ट्रीयता ने लोगों मे एक सामान्य हितों और सहानुभूति की भावना उत्पन्न कर दी है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता भाई-चारे और सहयोग का राजनैतिक पर्यायवाची है। उसका उद्देश्य एक शान्तिप्रिय विश्व-संघ का निर्माण करना है। लेकिन जैसे भी हो 'एक विश्व' का विचार अभी विकास के क्रम में ही है और अभी तक एक चिरपोषित आदर्श अथवा एक स्वप्न ही रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के लिए उत्तरदायी तत्त्व :—

(अ) विज्ञान की प्रगति :—अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास बिना उसके उत्तरदायी कारणों के ही नहीं हो गया है। प्रत्येक राजनैतिक वस्तु अथवा सिद्धान्त का मूल उसके पूर्व की परिस्थितियों में होता है। अन्तर्राष्ट्रीयता के उदय के लिए सबसे प्रधान उत्तरदायी तत्व विज्ञान की प्रगति है। विज्ञान ने आवागमन के साधनों में अनेकों सुविधायें ला दी हैं जिनके कारण फासले की समस्या आश्चर्यजनक रूप से हल हो गई है। प्राचीन दिनों में ऐसी सुविधायें उपलब्ध नहीं थीं और यदि थीं भी तो वे ऐसे अपक्व रूप में थीं कि लम्बी दूरियां साधारण जन-समूह द्वारा प्रायः कभी भी तै नहीं की

जाती थीं। यह एक सर्वथा भिन्न वस्तु है कि कुछ थोड़े से उद्योगी व्यक्तियों ने अनेकों खतरों का सामना करके प्राचीन समय में विभिन्न देशों की सीमायें लाँघ ली हों। विभिन्न देशों को मिलाती हुई सड़कें नहीं बनी थीं; रेलों का अनुसन्धान नहीं हुआ था; समुद्रों को बिना जीवन खतरे में डाले पार नहीं किया जा सकता था; और हवा में उड़ने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार यह स्वाभाविक ही था कि विभिन्न देश एक-दूसरे से सर्वथा अलग ही बने रहे और इस कारण पारस्परिक ज्ञान की भावना नहीं पनप सकी। आज हमारे पास आश्चर्यजनक रूप से तेज़ चलने वाले आवागमन के साधन हैं। रेलें, सड़कें, समुद्र और वायु सभी हमारे भ्रमण करने के लिए खुले हुए हैं। एक हवाई जहाज़ देहली से रवाना होकर संसार के किसी भी कोने में बहुत ही थोड़े समय में पहुँच जाता है। एक पानी का जहाज बम्बई से छूटकर इंग्लैंड के किनारे पर बहुत शीघ्र और सुरक्षित पहुँच जाता है। इस प्रकार अब संसार के विभिन्न लोगों से सम्पर्क स्थापित करना अपेक्षाकृत सहज और भयरहित हो गया है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे को अधिक अच्छी तरह समझ सकता है। युद्ध और शान्ति के समय में एक-दूसरे की सहायता तुरन्त और सुचारु रूप से की जा सकती है। पृथक् अथवा अकेले रहने की भावनालगभग विलीन हो चुकी है। प्रत्येक राज्य की समृद्धि और सुख संसार के अन्य राज्यों की समृद्धि और सुख से निकटतया मिला हुआ है। फिर विज्ञान के अन्य अनुसन्धानों जैसे रेडिओ, बेतार का तार, टेलीफ़ोन, टेलीविज़न आदि ने भी अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रगति में पर्याप्त योग दिया है।

(च) आर्थिक तत्व—विज्ञान की उन्नति के साथ ही उसके फलस्वरूप आर्थिक अन्योन्याश्रय का विकास हुआ। अब प्रत्येक राज्य अपनी राजनैतिक समस्याओं के सुलझाने के अतिरिक्त अपनी आर्थिक समृद्धि के प्रति भी चेतन है। आर्थिक समृद्धि की इच्छा को पूर्ण करने के लिए एक राज्य को पड़ोसी देशों और अन्य ऐसे देशों की ओर सहायता के लिए देखना पड़ता है जो अन्य देशों की आवश्यकता की वस्तुएं जुटा सकें। आवश्यकता

(demand) और रसद (supply) का यह प्रश्न वर्तमान आवागमन के साधनों और अन्य वैज्ञानिक अनुसन्धानों द्वारा अन्तिम रूप से हल किया जा चुका है। इस प्रकार भारत से जूट विदेशों को भेजा जाता है और बदले में भारत अपनी इच्छित वस्तुएं उनसे मँगाता है। इसका अर्थ यह है कि अन्त में भारत का जूट का व्यापार अन्य देशों में अन्य व्यापारों पर असर नहीं डालता। अथवा, दूसरा उदाहरण लें। मान्चेस्टर की कपड़ा-मिलों में हड़ताल या उनका बन्द हो जाना भारत के रुई के निर्यात पर असर डालेगा। जब निर्यात कम हो जायेगा तो भारत में, मान्चेस्टर की हड़ताल के परिणामस्वरूप, रुई का दाम गिर जायगा। फिर इंग्लैंड द्वारा सिक्कों के मूल्य में कमी कर देने से संसार के अनेकों देशों के व्यापार और मुद्रा पर असर पड़ा और इसी प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के बीच लम्बा झगड़ा चलता रहा। इस प्रकार हमने देखा कि वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने देशों को आर्थिक दृष्टि से अन्योन्याश्रित बना दिया है जिसका अर्थ यह है कि पारस्परिक सहयोग और मैत्री सम्बन्धों के लिए क्षेत्र स्वयमेव बढ़ गया है। कोई भी देश सम्भवतः अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए समस्त संसार सामान्यतः एक आर्थिक इकाई बनता जा रहा है।

(स) राजनैतिक घटनायें—उपर्युक्त दो तत्वों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना संसार में चारों ओर घटने वाली घटनाओं से और भी दृढ़ हो गई है। आज का मनुष्य युद्धों से थकित है। वह शान्ति और समृद्धि चाहता है। वह स्थानीय अथवा सार्वलौकिक झगड़ों के खतरनाक नतीजे देख चुका है और देख रहा है। सभ्यता को भारी आघात पहुँचता है। घृणा, हिंसा और युद्धों से थकित होने के कारण संसार के लोग अपने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को बदलने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे अपने दरवाजे से युद्ध रूपी भेड़िये को दूर रखने के लिए सावधान हैं। वे जहां तक सम्भव हो युद्ध के छिड़ने को रोकना चाहते हैं। वे अपने प्रधान मतभेदों को एक गोल मेज पर, अथवा पंच-फैसले अथवा किसी अन्य शान्तिपूर्ण

उपाय द्वारा दूर करना चाहते हैं। राष्ट्र-संघ (U. N. O.) एक ऐसा ही संगठन है जिसकी स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निर्णय करने और संसार में शान्ति स्थापित करने के लिए हुई है।

कुछ प्रसिद्ध राजनैतिक व्यक्तियों की धारणाओं और सिद्धान्तों का भी संसार के मनोविज्ञान पर असर पड़ता है। महात्मागांधी, लास्की, टॉल्सटाय इनमें से अग्रगण्य हैं। फिर राजनैतिक और साहित्यिक लेखकों के साहित्य का भी एक क्रियात्मक विश्व-व्यवस्था पर बहुत असर पड़ता है। इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और बर्नार्ड शॉ के उदाहरण प्रमुख हैं।

अस्तु हम संक्षेप में यह कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और शान्ति का उदय तीन तत्वों से होता है—वैज्ञानिक, आर्थिक एवं राजनैतिक। तीनों एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं।

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक तत्त्व—

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता अभी तक एक पवित्र आदर्श ही है—केवलमात्र एक कल्पना, विवेचना और वाद-विवाद की वस्तु। यह देखकर दुख होता है कि सार्वलौकिक बन्धुत्व के विचारों को अभी तक कोई व्यवहारिक रूप सफलतापूर्वक नहीं दिया जा सका है। विचारों के दिए जाने पर अपने उन विचारों को कार्य रूप में परिणत करने की इच्छा की आवश्यकता पड़ती है—ऐसी इच्छा जो अपने स्वयं के हितों का एक भाग "विश्व-इच्छा" ("Cosmopolitan Will") को पनपने देने के लिए बलिदान कर सके। राष्ट्रों के परिवार में शान्ति और सहयोग के कारण को बढ़ावा देने के लिए पर्याप्त ध्यान रखा जाना चाहिए। पर इसके साथ ही अपने राष्ट्र का भी ध्यान बनाए रखना चाहिए। सबके साथ व्यवहार करने का आधार समानता होना चाहिए और बलवान को कमज़ोर पर अधिकार जमाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

लेकिन संसार की गति की वर्तमान स्थिति में वास्तविकता कुछ और ही दिखाई पड़ती है। लोग शिक्षा कुछ देते हैं तथा करते कुछ और ही

हैं। विश्व एकता अभी तक एक मृग तृष्णा बनी हुई है। कारणों का वर्गीकरण भिन्न प्रकार किया जा सकता है:—

१—कहने और करने में भेद : आज संसार के सभी बड़े राष्ट्रों के शिक्षा देने और वास्तविक व्यवहार में तीव्र अन्तर है। हम अन्तर्राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में, उसके सिद्धान्तों, युक्तियों और कल्पनाओं के बारे में, बहुत कुछ सुनते हैं। लेकिन जब उन आदर्शों को कार्य रूप में परिणत करने का प्रश्न आता है तो लोग सामान्य हित के विचार को भूल जाते हैं और तुरन्त अपनी स्वयं की स्थिति दृढ़ करने को तत्पर हो जाते हैं। शक्तिशाली राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के नाम पर बहुत उच्च स्वर से शिक्षा देते हैं लेकिन उनमें से बहुत थोड़ों के पास वह सहयोग प्राप्त करने की वास्तविक इच्छा है इसलिए किसी यथार्थ प्रयत्न के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अवरुद्ध और अप्रगतिशील बनी हुई है।

२—प्रभुत्व के सिद्धान्त का अनुचित मोह : स्वभावतः सिद्धान्तों और व्यवहार के बीच उपर्युक्त मतभेद के साथ ही हमें यह जानने की इच्छा होती है कि वास्तव में मनुष्य उसी चीज़ को व्यवहार में क्यों नहीं लाते जिनकी वे शिक्षा देते हैं। हम इसका कुछ उत्तर तब पाते हैं जब हम यह देखते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र-राज्य प्रभुत्व सम्पन्न है अपने कार्यों के क्षेत्र में सर्वथा स्वतन्त्र हैं। कोई भी राष्ट्र यह नहीं चाहता कि वह किसी भी अन्य यन्त्र अथवा संगठन पर आश्रित बना दिया जाये चाहे वह कैसा ही सार्वलौकिक और न्यायानुकूल क्यों न हो। न ही राष्ट्र अपने प्रभुत्व के एक अंश को छोड़ देने को तैयार हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे अन्य राष्ट्रों से भय करते हैं और इसलिए पूर्ण रूप से सुरक्षित होने के लिए वे अपने प्रभुत्व और राज्यशक्ति को बनाए रखने के पक्ष में हैं। प्रभुत्व के सम्बन्ध में इस प्रकार का राजनैतिक दुराग्रह अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों को प्राप्त करने के प्रयत्नों को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है।

३—अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष और युद्ध—प्रभुत्व का सिद्धान्त "एक विश्व" के विचार के बड़े प्रश्न के विरुद्ध घात करता है। प्रत्येक राष्ट्र

शान्तिप्रिय होने का दावा करता है और दूसरों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भंग करने का दोषी बताता है। साथ ही कोई भी राष्ट्र अपनी शक्तियों और प्रभुत्व का त्याग करने को तैयार नहीं होता। इस प्रकार एक मनोवैज्ञानिक संघर्ष प्रारम्भ होजाता है। एक राष्ट्र के हित दूसरे के लिए अहितकर हो सकते हैं। समझौते के असफल होने से शत्रुता की भावना बढ़ती है और अन्त में युद्ध छिड़ जाता है। आज के युद्ध स्थानीय नहीं रह गए हैं। प्रत्येक युद्ध सार्वलौकिक स्वरूप धारण करने की चेष्टा दिखाता है। संसार का कोई भी भाग बचा नहीं रह पाता। वर्तमान प्रत्येक युद्ध प्रायः संहारकारी होता है—वह विजित एवं विजेता दोनों के लिए समान रूप से घातक होता है। एक विश्व-युद्ध के बाद के प्रभाव मनुष्य के दिमाग को जहरीला करके छोड़ते हैं और "विश्व-संघ" के सभी आधार तहस-नहस हो जाते हैं—कम-से-कम एक काफी लम्बे समय के लिए।

४—साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद (Colonialism)—साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद भी सार्वलौकिकता की उन्नति में रोड़ा अटकाने वाले प्रमुख तत्त्व हैं। शक्तिशाली राष्ट्र संसार के अन्य भागों में अपने साम्राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। ये साम्राज्य उन्हें राजनैतिक और आर्थिक सभी सम्भव फायदे पहुँचाते हैं। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध बहुत प्रतिक्रिया हुई है लेकिन फिर भी बहुत से राष्ट्र अभी भी उपनिवेश बनाए हुए हैं और अपने हितों को अन्य स्थानों पर सुरक्षित बनाए हुए हैं। स्पष्ट है कि यह स्वस्थ चिह्न नहीं है। इसके विपरीत इससे प्रायः युद्ध होते रहते हैं और इसलिए वह विश्व सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के लिए बहुत बड़ा खतरा है।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त से, जैसे भी हो, यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीयता एक सर्वथा काल्पनिक आदर्श है। हमें यह मानना पड़ता है कि संसार प्रतिदिन अधिकाधिक विचारवान होता जा रहा है। युद्ध और अकेले

रहने का खतरा बहुत से राष्ट्रों के दिलों में दृढ़ता से जड़ें जमा रहा है। लोगों ने कठोर राष्ट्रीयता के खतरों को अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया है। सब राष्ट्रों में राजनैतिक समानता प्राप्त करने का प्रयत्न चल रहा है। आज हमारा यह ध्येय है कि "जिसका सबसे सम्बन्ध है, उसका निर्णय सबके द्वारा मिलकर होना चाहिए।" यह तथा अन्य अनेकों स्वस्थ-चिह्न हैं और यह आशा की जा सकती है कि अन्त में राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए स्थान रिक्त कर देगी और राज्य की नागरिकता विश्व की नागरिकता के लिए। राष्ट्र-संघ विश्व-बन्धुत्त्व और सार्वलौकिकता के मत को फैलाने और उसे कार्य रूप में परिणत करने का एक ऐसा ही साधन है।

Q. 42 Trace the origin of the U.N.O. Discribe briefly its various organs and their functions.

राष्ट्र-संघ की उत्पत्ति का वर्णन करो तथा संक्षेप में उसके विभिन्न अंगों और उनके कर्त्तव्यों का हाल लिखो।

Ans.

प्रत्येक विश्व-युद्ध के बाद मानवता एक खोखलापन और युद्ध से थकावट अनुभव करती है। वह एक शान्तिपूर्ण समाज की ओर देखती है। अस्तु प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के उपरान्त संसार की प्रधान शक्तियों ने युद्धों के रोकने तथा स्थायी शान्ति स्थापित करने का एक बड़ा प्रयत्न किया है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद लीग ऑफ नेशन्स (League of Nations) का निर्माण हुआ था तथा अब द्वितीय युद्ध के बाद राष्ट्र-संघ (U.N.O.) का जन्म हुआ है।

राष्ट्र-संघ का जन्म—

राष्ट्र-संघ का आधार नवीन सिद्धान्तों पर है। वास्तव में वह लीग ऑफ नेशन्स की भस्म पर निर्मित है, और उसी के पद-चिह्नों पर चल रहा है। राष्ट्र-संघ की उत्पत्ति के प्रथम चिह्न हमें उन दिनों दिखाई देते हैं जबकि

संसार युद्ध की लपटों से घिरा हुआ था। वह सन् १६४१ था जब अमेरिका के राष्ट्रपति रूज़वेल्ट (President Roosevelt) ने एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय यंत्र की आवश्यकता एवं उसके महत्त्व की घोषणा की थी जो मनुष्य-मात्र को चार स्वतन्त्रताओं की सुरक्षा का आश्वासन दे सके—भाषण और विचारों की स्वतन्त्रता, धार्मिक स्वतन्त्रता, आवश्यकताओं से स्वतन्त्रता और भय से स्वतन्त्रता। उसी वर्ष ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्री चर्चिल तथा रूज़वेल्ट ने मिलकर "अटलान्टिक पत्र" (Atlantic Charter) तैयार किया था जिसमें शान्ति और स्वतन्त्रता के सिद्धान्त निहित थे। दूसरा कदम इस ओर १६४३ की मास्को घोषणा (Moscow Declaration) थी। अक्टूबर १६४३ में मास्को में ब्रिटेन, अमेरिका, सोवियत रूस और चीन के विदेशी मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ जिसमें उन्होंने यह स्वीकृत किया कि जल्दी-से-जल्दी मौका मिलने पर सब शान्तिप्रिय राष्ट्रों की प्रभुत्वसम्पन्न समानता के आधार पर एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित किया जाय। उन्होंने यह भी घोषित किया कि इस प्रकार का संगठन छोटे अथवा बड़े सभी देशों के लिए खुला रहेगा। इस प्रकार के संगठन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखना घोषित किया गया। तदनन्तर १६४४ में डम्बार्टन ओक्स सम्मेलन (Dumbarton Oaks Conference) में विचार-विमर्श हुआ। इसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय यन्त्र के निर्माण का एक निश्चित नक्शा तैयार किया गया जो संसार में शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने में समर्थ हो। इस प्रकार तैयार किये गए संगठन का लाभ, जिसका कि भविष्य में निर्माण होगा, "संयुक्त राष्ट्र संगठन" (the United Nations Organisation) अथवा "राष्ट्र संघ" रखा गया। इसके निर्माण का अन्तिम कदम सैन-फ्रान्सिस्को में अप्रैल १६४५ से जून १६४५ तक होने वाला संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (United Nations Conference) था। इस सम्मेलन में डम्बार्टन ओक्स की वार्ता के फलस्वरूप तैयार किए गए राष्ट्र-संघ के पत्र (Charter) को अधिकांश में स्वीकृत कर लिया गया और लगभग ५० राष्ट्रों ने २६ अप्रैल, १६४५ को उस पर

हस्ताक्षर कर दिए। सितम्बर १६४५ तक राष्ट्र-संघ एक पूर्ण रूप से विकसित संस्था बन चुकी थी जिसने तेज़ी से अपना काम शुरू कर दिया। संघ की साधारण सभा (The General Assembly of the U.N.O.) लगभग इसी समय प्रथम बार एकत्रित हुई। और तब से वह कार्य कर रही है।

राष्ट्र-संघ के अंग—

राष्ट्र-संघ के ६ अंग हैं :—

(१) साधारण सभा (General Assembly)

(२) सुरक्षा परिषद (Security Council)

(३) सचिवालय (Secrerariat)

(४) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)

(५) आर्थिक और सामाजिक परिषद (Social and Economic Council)

(६) निक्षेपधारी परिषद (Trusteeship Council)

उनके कार्य—

(१) साधारण सभा—सब सदस्य राज्यों से निर्मित साधारण सभा राष्ट्रसंघ का प्रधान विचार विमर्श करने वाला, नीति-निर्माण करने वाला और नियन्त्रण रखने वाला अंग है। इसकी बैठक साधारणतः प्रतिवर्ष होती है लेकिन सुरक्षा परिषद की सिफारिश अथवा सभा के बहुमत सदस्यों की मांग पर उसे असाधारण अधिवेशनों के लिए भी निमन्त्रित किया जा सकता है। सभी बड़े-बड़े निर्णय सुरक्षा परिषद स्वयं करती है जो कि वास्तव में साधारण सभा से अधिक शक्तिशाली है। साधारण सभा मूलतः वाद-विवाद करने वाला एवं विचार करने वाला अंग है जिसका कार्य दूसरे अंगों के अधिकारियों को चुनना तथा अन्य अधिकारियों की नियुक्ति करना है। वह शान्ति, सुरक्षा, कल्याण एवं मानव अधिकारों आदि से सम्बन्धित सब प्रश्नों पर विचार कर सकती है। लेकिन वे प्रश्न जिन पर सुरक्षा परिषद

अथवा राष्ट्रसंघ का कोई दूसरा अंग विचार कर रहा हो साधारण सभा के अधिकार के परे हैं। निर्वाचक सभा के रूप में वह सुरक्षा परिषद के अस्थायी सदस्यों, आर्थिक और सामाजिक परिषद के सदस्यों और निक्षेप-धारी परिषद के सदस्यों का निर्वाचन करती है। सुरक्षा परिषद तथा साधारण सभा एक साथ मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों को चुनती हैं। नियुक्त करने वाली शक्ति के रूप में वह राष्ट्रसंघ के Secretary General की नियुक्ति (सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर) करती है। साधारण सभा सुरक्षा परिषद से किसी भी प्रश्न पर सिफारिश कर सकती है लेकिन स्वयं निर्णय नहीं दे सकती। वह संसार की शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने के सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद से सिफारिशें कर सकती है। वह अपनी पूर्वगामी लीग-सभा (League Assembly) की तरह बाध्य निर्णय नहीं कर सकी।

२—सुरक्षा परिषद : यह राष्ट्र संघ का कार्यवाहक (executive) और सचमुच सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है। वह एक स्थाई अंग है और उसका अधिवेशन प्रायः साल भर चलता रहता है। उसमें ११ सदस्य देशों के प्रतिनिधि हैं जिनमें से ५ स्थाई हैं और शेष ६ अस्थायी जिनको साधारण सभा दो वर्ष के लिए चुनती है। संयुक्त राज्य अमेरिका, इंगलैंड, सोवियत रूस, फ्रान्स और चीन (पांच बड़े राष्ट्र) सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य हैं।

सुरक्षा परिषद राष्ट्र संघ की मशीन का मुख्य पुरजा है। वह संसार में शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए जिम्मेदार है। अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की समस्याओं पर उसके लिए साधारण सभा अथवा प्रत्येक सदस्य-राज्य से सलाह लेना आवश्यक नहीं है। वह विभिन्न देशों के झगड़ों की जांच करता है और विवाद तथा आवश्यक कार्यवाही के द्वारा ऐसी स्थिति को बचाना चाहता है जिससे संसार की शान्ति को खतरा हो। शान्ति स्थापित करने और उसे बनाए रखने के लिए वह निम्न तरीके प्रयुक्त कर सकती है : (अ) वह झगड़े में शामिल दलों से आपस में गुप्त वार्ता करके समझौता कर लेने को कह सकती है; (ब) मध्यस्थता करना, निर्णय करना, न्यायिक बन्दोबस्त

करना आदि; (स) आर्थिक प्रतिबन्ध (sanctions) लगाना; और (द) अन्य तरीकों के असफल रहने पर आक्रमणकारी देशों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करना।

सुरक्षा परिषद् के निर्णय की मान्यता के लिए ११ में से ७ वोटों का बहुमत आवश्यक है। यह आवश्यक है कि किसी विशेष निर्णय में सभी पांच बड़ी शक्तियां राजी हों चाहे उनमें से एक स्वयं झगड़े में शामिल ही क्यों न हो। लेकिन, जैसे भी हो, यदि "बड़े पांच" (Big Five) में से कोई सदस्य देश किसी सुझाव का प्रतिनिषेध (Veto) करता है तो इसका अर्थ यह है कि अन्य सदस्यों के पक्ष में होने पर भी वह सुझाव अपनी स्वाभाविक मौत से समाप्त हो गया है। यह बहुत भयानक बात है और राष्ट्रसंघ की मन्द उन्नति के लिए प्रधानतः उत्तरदायी है।

(३) सचिवालय— सचिवालय राष्ट्रसंघ का कार्यालय है जहां उसके विभिन्न अंगों की कार्यवाहियों के अभिलेख रक्षित रहते हैं; उनके लिए आवश्यक सूचना और सामग्री एकत्रित की जाती है और राष्ट्रसंघ की ओर से सदस्य देशों से पत्र-व्यवहार किया जाता है। उसका कर्मचारी वर्ग बहुत बड़ा है जिसमें सारे संसार से लोग चुनकर रखे गए हैं। सचिवालय का जिम्मा जिस अधिकारी के हाथ में रहता है वह Secretary General कहलाता है और जिसका कार्यकाल ५ वर्ष है। इस समय हैमशील्ड (Dr. Hammarskjoeld) इस पद पर हैं।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय यह राष्ट्रसंघ का न्याय-विभाग है। इसके पास कोई कार्यकारिणी शक्ति नहीं है। उसका कार्य उन मामलों का न्यायिक रीति से निर्णय करना है जो सुरक्षा परिषद द्वारा उसके सामने रखे जायें। अथवा वह सदस्य-राज्यों द्वारा लाए गए झगड़ों का फैसला भी कर सकता है। असदस्य राज्य भी अपने झगड़े सुरक्षा परिषद् द्वारा निर्धारित कुछ विशेष स्थितियों में इसके पास निर्णय के लिए ला सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय होने के कारण इस न्यायालय के समक्ष वे ही झगड़े लाए जा सकते हैं जिनका सम्बन्ध राज्यों से हो, निजी व्यक्तियों से नहीं। इसमें १५

न्यायाधीश हैं जिनको साधारण सभा और सुरक्षा परिषद एक साथ मिलकर ६ वर्ष के लिए चुनती है।

(५) आर्थिक और सामाजिक परिषद्—इस परिषद का उद्देश्य समस्त विश्व में सामाजिक और आर्थिक उन्नति प्राप्त करना है। अध्ययन, खोज, प्रयोगों एवं सम्मेलनों द्वारा यह परिषद अन्तर्राष्ट्रीय समाज की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और अन्य ऐसी समस्याओं पर विचार करती है। स्थितियों के कुछ आंकड़े जमा करके वह आवश्यक कार्यवाही के लिए साधारण सभा से सिफारिश करती है। इस परिषद् के अन्तर्गत विभिन्न आयोग (Commissions) कार्य कर रहे हैं। इसमें कुल १८ सदस्य हैं जो ६ वर्ष के लिए चुने जाते हैं और जिनमें से तिहाई सदस्य प्रति तीन वर्षों में अवकाश प्राप्त कर लेते हैं।

(६) निक्षेपधारी परिषद:—निक्षेपधारी परिषद् कुछ विशेष प्रकार के प्रदेशों के शासन के लिए उत्तरदायी है। लीग आफ नेशन्स के अन्तर्गत ऐसे उत्तरदायित्व का भार Mandate Commissions पर था। निक्षेपधारी परिषद द्वारा शासित प्रदेशों में ये सम्मिलित हैं: (१) वे जो पहले लीग आफ नेशन्स के शासन में थे; (२) वे जो शत्रु-राष्ट्रों (Axis Powers) से लिए गए और (३) वे जो उन देशों द्वारा, जो उनका शासन अभी तक कर रहे थे, स्वयं अपनी इच्छा से सुरक्षा परिषद् को सौंप दिए गए हैं।

जिस विधि से इन प्रदेशों का शासन होता है वह यह है कि परिषद प्रदेश का शासन एक या एक से अधिक राज्यों के हाथ में सौंप देती है। ये राज्य केवल मात्र "निक्षेपधारी" (trustees) होते हैं, "वास्तविक शासक" नहीं। परिषद शासन की सुचारुता को निकट से देखती रहती है और इस बात का ध्यान रखती है कि निक्षेपधारी राज्य इन प्रदेशों की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक प्रगति के लिए प्रयत्नशील हैं या नहीं जिनसे वे कालान्तर में स्वशासित स्वतन्त्र राज्यों की स्थिति को प्राप्त कर सकें।

Q. 43. Is a World State possible? Give

arguments for and against the proposal.

क्या एक विश्वराज्य सम्भव है ? इस सुझाव के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिए ।

Ans.

पक्षीय तर्क:—

(१) संसार के लिए राष्ट्रीय राज्यों का सिद्धान्त घातक सिद्ध हुआ है । राष्ट्रीय राज्यों की आपस की स्पर्धा के कारण घृणा, कटुता और संहारकारी युद्ध हुए हैं । केवल एक विश्व-राज्य ही विश्व को इस संहार और दयनीय अवस्था से बचा सकता है ।

(२) राष्ट्रीय राज्यों का परिणाम उपनिवेशिक राज्य का उदय हुआ है जिसके द्वारा कमजोर राष्ट्रों का शक्तिशाली राज्यों द्वारा शोषण किया जाता है । संसार के समस्त भौतिक साधनों का पूरी तरह से उपयोग नहीं होता । कुछ देश धन से भरे रहते हैं और अपने अनावश्यक अनाज को जला देते हैं जबकि अन्य देश भूखों मर रहे होते हैं । राष्ट्रीय राज्यों ने चुंगी (customs duties) की दीवालें खड़ी कर रखी हैं जो वस्तु के स्वतन्त्र आवागमन में बाधा पहुँचाती हैं । केवल एक विश्व राज्य ही जीवन के सामान्य स्तर को ऊंचा उठा सकता है ।

(३) कोई भी राष्ट्रीय राज्य स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता । संवाहन के साधनों और व्यापारिक तथा आर्थिक हितों ने विभिन्न राज्यों को एक-दूसरे पर आश्रित बना दिया है । एकान्त जीवन, जब तक कि जीवन का स्तर नीचा न कर दिया जाय, असम्भव है ।

(४) राष्ट्रीयता अब एक खतरनाक सिद्धान्त समझा जाने लगा है । समस्त विश्व की एकता की भावना बढ़ रही है । एक विश्व राज्य के लिए आन्दोलन प्रायः प्रत्येक देश में प्रारम्भ हो गया है । उनका नायकत्व साहित्यिक व्यक्ति, दार्शनिक, वैज्ञानिक और कलाकर कर रहे हैं ।

(५) विश्व संगटन, अर्थात् राष्ट्र-संघ की स्थापना हो चुकी है जो ऐसे राज्य का पूर्वगामी स्वरूप है ।

विपक्षी तर्कः—

(१) अभी भी सब जगह मनुष्यों के मस्तिष्क पर राष्ट्रीय विचारधारा छाई हुई है। अन्य राष्ट्रों के हितों की प्रायः सब जगह उपेक्षा की जाती है। प्रत्येक देश अपने में पूर्ण बनना चाहता है। शक्तिशाली राज्य अभी भी कमजोर राज्यों पर दांत गड़ाए हुए हैं। राजनैतिक साम्राज्यवाद ने केवलमात्र स्वरूप परिवर्तन कर लिया है। उसके स्थान पर आर्थिक साम्राज्यवाद आ गया है।

(२) विश्व राज्य का संगठन करना अत्यन्त कठिन है। उसको एकात्मक आधार पर संगठित नहीं किया जा सकता। एक संघ राज्य में सभी देशों को समानता मिलेगी किन्तु उसमें घनी आबादी वाले देशों, जैसे भारत और चीन का संसार के मामलों में प्रभुत्व रहेगा जो कि इंग्लेंड और अमेरिका सहन नहीं करेंगे।

(३) लीग आफ़ नेशन्स असफल रही है। राष्ट्र-संघ किसी भी समस्या को हल करने में समर्थ नहीं हुआ है। उसमें शक्तिशाली साम्राज्यवादी राष्ट्रीय राज्यों का प्रभुत्व है जो शोषण को समाप्त नहीं करना चाहते। राष्ट्र-संघ की असफलता से विश्व राज्य की भावना को ठेस लगेगी।

(४) विश्व राज्य विभिन्न राज्यों की प्रतियोगिता को समाप्त कर देगा। इससे संग्राम, स्पर्धा और आकांक्षाओं का नाश हो जायगा और इस प्रकार समस्त प्रगति अवरुद्ध हो जायगी।

(५) विश्व राज्य वैयक्तिक और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को कुचल देगा। वह मानव-जीवन में पूर्ण एकता का संचार करेगा।

(६) शक्तिशाली राष्ट्र विश्वराज्य के विचार को पसन्द नहीं करते क्योंकि उससे उनकी आर्थिक हानि होगी। वे कभी भी अपनी वर्तमान स्थिति को इच्छा से छोड़ना नहीं चाहेंगे। उन्हें इस काम के लिए विवश करना होगा।

निष्कर्षः—

यह बुरा आदर्श नहीं है। संसार इस लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है लेकिन

(१) कानून स्वतन्त्रता का विरोधी --

कानून और स्वतन्त्रता का सही सम्बन्ध क्या है इस प्रश्न पर राजनीति-विचारकों में बहुत मतभेद है। इस सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं। पहली विचारधारा यह है कि कानून स्वतन्त्रता का विरोधी है। दूसरा उसकी ही शत्रु-प्राय है। राज्य पूर्णरूप से प्रभुत्व-सम्पन्न है और कानून ऐसे प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य का आदेश है। आलोचकों का कहना है कि राज्य के आदेश स्वतन्त्रता को सीमित करते हैं क्योंकि वे प्रतिबन्ध लगाते हैं। तदनुसार इन आलोचकों के विचार में स्वतन्त्र अवस्था प्रतिबन्धों का अभाव है। जितना ही अधिक राज्य का हस्तक्षेप होगा उतनी ही स्वतन्त्रता कम होगी। इसी अर्थ में यह मत निर्धारित किया गया है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता राज्य के कानून-निर्माण के बढ़ने पर कम हो जाती है। अराजकतावादी, जो इस मत के प्रधान समर्थक हैं, स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए कानून और सरकार की समाप्ति चाहते हैं। दूसरा मत यह है कि कानून स्वतन्त्रता का निर्माण करता है। राज्य का प्रत्येक कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को बढ़ाता है।

लेकिन जैसे भी हो सही मत इन दोनों के बीच का है। कानून और स्वतन्त्रता एक-दूसरे के शत्रु नहीं हैं। कानून स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। यह स्पष्ट है कि पूर्वोक्त दोनों दृष्टिकोण गलत हैं। निम्न विश्लेषण से यह प्रकट हो जायगा।

(२) अनियन्त्रित स्वतन्त्रता असम्भव है--

यह कल्पना करना कि अनियन्त्रित स्वतन्त्रता नाम की कोई वस्तु है गलत है। बिना प्रतिबन्धों के स्वतन्त्रता की धारणा जंगल की हो सकती है, समाज की नहीं। राज्य की शक्ति के बिना स्वतन्त्रता का अस्तित्व सम्भव नहीं क्योंकि केवल राज्य ही नागरिकों की अपने अधिकारों और स्वतन्त्रता के भोग में रक्षा कर सकता है। यह राज्य ही है जो अधिकारों को कमजोरों को दबाने के लिये बलवानों की सहायता नहीं बनने देता। राज्य सामान्यहित की दृष्टि से सब व्यक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाता है। इस प्रकार वह यह देखता है कि एक की

स्वतन्त्रता दूसरे पर दासता तो नहीं जमाती। वह इस बात का प्रयत्न करता है कि स्वतन्त्रता का उपभोग बिना भेद-भाव के सबके द्वारा किया जाता है। इस प्रकार राज्य के कानून स्वतन्त्रता के विरोधी नहीं वरन् उसके बहुत बड़े मित्र हैं।

३—सब कानून स्वतन्त्रता नहीं प्रदान करते :—

लेकिन यह मान लेना भी गलत है कि राज्य के सभी कानून स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। राज्य ऐसे कानून पास कर सकता है जो वास्तव में मनुष्य की स्वतन्त्रता को बुरी तरह घटा दें। हमारे देश में आंग्लशासन काल के सुरक्षा कानून ने (D. I. R.) जो कि द्वितीय विश्व युद्ध के समय लागू किया गया था, भारत के शान्तिपूर्ण नागरिकों की स्वतन्त्रता पर कुल्हाड़ी चलाई थी।

४—कानून और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध :

लेकिन जैसे भी हो कानून स्वतन्त्रता से बहुत निकटतया सम्बन्धित है। प्रथम, राज्य के कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं। वे नागरिकों को एक-दूसरे के अधिकारों में हस्तक्षेप करने से मना करते तथा रोकते हैं। राज्य अधिकारों की व्याख्या करता है ताकि उनको भंग न किया जा सके। इसी अर्थ में कानून को स्वतन्त्रता की प्रथम दशा माना जाता है। दूसरे, राज्य के कानून जीवन की कुछ आधारभूत दशायें प्रदान करते हैं जिनके बिना सच्चे अर्थ में स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं की जा सकती। ये आधारभूत दशायें ही नागरिकों के लिए स्वतन्त्रता के फलों का उपभोग संभव करती हैं। उदाहरणतः जब राज्य कारखानों में काम करने की दशाओं का विनियमन करता है तो वह मजदूरों के लिए मनुष्य के समान रह सकना सम्भव करता है। इस प्रकार राज्य के कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का विस्तार करते हैं और उन्हें अपने सर्वोत्तम स्वरूप को प्राप्त करने में समर्थ बनाते हैं। यही नहीं, एक देश के वैधानिक कानून (Constitutional laws) व्यक्तियों की अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उपचारों की व्यवस्था करते हैं। इंग्लैंड का "अधिकार पत्र" (Bill of Rights)

इस सम्बन्ध में एक जीता-जागता उदाहरण है। भारत का वैधानिक कानून यह व्यवस्था करता है कि यदि एक मनुष्य को उसके मूल अधिकारों से वंचित किया जाता है तो वह सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) से प्रार्थना कर सकता है। इस प्रकार कानून स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए एक प्रत्यक्ष साधन बन जाता है।

इस प्रकार यह कल्पना करना कि कानून स्वतन्त्रता का विरोधी है गलत है। दोनों एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। राज्य के कानून एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सर्वोत्तम जमानत हैं। D. G. Ritchie ने अत्युक्ति नहीं की है जब उसने लिखा है कि अपने "व्यक्तित्व के विकास के यथार्थ अवसर के रूप में स्वतन्त्रता कानून का निर्माण है और वह कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसका राज्य के कार्य-करण के परे अस्तित्व हो।" (Liberty in the sense of positive opportunity for the self development is the creation of law and not something that could exist apart from the action of the State.") इसी प्रकार वे कानून जो एक स्वतन्त्र जनता द्वारा बनाए जाते हैं सामान्य हित की सर्वोत्तम रक्षा कर सकते हैं। लेकिन यह स्वीकार करना होगा कि कानून आवश्यक रूप से स्वतन्त्रता के प्रवाहक नहीं हैं। अनेकों कानून बुरे भी हो सकते हैं जो जनता की स्वतन्त्रता को घटा भी दें। यह इसी अर्थ में है कि स्वतन्त्र देश के नागरिकों को अपनी स्वतन्त्रता का रक्षक (सैनिक) होना अपना कर्तव्य समझना चाहिए। "स्वतन्त्रता का मूल्य अनन्त जागरण अथवा चेतनता है।"

Q. 48. Discuss the proposition that Sovereignty is not antagonistic to liberty.

(Punjab 1951, 48, 43)

इस प्रस्तावना की विवेचना कीजिए कि प्रभुता स्वतन्त्रता की विरोधी नहीं है।

Ans.

राजनीति-शास्त्र मानव स्वभाव के दो रूपों पर आधारित है। प्रथम, मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य करना चाहता है। दूसरे, इसके साथ ही मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए उसके लिए समाज में रहना आवश्यक है। लेकिन समाज में रहते हुए उसे अपना जीवन इस प्रकार ढालना होगा कि उसके कार्य करने की स्वतन्त्रता दूसरों की स्वतन्त्रता से न टकराए। उसकी स्वतन्त्रता ऐसी हो कि वह कोई भी काम कर सके लेकिन यह शर्त है कि वह दूसरों को नुकसान न पहुँचाए। इसलिए स्वतन्त्रता की धारणा में ये बातें उपलक्षित हैं :

(१) मनुष्य को अपने विचारों और कार्य में अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करने के लिए या तो प्रतिबन्ध का अभाव होना या कम-से-कम प्रतिबन्ध होना—सरकार और समाज के अन्य सदस्यों दोनों की ओर से—एक आवश्यक तथ्य है।

(२) स्वतन्त्रता में कुछ अचेत सीमायें अपने आप उपलक्षित हैं जो कि अपराध कानून और अपमान लेख कानून (Law of Libel) में दी हुई हैं—

(अ) सबको समान स्वतन्त्रता का भरोसा दिया जाय और

(ब) प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए एक सा अवसर पा सके।

इसलिए स्वतन्त्रता की आधुनिक धारणा में यथार्थ और निषेधात्मक दोनों ही रूप सम्मिलित हैं। तदनुसार स्वतन्त्रता की परिभाषा इस प्रकार की गई है "उन सामाजिक दशाओं के अस्तित्व पर, जो आधुनिक सभ्यता में व्यक्ति के सुख की आवश्यक जमानतें हैं, प्रतिबन्ध का अभाव।" लेकिन व्यक्ति की स्वतन्त्रता राज्य की प्रभुता की विरोधी नहीं है। व्यक्तिवादी और अराजकतावादी इसके विपरीत सोचते हैं। वे यह तर्क करते हैं कि जितने ही अधिक कानून होंगे उतनी ही स्वतन्त्रता कम होगी। यह भी कहा जाता है कि राज्य की शक्ति नागरिक की स्वतन्त्रता का उल्लंघन करती है।

यह कहा गया है कि प्रभुता और स्वतन्त्रता हर तरह से बेमेल हैं।

लेकिन वास्तविकता यह है कि प्रभुता और स्वतन्त्रता एक-दूसरे से मिले हुए विचार हैं। राज्य की प्रभुत्व-शक्ति के अभाव में व्यक्ति की सच्ची स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। यह राज्य की प्रभुत्वशक्ति ही है जिसके द्वारा व्यक्ति को सदा स्वतन्त्रता का वातावरण प्राप्त होता है जिसमें वह अपने अस्तित्व का अन्तिम उद्देश्य प्राप्त कर सके। यदि एक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय तो वह अपनी स्वतन्त्रता के प्रयोग करने में अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण करेगा। वह दुराचार (License) होगा स्वतन्त्रता नहीं।

दुराचार प्रायः अराजकता और उपद्रव का ही अपरूप है और उसकी दशायें हॉब्स की लिखी हुई प्राकृतिक अवस्था के समान होती हैं। अपने निषेधात्मक अर्थ में स्वतन्त्रता का अर्थ प्रतिबन्ध का अभाव है। लेकिन हम देख चुके हैं कि विनियमन मनुष्य की यूथचारी प्रकृति का स्वाभाविक परिणाम है। हम सामान्य नियमों के बिना साथ नहीं रह सकते। यही नहीं हमारी स्वतन्त्रता की धारणा में यथार्थ स्वतन्त्रता और निषेधात्मक स्वतन्त्रता दोनों शामिल हैं। वे साथ मिलकर इन विचारों पर जोर देती हैं कि स्वतन्त्रता का अस्तित्व केवल प्रतिबन्ध के अभाव में ही नहीं है वरन् अवसरों की उपस्थिति में भी है।

यह राज्य है जो इन अवसरों को प्रदान करता है, जब वह यह करता है तो उसमें यह उपलक्षित है कि स्वतन्त्रता का आधारभूत सूत्रवाक्य (Maxim) यह है कि कानून स्वतन्त्रता की आवश्यक दशा है। इस प्रकार राज्य केवल व्यक्तियों की स्वतन्त्रता ही निश्चित नहीं करता वरन् वह उनकी दुराचारी प्रवृत्ति पर भी प्रतिबन्ध रखता है। लॉक के इस निश्चय को कोई मानने से इन्कार नहीं कर सकता कि जहां कोई कानून नहीं है वहां स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। लेकिन यह बात ध्यान में रखने के लिए महत्व-पूर्ण है कि राज्य के कानून प्रो० लास्की के शब्दों में वे होने चाहियें "जिनमें एक ऐसा अनुभव का समावेश हो जिसका मैं अनुसरण करूं और

जिसको सामान्यतः स्वीकार कर सकूं ।" यदि कानून सबके लिए यह निर्धारित करता है कि बायें हाथ पर चलो और शाम को एक निश्चित समय के बाद बिना प्रकाश के सवारी मत चलाओ तो वह एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध होगा लेकिन वह सबके लिए हितकारी है जिसके प्रति किसी को आपत्ति नहीं करनी चाहिए। फिर, यदि कानून एक हत्यारे को अपने अपराध के लिए उचित रूप से दण्डित करता है तो वह समस्त समाज के हित के लिए है।

"ऐतिहासिक अनुभव ने हमारे लिए सुविधाओं के नियम बना दिए हैं जो ठीक तरह रहने में सहायक हैं और उनकी आज्ञा पालन करने के लिए विवश करना स्वतन्त्रता पर एक उचित सीमा है।" लेकिन यह नहीं समझना चाहिए कि प्रभुत्वशक्ति द्वारा जारी किया गया प्रत्येक प्रतिबंध न्यायसंगत है। यदि वह आवश्यकता के क्षेत्र से बाहर जाता है और प्रत्येक छोटी-छोटी बात में हस्तक्षेप करता है तो यह सर्वथा सम्भव है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता अवरुद्ध हो जाय। यदि राज्य के कानून मनुष्य के अनुभव के परिणाम नहीं हैं और उसके व्यक्तित्व के विकास पर प्रतिबन्ध लगाते हैं तो वह स्वतन्त्रता का शुद्ध और सादा उल्लंघन है। दूसरे शब्दों में यह स्वतन्त्रता की एक आवश्यक दशा है कि जो प्रतिषेध जारी किए गए हों वे उन लोगों की इच्छा पर निर्मित होने चाहियें जिन पर उनका असर होता है। यदि एक व्यक्ति यह महसूस करता है कि उसके पास अपना मत प्रकट करने के लिए कोई साधन नहीं है जिससे वह शक्ति-प्राप्त मनुष्यों पर अपना विचार अंकित कर सके तो वह सचमुच ही परतन्त्र होगा। यह आलोचना द्वारा सरकार ही है जो स्वतन्त्रता निश्चित कर सकती है।

स्वतन्त्रता का निवास एक स्वयं लगाए गए कानून में है, ऐसा कानून जो हमारी उच्चतम तर्क-युक्त आत्मा से निकलता है, न कि एक ऐसे कानून के प्रति आज्ञा पालन में जो हमारी प्रवृत्तियों को विकसित होने से रोकता है। मनुष्य उस समय स्वतन्त्र नहीं होते जब उन्हें ऐसे कानूनों को पड़ता है जिन्हें उनकी "आत्मा" (Rational Self)

बताकर अस्वीकृत कर देती है। तब प्रतिबन्ध एक दोष है जब वह आध्यात्मिक घनीकरण के जीवन को नष्ट करता है। ऐसी वस्तुओं में वैयक्तिक आरम्भिक कार्य-शक्ति (Initiative) के लिए पर्याप्त क्षेत्र प्राप्त करना, जो हमारी नैतिक आकृति में योग देती हैं, प्रत्येक मनुष्य की दृढ़ इच्छा होती हैं। हमारी स्वतन्त्रता का नाशक वह है जो हमारी आरम्भिक कार्य-शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाता है। इसलिए स्वतन्त्रता एक कानून के प्रति आज्ञाकारिता में नहीं है। व्यक्ति को एक निर्जीव आदेश पाने वाले से कुछ अधिक होना चाहिए। इस प्रकार स्वतन्त्रता में कुछ प्रतिबन्ध अवश्य रहते हैं और वह उन अवसरों को भी प्रदान करती है जो व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं। यही नहीं स्वतन्त्रता निरर्थक होगी "यदि वह अन्त में प्रतिकार करने की संगठित और चेतन शक्ति नहीं है।"

Q. 49. Discuss equality as a political concept and bring out its implications and kinds.

एक राजनैतिक धारणा के रूप में समानता की विवेचना कीजिए और उसके उपलक्षित अर्थों एवं प्रकारों का वर्णन कीजिए।

Ans.

(अ) समानता का अर्थ—

प्रत्येक व्यक्ति समानता के लिए चिल्लाता है, लेकिन उसके अर्थ एवं उपलक्षित भाव को बहुत कम व्यक्ति समझते हैं। समानता की कोई निश्चित परिभाषा देना काफ़ी कठिन है। कुछ लोग यह सोचते हैं कि समानता का अर्थ व्यवहार की समानता है जबकि दूसरे लोग कहते हैं कि समानता से तात्पर्य है फल की समानता। ये दोनों ही मत गलत हैं। सभी मनुष्यों के साथ एक प्रकार का व्यवहार नहीं किया जा सकता क्योंकि मनुष्य नदियों के समान अपनी शक्ति और आवश्यकताओं में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार वेतन अथवा पारितोषक भी कार्य के गुण पर निर्भर रहता है जो फिर मनुष्यों में भिन्न होता है। एक वैज्ञानिक और एक कुली को एक बराबरी पर कैसे रखा जा सकता है?

वास्तव में समानता एक अदृश्य निश्चित भाव नहीं है। वह एक समाज की दशा है जिसमें निम्न भाव उपलक्षित हैं—

१—**विशेषाधिकारों की अनुपस्थिति**—सर्वप्रथम, समानता का अर्थ है असाधारण विशेषाधिकारों का न होना। इसका अर्थ है कि किसी को भी समाज में ऐसा स्थान नहीं मिलना चाहिए कि वह अपने पड़ोसी के अधिकारों पर अतिक्रमण कर सके। कानून के समक्ष सब को बराबर समझा जाना चाहिए। राज्य की दृष्टि में सब नागरिक समान होने चाहियें। एक मनुष्य को किसी भी अन्य मनुष्य के समान ही किसी भी पद के योग्य समझा जाना चाहिए। सब नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त होने चाहियें।

२—**सबको समान अवसर**—दूसरे, समानता में यह भाव उपलक्षित है कि बिना भेदभाव के सबके लिए पर्याप्त अवसर खुले रहने चाहियें। इसका अर्थ है कि मनुष्यों को अपनी उन्नति करने के पूर्ण एवं समान अवसर मिलने चाहियें। केवल योग्यता ही एक विशेषाधिकार होना चाहिये। वास्तव में पर्याप्त अवसरों से उपलक्षित है प्रत्येक मनुष्य के लिए अपनी योग्यतानुसार उठने के मौलिक अवसर की समानता। भाव यह है कि एक योग्य मनुष्य को केवल इसी कारण उपेक्षित नहीं कर देना चाहिए कि गरीब है अथवा भाग्यवश किसी विशेष जाति से सम्बन्धित है। मनुष्य को जाति, धर्म, रंग और धन के आधार पर कोई रुकावट प्रस्तुत नहीं करनी चाहिए।

३—**सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति**—तीसरे, समानता में उपलक्षित है सामाजिक स्थिति में कम-से-कम उतनी समानता जो अधिक-से-अधिक संख्या को रोटी, कपड़ा प्रदान कर सके। यदि दूसरों को आवश्यकता प्राप्त करना है तो कुछ को भूखों नहीं मरना चाहिए।

(ब) समानता के प्रकार—

प्रधानतः समानता के तीन प्रकार हैं—

(१) राजनैतिक समानता;

(२) आर्थिक समानता; और

(३) सामाजिक समानता ।

(१) **राजनैतिक समानता**—राजनैतिक समानता का अर्थ है राजनैतिक अधिकारों की समानता। उसमें एक मनुष्य को एक वोट का भाव उपलक्षित है। प्रत्येक मनुष्य को चुने जाने तथा किसी भी पद को प्राप्त कर सकने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए यदि वह उसके योग्य हो। इस प्रकार अन्तिम विश्लेषण में राजनैतिक समानता का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य को राज्य के मामलों के संचालन में अपने शिक्षित निर्णय और अनुभवों का योग देने के अवसर।

(२) **आर्थिक समानता**—आर्थिक समानता में दो अर्थ उपलक्षित हैं। प्रथम, इसका अर्थ है कि समाज में समान-विभाजन द्वारा प्राप्त धन की निकट समानता होनी चाहिए। इसके पूर्व कि धन के अन्तरों को बढ़ने दिया जाय सबकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति हो जानी चाहिए। आवश्यकताओं को ऐश्वर्य की वस्तुओं से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाना चाहिए। दूसरे, उसका अर्थ है उद्योग में प्रजातन्त्र। जो व्यक्ति उद्योग के क्षेत्र में बड़े-बड़े पदों पर हैं उन्हें अपने जारी किये गए आदेशों के प्रति उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए।

(३) **सामाजिक समानता**—सामाजिक समानता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज का सदस्य होने के नाते समान सामाजिक स्थिति प्राप्त हो। समाज में किसी भी व्यक्ति को ऊंचा अथवा नीचा केवल इसीलिए नहीं समझा जाना चाहिए कि वह निर्धन है अथवा निम्न कुल में उत्पन्न हुआ है। किसी को भी अपने व्यक्तित्व के विकास करने के अवसरों से केवल इसीलिए वंचित नहीं रखना चाहिए कि प्रकृति ने उसे नीच जाति देकर उसके साथ उपहास किया है।

Q. 50. The doctrive of equality has been charaterized as monstrosity. Discuss. (Agra 1935)

समानता के सिद्धान्त की प्रमुख विशेषता भयंकरता बताई गई है। इस कथन की विवेचना कीजिए।

Ans.

समानता का विचार जिसने कभी फ्रान्स की क्रान्ति को जन्म दिया था और जो अब भारतीय गणतन्त्र के संविधान का अभिन्न अंग—एक बहु-मूल्य मानव-अधिकार के रूप में—बन गया है बहुत-से लोगों द्वारा भयंकर, काल्पनिक, एवं असम्भव बताया गया है। लेकिन जैसे भी हो समानता के सम्बन्ध में यह विचार सर्वथा गलत है।

वे आलोचक जो ऐसा कहते हैं सम्भवतः समानता का गलत अर्थ लगाते हैं। वे उसे मनुष्यों में हर प्रकार के अन्तरों—मानसिक, शारीरिक और चरित्र-सम्बन्धी—का निषेध समझते हैं। उनका विचार है कि प्रकृति ने मनुष्यों को योग्यता में एक-दूसरे से भिन्न बनाया है। लेकिन समानता का अर्थ है इन प्राकृतिक भिन्नताओं को समाप्त करना अस्तु, समानता स्वयं एक असम्भवता है। ऐसे आलोचकों का यह भी विचार है कि समानता में व्यवहार की एकरूपता एवं फलों की एकरूपता का अर्थ भी उपलक्षित है। तब वे कहते हैं कि सभी मनुष्यों के साथ एक-सा व्यवहार नहीं किया जा सकता क्योंकि मनुष्य स्वभावतः योग्यता, ज़रूरतों और आवश्यकताओं में एक-दूसरे से भिन्न हैं। उनकी यह भी राय है कि फल अथवा पारितोषिक भी काम की प्रकृति पर निर्भर रहता है जो फिर मनुष्य-मनुष्य में भिन्न होती है। इससे आलोचक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि चूंकि इन दोनों अर्थों में समानता प्राप्त नहीं की जा सकती इसलिए समानता स्वयं एक भयंकर धारणा है, एक जीती जागती असम्भवता है।

लेकिन तथ्य यह है कि समानता का अर्थ वह नहीं है जो उसके आलोचक लगाते हैं। इसलिए उनकी आलोचना का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। वास्तव में समानता के अर्थ में निम्न तीन बातें आती हैं—

१—विशेषाधिकार का अभाव—

सर्वप्रथम समानता का अर्थ है असाधारण विशेषाधिकारों का न होना।

इसका अर्थ है कि समाज में किसी को भी ऐसा स्थान नहीं दिया जाना चाहिए कि वह अपने पड़ोसी के अधिकारों का अतिक्रमण कर सके। कानून के समक्ष सबको बराबर समझा जाना चाहिए। राज्य की दृष्टि में सब नागरिक बराबर होने चाहियें। एक मनुष्य को अन्य किसी भी मनुष्य के समान ही राज्य में किसी भी पद पर नियुक्ति किये जाने योग्य समझा जाना चाहिए। सब नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त होने चाहियें।

२—सब के लिए समान अवसर

दूसरे, समानता के अर्थ में यह उपलक्षित है कि बिना भेद-भाव के सब मनुष्यों के लिए समान अवसर होने चाहियें। इसका अर्थ है कि लोगों को अपनी उन्नति करने के लिए पूर्ण और समान अवसर मिलने चाहियें। वास्तव में पर्याप्त अवसरों से उपलक्षित है प्रत्येक मनुष्य के लिए अपनी योग्यता के अनुसार उठ सकने के मौलिक अवसर की एकरूपता। भाव यह है कि एक योग्य व्यक्ति को केवल इसलिए बेकार नहीं रखना चाहिए कि वह निर्धन है अथवा भाग्यवश किसी विशेष जाति में उत्पन्न हुआ है। समाज को जाति, धर्म, रंग, लिंग और धन के आधार पर कोई रुकावट अस्वीकृत नहीं करनी चाहिए।

३—सबकी अल्पतम आवश्यकताओं की पूर्ति—

तीसरे, समानता के अर्थ में यह भी उपलक्षित है कि मनुष्यों में सामाजिक स्थिति की दृष्टि से इतनी समानता होनी चाहिए कि अधिक-से-अधिक मनुष्यों को कपड़े-खाने की सुरक्षा मिल सके। दूसरों को आवश्यकता से अधिक देने के कारण कुछ लोगों को भूखों नहीं मरना चाहिए।

उपर्युक्त समानता के सभी उपलक्षित अर्थ तर्क-संगत, उचित और संभव हैं। उनके संबंध में कोई भयंकरता नहीं।

यही नहीं, समानता अपने प्रायः सभी प्रकारों में आधुनिक सभ्य राज्यों में सम्भव बनाई जा रही है। समानता के तीन मुख्य प्रकार ये हैं :

(१) राजनैतिक समानता;

(२) आर्थिक समानता; और

(३) सामाजिक समानता।

(१) राजनैतिक समानता—राजनैतिक समानता का अर्थ है राजनैतिक अधिकारों की समानता। उसके अन्दर एक मनुष्य एक वोट का अर्थ उपलक्षित है। प्रत्येक मनुष्य को चुने जाने और किसी भी पद पर काम करने का अधिकार होना चाहिए यदि वह उसके योग्य है।

(२) आर्थिक समानता—आर्थिक समानता में दो अर्थ उपलक्षित हैं। प्रथम, इसका अर्थ है कि समान-विभाजन द्वारा प्राप्त धन की लगभग समानता होनी चाहिए। दूसरे, उसका अर्थ है उद्योग में प्रजातन्त्र। वे लोग जो उद्योग के क्षेत्र में ऊंचे पदों पर हैं उन्हें अपने जारी किए आदेशों के लिए उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए।

(३) सामाजिक समानता—सामाजिक समानता का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते उसमें समान दर्जे का भोग करता है। समाज में किसी भी व्यक्ति को केवल इसलिए ऊंचा अथवा नीचा नहीं ठहराया जाना चाहिए कि वह निर्धन है अथवा भिन्न कुल में उत्पन्न हुआ है।

आज संसार के सभी सभ्य राज्यों में सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार प्रचलित है। प्रत्येक मनुष्य को शक्ति के बड़े-बड़े पदों पर पहुँचने की आज़ादी है। यही नहीं, जाति, धर्म और रंग की बाधाओं को भी घृणित समझा जाने लगा है और वे हटाई जा रही हैं। आर्थिक क्षेत्र में भी साम्यवाद की उत्तरोत्तर प्रगति के साथ धनी और निर्धन का भेद भी छूटता जा रहा है।

अब राज्य को एक लोक-मंगलकारी संगठन समझा जाने लगा है। अमीरों द्वारा गरीबों का शोषण करने वाली संस्था अब नहीं रही। अब थोड़ों के धन की अपेक्षा बहुतों का जीवन अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा है। यह स्पष्ट हो जायगा कि आज स्वतन्त्रता को उसके सभी रूपों में व्यावहारिक अथवा प्रयोगात्मक आदर्श बनाया जा रहा है। इस प्रकार किसी भी अर्थ में समानता को भयंकर नहीं समझा जा सकता।

१०—अधिकार और कर्त्तव्य

Q. 51. What are Rights ? Discuss different kinds of Rights.

अधिकार क्या होते हैं ? विभिन्न प्रकार के अधिकारों की व्याख्या कीजिए।

Ans.

(अ) अधिकार क्या हैं ?

(१) सामाजिक जीवन की दशायें—प्रत्येक राज्य उन अधिकारों से जाना जाता है जिन्हें वह बनाए रखता है। वास्तव में अधिकार सामाजिक जीवन की वे दशायें हैं जिनके बिना कोई मनुष्य अपना सर्वोत्तम विकास नहीं कर पाता। प्रत्येक राज्य का यही लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति केवल अधिकारों के बनाए रखने से ही होती है।

अधिकारों का उदय मनुष्य की सामाजिक प्रकृति से होता है। जीवन की कुछ ऐसी परम आवश्यकतायें हैं जिनके बिना मनुष्य समाज में नहीं रह सकता। जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं की यह मांग है कि प्रत्येक मनुष्य का अपना कुटुम्ब हो, वह अपनी जीविका कमाने के लिए काम करें, वह दूसरों से मिले-जुले, अपने विचार प्रकट करे और बहुत से अन्य कार्य करे। इससे यह ज्ञात होता है कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए मनुष्य को स्वतन्त्र होकर कार्य करने की कुछ शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। ये सब स्वतन्त्र कार्य, जो कि मनुष्य की प्रकृति की मांगों की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं, जब समाज द्वारा प्रस्वीकृत एवं प्रदान कर दिए जाते हैं तो अधिकार कहलाते हैं।

(२) शक्तियों से भिन्न—यहां हमने "कार्य करने की शक्तियों" की

बात कही है लेकिन अधिकारों को इन शक्तियों से भिन्न समझना होगा। प्रकृति प्रत्येक साधारण मनुष्य को कुछ शक्तियां प्रदान करती है। शक्ति, जैसा कि शब्द से उपलक्षित है, का अर्थ है बल। बल उचित हो सकता है और अनुचित भी। यदि वह शक्ति का अनुचित प्रयोग हो तो वह पाशविक बल बन जाता है। लेकिन मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है और वह जानता है कि वह समाज में केवल उसकी एक विवेकशील इकाई की तरह ही रह सकता है। इसलिए वे शक्तियां, जिन्हें समाज स्वीकृत करता है और जो यह मानती हैं कि प्रत्येक अन्य व्यक्ति के पास भी ऐसी शक्तियाँ हैं तथा उनका प्रयोग सामाजिक हित के लिए किया जाना चाहिए, अधिकार कहलाती हैं।

(३) **अधिकार केवल समाज में ही सम्भव**—तदनुसार यह स्पष्ट हो जायगा कि अधिकारों का उदय केवल समाज में ही होता है और उनकी प्रकृति सामाजिक होती है। यदि समाज न हो तो कोई अधिकार भी नहीं हो सकते। रोबिन्सन क्रूसो (Robinson Crusoe) के उस निर्जन द्वीप पर कोई अधिकार नहीं थे। वह जो कुछ देख सकता था उसी का स्वामी था। उसके कार्य करने की स्वतन्त्रता पर कोई सीमा नहीं हो सकती थी। स्वतन्त्रता की सीमा का उदय तब होता है जब उस स्वतन्त्रता के प्रयोग करने वाले अन्य व्यक्ति भी हों। अधिकारों का अस्तित्व समाज में है और एक व्यक्ति उनका उपभोग दूसरों के सम्बन्ध में करता है। दूसरी तरह से यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक अधिकार के साथ एक कर्तव्य जुड़ा रहता है। यदि मुझे जीवन के लिए कार्य करने का अधिकार है तो मुझे दूसरों को भी ऐसा ही अधिकार देना चाहिए। मैं अपने अधिकारों का उपभोग दूसरों के अधिकारों का सम्मान करके ही कर सकता हूँ।

(४) **अधिकार राज्य में सम्भव**—राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों के विभिन्न दावों का समन्वय करने के लिए होता है जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति का आधारभूत कर्तव्य राज्य का एक संगठित सरकार के रूप में आज्ञापालन करना है।

लेकिन दूसरी ओर यदि प्राकृतिक अधिकारों से हम यह अर्थ लगायें कि उन अधिकारों का उपयोग जो मनुष्य के हित के लिए परम आवश्यक है तथा जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए जरूरी हैं तो हम प्राकृतिक अधिकार शब्द के इस प्रयोग से सहमत हैं। लेकिन राजनीति-शास्त्र के विद्यार्थी होने के नाते हम उनको और किसी अर्थ में नहीं स्वीकृत कर सकते। प्राकृतिक अधिकारों से हमारा अर्थ उन आधारभूत-अधिकारों से हैं जो प्रत्येक राज्य को अपने नागरिकों को देने चाहियें क्योंकि वे मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं। जो राज्य इन आधारभूत अधिकारों की उपेक्षा करता है वह अपने लक्ष्य का पालन नहीं करता। क्या हमने इस प्रश्न के प्रारम्भ में ही यह नहीं कहा था कि "प्रत्येक राज्य उन अधिकारों से जाना जाता है जिन्हें वह बनाए रखता है ?"

Q. 52. Examine critically the concept of "Natural Rights". Is there any element of tuth in it ?

(Agra 1950, 53)

"प्राकृतिक अधिकारों की धारणा की परीक्षा कीजिए। क्या उसमें कुछ सत्यांश भी है ?

Ans.

"प्राकृतिक अधिकारों का अर्थ :

प्राकृतिक अधिकारों की धारणा राजनीति-शास्त्र की एक अत्यन्त कठिन समस्या है। राजनीति-शास्त्र के साहित्य में अनेक विवादग्रस्त प्रश्न हैं पर प्राकृतिक अधिकारों से अधिक आवश्यक कोई नहीं। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक अधिकारों के समर्थकों में उसके अर्थ के सम्बन्ध में बहुत मतभेद हैं। विभिन्न लेखकों ने उनकी विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है।

अस्तु, प्राकृतिक अधिकारों की एक व्याख्या, जोकि १७वीं तथा १८वीं सदी के सामाजिक समझौते के लेखकों ने की है, यह है कि प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं जो मनुष्य को प्राकृतिक अथवा अराजनैतिक अवस्था

में प्राप्त थे। इन लेखकों का विश्वास है कि एक समय ऐसा था जब राज्य-सत्ता नाम की कोई चीज़ नहीं थी। मनुष्य का शासन प्रकृति के नियमों (Law of Nature) द्वारा होता था और उन्हें कुछ अधिकार प्राप्त थे जिन्हें "प्राकृतिक अधिकार" (Natural Rights) कहा जाता है। इस प्रकार इस मत के अनुसार एक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार उसकी प्राकृतिक "शक्तियां" थीं। हाब्स ने कहा था, "अराजनैतिक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक वस्तु का अधिकार था, एक-दूसरे के शरीर का भी।"

प्राकृतिक अधिकारों की धारणा की एक अन्य व्याख्या यह है कि अधिकार मनुष्य को स्वभावतया प्राप्त हैं। वे उसके जन्मसिद्ध हैं और उसकी प्रकृति अथवा स्वभाव के उसी तरह अंग है जैसे उसकी खाल का रंग। प्रकृति अथवा स्वभाव के अंग होने के कारण उन्हें किसी प्रकार की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं। जीवन-सम्पत्ति-सुरक्षा के अधिकार इसी प्रकार के हैं।

प्राकृतिक अधिकारों का प्रयोग एक तीसरे अर्थ में भी किया जाता है। इसके अनुसार वे अधिकार प्रकृति के नियम (Law of Nature) पर आधारित हैं जो कि सभी प्राकृतिक पदार्थों के मूल में रहता है। उन्हें अपनी मान्यता स्वयं सार्वलौकिक प्रकृति (universal Nature) से मिलती है, जो कि किसी भी मानव-कानून से सर्वथा स्वतन्त्र है।

इस प्रकार हमने "प्राकृतिक अधिकारों" के तीन विभिन्न अर्थ देखे जिनमें उनका प्रयोग किया जाता है। लेकिन उनके वास्तविक सार के सम्बन्ध में प्रायः एक ही मत है। कहने का तात्पर्य यह कि उनका प्रयोग किसी भी अर्थ में किया जाय यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक अधिकार समाज अथवा राज्य द्वारा निर्मित नहीं हैं। वे स्वभाव से ही मनुष्य को प्राप्त हैं। समाज मनुष्य को उन अधिकारों से वंचित नहीं कर सकता क्योंकि वे प्रकृति ने उस पर निछावर किए हैं। दूसरे शब्दों में प्राकृतिक अधिकार मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार हैं। प्राकृतिक अधिकारों के सभी समर्थकों का यह कहना है कि राजनैतिक तथा सामाजिक संस्थाओं ने प्राकृतिक अधिकारों को कम कर दिया है।

आलोचना के दो शब्द—

प्राकृतिक अधिकारों की धारणा के विरुद्ध प्रथम तर्क यह है कि वह समाज से पृथक अधिकारों के अस्तित्व की कल्पना कर लेता है जो कि निरर्थक है। अधिकारों का उदय इस तथ्य से होता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए उनका समाज में ही कुछ अर्थ हो सकता है। यही नहीं, अधिकारों का अस्तित्व भी समाज में ही सम्भव है क्योंकि उनको लागू करने तथा मनवाने के लिए एक बाधक शक्ति की आवश्यकता होती है। अराजनैतिक अवस्था में ऐसी कोई शक्ति नहीं थी, अस्तु, अधिकारों की बात सोचना असम्भव कल्पना करना है। अधिकारों का अस्तित्व एक संगठित समाज में ही सम्भव है। बोसान्क्वे (Bosanquet) के शब्दों में "अधिकार वह दावा है जिसे समाज प्रस्वीकृत कर लेता है और राज्य लागू करता है।"

प्राकृतिक अधिकारों की धारणा के विरुद्ध दूसरा तर्क यह है कि वह कुछ स्वयंसिद्ध "पूर्ण" (absolute) अधिकारों की पूर्वकल्पना कर लेती है जो कि सर्वथा गलत है। "पूर्ण" अधिकार कागज पर भले ही उपयोगी लगें पर वास्तविक जीवन में वे अवश्य असुविधायें एवं कठिनाइयां खड़ी कर देंगे। उदाहरणार्थ हम फ्रान्स की अधिकार-घोषणा को ले सकते हैं जिसमें स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्त्व को "पूर्ण" घोषित किया गया है। लेकिन "पूर्ण" समानता एवं "पूर्ण" स्वतन्त्रता कभी एक साथ सम्भव नहीं; यदि स्वतन्त्रता पूर्ण होगी तो समानता सर्वथा लोप हो जायगी और यदि पूर्ण समानता होगी तो स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी।

इसके अतिरिक्त प्राकृतिक अधिकारों के समर्थकों का कहना है कि राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं में प्रकृतिक अधिकारों को कम कर दिया है जिसका यह अर्थ है कि राज्य तथा अन्य सामाजिक संस्थायें कृत्रिम हैं, मनुष्य के लिए प्राकृतिक नहीं। यह सर्वथा गलत है। राज्य मनुष्य के लिए प्राकृतिक है यह ऐसा तथ्य है जो सर्वमान्य है और उस पर शंका नहीं की जा सकती।

अन्त में प्राकृतिक अधिकारों की धारणा की आलोचना के रूप में हमें यह कहना है कि उनके अर्थ के सम्बन्ध में बहुत अनिश्चितता है। "प्राकृतिक" (Natural) शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती है और यही इन अधिकारों के समर्थकों ने वास्तव में किया भी है। इस प्रकार "प्राकृतिक" शब्द के किसी एक निश्चित अर्थ के अभाव में प्राकृतिक अधिकारों का व्यवहारिक क्षेत्र में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

लेकिन इस सब आलोचना से यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि प्राकृतिक अधिकारों की धारणा सर्वथा अनुपयोगी है। भूतकाल में उसने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। यह प्राकृतिक अधिकारों की ही धारणा है जो कि फ्रान्स और अमेरिका की अधिकार-घोषणाओं के आधार में निहित है। और यह भी प्राकृतिक अधिकारों की धारणा ही है जिसने उन्नीसवीं सदी में मनुष्य को व्यक्तिवाद की ओर बढ़ाया और जिसके फलस्वरूप वह राज्य के निरन्तर बढ़ते जाने वाले नियन्त्रण से मुक्ति पा सका।

प्राकृतिक अधिकार आदर्श अधिकारों के रूप में:—

लेकिन प्राकृतिक अधिकारों की सबसे अधिक उपयोगिता उनके उस अर्थ में है जो अब किया जाने लगा है। अब प्रायः प्राकृतिक अधिकारों की "आदर्श अधिकारों" के रूप में व्याख्या करने का नियम-सा बन गया है— ऐसे अधिकार जो मनुष्य को उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायता देते हैं। उन्हें प्राकृतिक इसलिए कहा जाता है कि वे मनुष्य की नैतिक प्रकृति की प्रगति में सहायता करते हैं। लेकिन मनुष्य अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए जो भी दावे करे उन सभी को अधिकार नहीं कहा जा सकता। वे ही दावे अधिकार बन सकते हैं जिन्हें समाज मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक स्वीकृत कर लें। इस प्रकार ये प्राकृतिक अधिकार तभी अधिकार कहलाए जाने योग्य हो सकते हैं जब उन्हें समाज की स्वीकृति प्राप्त हो जाय। अन्यथा वे दावे अथवा स्वप्न-मात्र रह जायेंगे जिन्हें मान्यता नहीं प्राप्त होगी।

अस्तु हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्राकृतिक अधिकारों की

धारणा की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता उसके अर्थ किए जाने पर निर्भर है। यदि उनसे हम उन अधिकारों का अर्थ लगायें जो मनुष्य को अराजनैतिक अवस्था में प्राप्त थे, जैसा कि सामाजिक समझौते के लेखकों ने बताया है, तो वह सर्वथा निरर्थक धारणा है। लेकिन यदि उन्हें हम "आदर्श" अधिकारों के रूप में मानें—ऐसे अधिकार जो मानव-व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं—तो वह एक बहुमूल्य धारणा है।

Q. 53. Can there be any rights against the State?

क्या राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार हो सकते हैं ?

Ans.

(अ) व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं—

मनुष्य को अधिकार समाज द्वारा प्रदान किये जाते हैं और राज्य उन्हें लागू करता है। राज्य मनुष्य के अधिकारों को बनाए रखता है और उनका समन्वय करता है। राज्य अपने कमजोर-से-कमजोर तथा गरीब-से-गरीब नागरिकों के लिये भी बलवान और धनिकों के समान ही अधिकारों का उपभोग-करना सम्भव कर देता है। इस प्रकार राज्य अधिकारों को शक्तियां बनने की गिरावट से रोकता है। जब कोई व्यक्ति अन्य नागरिकों के अधिकारों पर आघात करता है तो राज्य उसे दण्ड देता है। इस सम्बन्ध में राज्य के तीन कार्य हैं। प्रथम, वह व्यक्तियों के अधिकारों का निर्माण एवं उनकी व्याख्या करता है। दूसरे, वह उनके प्रयोग-क्षेत्र को भी सीमित करता है। और तीसरे राज्य वह साधन प्रदान करता है जिसके द्वारा अधिकारों का उपभोग निश्चित हो जाता है।

इसलिए विचारकों का कहना है कि राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हैं। उनका तर्क है कि राज्य का अस्तित्व अधिकारों की सुरक्षा के लिए है। राज्य के बिना कोई अधिकार नहीं हो सकते। राज्य के विरुद्ध अधिकार होने का अर्थ है यह कहना कि व्यक्ति के कोई अधिकार ही नहीं हैं। यदि राज्य नहीं है तो अधिकार शक्तियां बन जाते हैं।

शक्तियों से बल का भाव उपलक्षित है अधिकार का नहीं। शक्ति की कठोरता से बचने तथा अधिकारों को प्रस्वीकृत करने के लिए हमें राज्य की आवश्यकता होती है। इसलिए राज्य ही अधिकारों का एक-मात्र स्रोत है और व्यक्तियों को राज्य के विरुद्ध कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं हैं।

(ब) व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध अधिकार प्राप्त हैं—

दूसरी ओर प्रो० लास्की (H. J. Laski,) तथा अन्य बहुवादियों का विश्वास है कि व्यक्तियों को राज्य के विरुद्ध अधिकार प्राप्त हैं। प्रो० लास्की के मतानुसार यह कहना कि व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं है अधिकारों की समस्या को इस ढंग से कहना है जो अत्यन्त संकीर्ण है; क्योंकि ऐसा नहीं है कि एक व्यक्ति को केवल राज्य का सदस्य होने के नाते ही अधिकार प्राप्त हों। उसका व्यक्तित्व सैकड़ों अन्य प्रकार के समुदायों में अपनी अभिव्यक्ति करता है। जब कभी भी मनुष्य किसी सामान्य कल्याण के कार्य को करने के लिए एक समूह बना लेते हैं तो इस प्रकार बनाए गए समुदाय के अधिकार उतने ही यथार्थ और मान्य होते हैं जितने राज्य के अधिकार। मनुष्य के अधिकारों को राज्य की सदस्यता तक सीमित कर देने का अर्थ उसके व्यक्तित्व को नष्ट करना है, सुरक्षित करना नहीं। इसलिए राज्य के नुस्खे कभी भी अन्तिम नहीं होते हैं। हमारे आचार की पथ-प्रदर्शक आवाज़ सत्ता की नहीं है एक अपवाद छोड़कर जहां कि सत्ता के परिणाम आदर्श अधिकारों की अभिप्राप्ति में निकलते हैं।

जो यह नहीं मानते कि व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध अधिकार प्राप्त हैं वे भी यह मानते हैं कि उसको सरकार के किसी स्वरूप-विशेष के विरुद्ध अधिकार प्राप्त हैं। सरकार एक साधन है जिसके द्वारा मनुष्य का कल्याण सम्भव होता है। इसी साधन के द्वारा राज्य का नैतिक उद्देश्य प्राप्त किया जाता है। यदि वह अपने उद्देश्य में असफल रहती है तो उसे कायम रहने का कोई अधिकार नहीं। उसे किसी दूसरी सरकार के द्वारा हटा देना चाहिए जो अधिक अच्छी हो तथा मनुष्य की हितवर्द्धक हो। इस प्रकार जहां सरकार का स्वरूप निरंकुश राजतन्त्र (despotism) है जिसमें

शरीर अथवा सम्पत्ति की कोई सुरक्षा नहीं होती, स्पष्ट है कि वहां व्यक्ति यथोचित नैतिक जीवन नहीं व्यतीत कर सकते। ऐसी परिस्थितियों में व्यक्तियों को सरकार के स्वरूप को बदल देने का अधिकार प्राप्त होता है।

प्रजातन्त्र में जनता के लिए इस अधिकार का प्रयोग करना बहुत कठिन नहीं होता। आज हम जनता के प्रभुत्व में विश्वास करते हैं और हम यह भी जानते हैं कि जनता का प्रभुत्व कानूनी प्रभुत्व की एक दशा है। तदनुसार सरकार के स्वरूप को बदलने का अधिकार जनता को प्राप्त रहता है। लेकिन फिर भी ये विचारक सरकार को बदलने के साधन के रूप में "क्रान्ति" (revolution) में विश्वास नहीं करते। यह कहा जाता है कि क्रान्ति अराजकता लाती है और समाज को हित की अपेक्षा अहित अधिक करती है। जैसा कि एक लेखक ने कहा है, "साधारणतः क्रान्ति का अर्थ सामान्य अराजकता और कुल काल के लिए प्राकृतिक नैतिक जीवन का लोप होना है।"

यहाँ पर यह स्मरण कराना उचित है कि आदर्शात्मक दल के प्रसिद्ध अंग्रेजी दार्शनिक ग्रीन (T.H. Green) ने तो व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध एक सीमा के अन्तर्गत विद्रोह करने का भी अधिकार दिया है। यह उसने कुछ दशाओं में किया है। व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने के पूर्व अपने दिमाग में यह सोच लेना चाहिए कि वह विद्रोह सर्वसाधारण की चेतना की गूंज होनी चाहिए। उसे लोकमत का संगठन करना चाहिए और उसे विद्रोह के औचित्य का निर्णायक बनाना चाहिए। यही नहीं, उसे विद्रोह के परिणामों को भी ध्यान में रखना चाहिए और उसके लाभों का मूल्यांकन करना चाहिए। यदि वह देखे कि विद्रोह के लाभ समाज की हानियों से कम होंगे तो उसे वह विचार त्याग देना चाहिए। इस प्रकार यदि व्यक्तियों को राज्य के विरुद्ध अधिकार दिया ही जा सकता है तो उस अधिकार का प्रयोग समाज के बड़े हित के लिए ही किया जाना चाहिए। समाज का हित लक्ष्य है। राज्य तथा नागरिक दोनों ही इस लक्ष्य के साधन हैं। व्यक्ति राज्य के विरुद्ध तभी विद्रोह कर सकते हैं जब वैसा करने से वे समाज का सामान्य हित-लाभ कर सकें।

Q. 54. What are the main Civil Rights granted to a citizen in the modern civilized State ? Estimate their importance.

(Punjab 1941, 1936)

आधुनिक सभ्य-राज्य में नागरिक को कौन-कौन से मुख्य नागरिक अधिकार दिए जाते हैं ? उनका मूल्यांकन कीजिए।

Ans.

आधुनिक सभ्य राज्यों ने अपने नागरिकों को निम्नलिखित नागरिक अधिकार प्रदान किए हैं:—

१—जीवन का अधिकार

२—सम्पत्ति का अधिकार

३—कुटुम्ब का अधिकार

४—स्वतन्त्र-भाषण का अधिकार

५—धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

१—जीवन का अधिकार:—

जीवन का अधिकार सत्य ही बहुत कीमती अधिकार है क्योंकि यदि जीवन की कोई सुरक्षा नहीं तो वह कठिन, निरर्थक एवं उद्देश्यहीन है। स्वयं हॉब्स ने भी अराजनैतिक अवस्था का त्याग करना इसीलिए उचित समझा कि उसमें जीवन की सुरक्षा नहीं थी। नागरिकों के जीवित रहने के अधिकार के अस्तित्व के अभाव में राज्य निरर्थक है। यही नहीं, सभी अधिकार जीवन पर निर्भर हैं क्योंकि जीवन के बिना मनुष्य किन्हीं भी अधिकारों का प्रयोग नहीं कर सकता।

इस अधिकार का अर्थ केवल जीवित रहने से ही नहीं है, इसका अर्थ अपने को हमले से बचाने का भी है। यदि कोई मेरे जीवन पर हमला करता है तो मुझे अपने को बचाने का अधिकार है और यदि मेरे रक्षा करने का अधिकार असफल रहता है तो उस व्यक्ति को, जिसने मेरे इस अधिकार का भंग किया है, राज्य के कानूनों द्वारा दण्डित किया जायगा। प्रत्येक

राज्य हत्यारों को मृत्युदण्ड देकर इस अधिकार की गारंटी देता है। हां, यह ठीक है कि पिछले कुछ समय से अनेक राज्यों में दण्ड देने का उद्देश्य भिन्न हो गया है। हत्यारे को फांसी पर लटकाने के स्थान पर आधुनिक दण्ड-कानून उसे विकृत मस्तिष्क वाला समझता है और वह अपना सुधार कर सके तथा फिर से ठीक बनकर समाज के हित में योग कर सके इस उद्देश्य से उसे कुछ समय के लिए समाज से अलग कर देना चाहता है। न केवल हत्यारों को दण्ड नहीं दिया जाता वरन् प्रत्येक देश के दण्ड-कानून में उन व्यक्तियों को दण्डित करने की भी पर्याप्त व्यवस्था रहती है जो आत्म-हत्या करते हैं। हममें से प्रत्येक समाज का एक अभिन्न अंग है। हम अपने को नष्ट करके समाज के संगठन तथा मनुष्य के व्यक्तित्व को प्राप्त करने के साधन को नष्ट करते हैं। यदि आत्म-हत्या पर कोई प्रतिबन्ध न हो तो हम ऐसी अराजकता उत्पन्न कर देंगे जो अधिकारों के उपभोग के लिए सर्वथा अयोग्य है।

लेकिन प्रत्येक अधिकार के साथ एक कर्तव्य जुड़ा रहता है। यदि राज्य हमें इस अधिकार की गारंटी देता है, तो हमारा भी यह कर्तव्य है कि जब राज्य किसी के विरुद्ध युद्ध कर रहा हो तो हम अपने इस अधिकार के उपभोग का त्याग कर दें। फिर जहां कानून तोड़े जाते हैं वहां जीवन का अधिकार कुछ काल के लिए स्थगित किया जा सकता है। जीवन का अधिकार कानून के प्रति आज्ञापालन पर निर्भर है। इंग्लैंड तथा भारत में सरकार के विरुद्ध यह जीवन का अधिकार (Habeas Corpus Act) द्वारा प्रदान किया गया है।

२—सम्पत्ति का अधिकार :

सोवियत रूस को छोड़ कर प्रायः प्रत्येक राज्य सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार करता है। सम्पत्ति के अधिकार का अस्तित्व एक नैतिक आधार पर बनाया जाता है और "सम्पत्ति की राजनैतिक सुरक्षा वास्तव में इस नैतिक लक्ष्य की अभिव्यक्ति है।" सम्पत्ति का नैतिक मूल्य यह है कि वह किसी रूप में मनुष्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। प्रो. लास्की द्वारा बताया गया इस अधिकार का मापदण्ड यह है : "And if property must

be possessed in order that a man may be his best self, the existence of such a sight is clear."

यद्यपि निजी सम्पत्ति (private property) के सम्बन्ध में राज्यों में मतभेद है कि उसमें क्या-क्या सम्मिलित होना चाहिए किन्तु फिर भी उनमें एक सामान्य है कि वे सभी थोड़ी-बहुत सम्पत्ति का रखना स्वीकृति करते हैं। सम्पत्ति के सम्बन्ध में विचार समयानुसार बदलते रहे हैं और विचारों के बदलने के साथ कानूनों में भी परिवर्तन होता रहता है। लेकिन अन्य बहुत से अधिकारों की तरह सम्पत्ति का अधिकार "पूर्ण" नहीं है। किसी भी समय राज्य का स्वत्व उस व्यक्ति के स्वत्वों का उल्लंघन कर सकता है जो उस सम्पत्ति का मालिक है। गत महायुद्ध में हम ऐसा बहुत देख चुके हैं। मकानों, इमारतों, कारखानों आदि का लोक-कार्यों के लिए क्रय नियत करना ऐसी बातें हैं जिनसे हम परिचित हैं। सम्पत्ति को कानून अथवा राज्य द्वारा निर्धारित किसी कारण के रूप में जब्त भी किया जा सकता है। अन्त में, राज्य-करों के भुगतान के रूप में भी किसी व्यक्ति की सम्पत्ति के कुछ भाग को मांग सकता है। और भी अनेक तरीके हैं जिनसे राज्य सम्पत्ति पर या तो पूर्णतया अधिकार कर सकता है या आंशिक रूप में।

३—कुटुम्ब का अधिकार :

राज्य कुटुम्ब का विस्तृत रूप है और इसलिए कुटुम्ब का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति का अभिन्न अधिकार है। इसके अतिरिक्त कुटुम्ब सभ्यता का पालन और राज्य की आशा है। इसलिए यह आवश्यक है कि कुटुम्ब का अधिकार स्वतन्त्र एवं बन्धनरहित हो। कुटुम्ब की पवित्रता को भी रक्षित करना चाहिये। कुटुम्ब के अधिकार में विवाह का अधिकार, पति और पत्नी के अधिकार तथा विवाह-सम्बन्धों की पवित्रता, बच्चों पर अधिकार, बच्चों के अधिकार तथा विरासत के अधिकार सम्मिलित हैं।

लेकिन राज्य पति तथा पत्नी पर कुछ बन्धन भी स्वीकृत करता है। पति कुटुम्ब का प्रधान होता है और कानून उसे कुटुम्ब का पालन करने को बाध्य करता है। राज्य माता-पिताओं के अपने बच्चों के पालन करने के

कर्त्तव्य को भी स्वीकृत करता है यद्यपि बच्चों का अपने मां बाप को सहायता करने का कर्त्तव्य केवल नैतिक ही है कानूनी नहीं।

४—भाषण की स्वतन्त्रता का अधिकार:—

प्रत्येक सभ्य राज्य प्रत्येक व्यक्ति के इस अधिकार को स्वीकृत करता है कि वह जो चाहे कह सके और लिख सके—सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक सभी विषयों पर। वास्तव में विचारों की अभिव्यक्ति के बिना किसी भी दिशा में कोई उन्नति नहीं हो सकती। भाषण की स्वतन्त्रता के मुख्य कारण पर्याप्त रूप से स्पष्ट हैं। वह अपनी रक्षा का एक साधन है। दूसरे, भाषण के माध्यम द्वारा ही मनुष्य दूसरों के विचारों और अनुभवों से परिचित होता है। यह सचमुच ही बहुत अनुचित है कि एक मनुष्य को अपने विचार दूसरों तक पहुंचाने तथा उन्हें जनता की आलोचना के लिए रखने की आज्ञा न दी जाये। भाषण की स्वतन्त्रता को छीन कर हम समाज की उन्नति अवरुद्ध कर देते हैं।

इसके अतिरिक्त विचारों का आदान-प्रदान मस्तिष्क के विकास और सामाजिक उन्नति में योग देता है। फिर यह कहा जाता है कि प्रजातन्त्र आलोचना पर ही जीवित रहता है। यदि भाषण की स्वतन्त्रता होगी तो सरकार को यह फायदा होगा कि वह अपने विचारों तथा नीति को जनता के समक्ष आलोचना के लिए रख सकेगी और उसके मत की अभिव्यक्ति से लाभ उठा सकेगी। इसका यह अर्थ है कि सरकार अपने कानून जनता की इच्छानुसार व्यवस्थित करती रहती है। प्रो० लास्की कहते हैं "किसी मनुष्य को जो वह सोचता है उसके कहने की आज्ञा देने का अर्थ उसके व्यक्तित्व को पूर्ण अभिव्यक्ति का अन्तिम मार्ग प्रदान करना तथा उसकी नागरिकता को नैतिक पर्याप्तता का एकमात्र साधन प्रदान करना है। इसके विपरीत कार्य करना उन लोगों का पक्ष लेना है जो "यथापूर्व" (Status quo) का समर्थन करते हैं और इस तरह या तो मनुष्य के कार्यों को गुप्त, और इस तरह खतरनाक मार्गों पर मोड़ देना है, अथवा ऐसे अनुभव को कुचल देना है जो अन्य किसी से भी अपना मत सार्वजनिक रूप से व्यक्ति

करने के लिए कम अधिकारी नहीं हैं। ("To allow a man to say what he thinks is to give his personality the only ultimate channel of full expression and his citizenship the only means of moral adequacy. To act otherwise is to favour those who support the status quo, and thus either to drive the activities of man into underground and, therefore, dangerous channels, or to suppress experience not less entitled than any other to interpret publicly its meaning."—

H. J. Laski)

लेकिन भाषण की स्वतन्त्रता से हमारा अर्थ अप्रतिबन्ध दुराचार नहीं है कि कोई व्यक्ति दूसरों के हित की सर्वथा उपेक्षा करके चाहे जो कह सके। तदनुसार भाषण की स्वतन्त्रता से हमारा अर्थ उस अधिकार से है जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति जो चाहे कह सके यदि वह दूसरों के लिए घातक, अपमानजनक अथवा गन्दा नहीं है और किसी भी कानूनी सभा में उपस्थित हो सके। इसलिए यह आवश्यक है कि इस अधिकार का प्रयोग सावधानी से किया जाना चाहिए क्योंकि प्रायः सभी सभ्य सरकारें ऐसे भाषणों और लेखों पर, जो दूसरे व्यक्ति का अपमान करते प्रतीत होते हैं, अथवा बिना पर्याप्त कारण के किसी के सम्मान को क्षति पहुंचाते हैं अथवा उस व्यक्ति को उसके साथी नागरिकों की आंखों में नैतिक दृष्टि से नीचा गिरा देते है, कानूनी प्रतिबन्ध लगाती है। इसी तरह से यदि किसी व्यक्ति का भाषण विद्रोह की भावना फैलाता हुआ या देश की सरकार के विरुद्ध युद्ध करने के उद्देश्य से प्रेरित समझा जाता है तो राज्य का कानून उस पर कार्यवाही करता है। ये प्रतिबन्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कम करने की किसी भावना से नहीं लगाए गए हैं अपितु उसे अनुचित प्रयोग से बचाने के लिए ही लगाए गए हैं। इसलिए राज्य के कानूनों के अधीन भाषण की स्वतन्त्रता संसार के

प्रायः सभी आधुनिक संविधानों में सुरक्षित है।

५.—धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार—

बहुत से आधुनिक राज्यों में नागरिकों को धर्म एवं आराधना की स्वतन्त्रता मिली हुई है। धार्मिक विश्वास का अधिकार प्रायः समस्त संसार द्वारा स्वीकृत किया गया है। उन राज्यों में भी जहां राज्य-धर्म निर्धारित हैं धार्मिक विश्वास के मामलों में पूर्ण सहनशीलता की आज्ञा है। वास्तव में कोई भी राज्य धार्मिक श्रद्धा को कुचल नहीं सकता। यदि वह ऐसा करता है तो नागरिक उसकी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर देंगे। न कोई राज्य अपने नागरिकों को धार्मिक बना सकता है। धर्म मनुष्य की अन्तरात्मा का विषय है जिसको आदेश की आवश्यकता नहीं है। इसलिए धर्म एवं धार्मिक विश्वास अधिकार अनिवार्य है।

लेकिन धर्म का अधिकार भी "पूर्ण" (absolute) नहीं है। आधुनिक राज्य धार्मिक स्वतन्त्रता देते समय यह देख लेते हैं कि वह अनैतिकता को प्रोत्साहन तो नहीं देती अथवा राज्य के स्थायित्व को खतरे में डालने की भावना से प्रेरित तो नहीं है।

Q. 55. Carefully explain the preposition that rights are the counterparts of duties.

(Agra 1945; Punjab 1938.)

इस कथन की विधिपूर्वक व्याख्या कीजिए कि "अधिकार कर्तव्यों के प्रतिरूप हैं।"

Ans.

(अ) अधिकार क्या हैं ?

नागरिकता अधिकारों के प्रयोग एवं कर्तव्यों के पालन करने से ही नागरिक बनती है। सामाजिक सम्बन्धों में अधिकार और कर्तव्य उपलक्षित रहते हैं। उनके बिना समाज कुछ मनुष्यों का समूह मात्र है जिसका कोई नैतिक अर्थ अथवा सामाजिक उद्देश्य नहीं है।

अधिकारों की व्याख्या के रूप में हम कह सकते हैं कि अधिकार वे शक्तियां

हैं जिनका नागरिक द्वारा स्वतन्त्र प्रयोग समाज द्वारा स्वीकृत कर लिया गया हो। प्रकृति ने प्रत्येक मनुष्य को कुछ सोचने और कार्य करने की शक्तियों से युक्त बनाया है, लेकिन ये शक्तियां अधिकार तभी बनती हैं जब उनका प्रयोग समाज द्वारा स्वीकृत कर लिया जाय। यदि एक राज्य चाहे तो वह ऐसे अधिकार भी प्रदान कर सकता है जो न किए जाने चाहियें और यदि वह चाहे तो ऐसे अधिकारों को भी मान्यता न दे जो आवश्यक एवं वांछनीय हैं।

अधिकार व्यक्तियों के वे स्वत्व हैं जो समाज द्वारा स्वीकृत एवं रक्षित हैं तथा जो हमारे व्यक्तित्व के विकास अथवा उत्तम जीवन के लिए आवश्यक हैं।

प्रो० लास्की ने अधिकारों की व्याख्या में लिखा है कि अधिकार वे सामाजिक दशायें हैं जिनके बिना कोई भी व्यक्ति अपना सर्वोत्तम स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकता। ("Rights are those social conditions without which no one can seek in general to be himself at his best."—H. J. Laski)

अधिकारों का निर्माण नहीं किया जाता, उन्हें स्वीकृत किया जाता है। वे प्रकृति में आधारभूत हैं। राज्य-सत्य ही राज्य की इच्छायें हैं। बिना प्रस्वीकृति के अधिकारों का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

डा० बेनी प्रसाद ने लिखा है, "अधिकार उन सामाजिक दशाओं से कुछ भी ज्यादा अथवा कम नहीं हैं जो व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक एवं अनुकूल हैं। अपने मूल रूप में अधिकार सामाजिक जीवन के पहलू हैं।" ("Rights are nothing more, nothing less than those social conditions which are necessary and favourable for the development of personatity. Rights are, in their essence, aspects of social life."—Dr. Beni Prasad)

कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जिन्हें केवल समाज ही स्वीकृत नहीं करता

वरन् राज्य भी स्वीकृत करता है और उन अधिकारों के उल्लंघन करने वाले राज्य द्वारा दण्डित किए जाते हैं। ऐसे अधिकार कानूनी अधिकार कहे जाते हैं। डा० लीकॉक एक कानूनी अधिकार की परिभाषा इस प्रकार करते हैं: "मुक्ति का वह विशेषाधिकार जो एक नागरिक अपने साथी नागरिकों के विरुद्ध भोग करता है तथा जो राज्य की सर्वोच्च शक्ति द्वारा प्रदान किया गया है और वही उसकी रक्षा करता है।" ("...A privilege of immunity enjoyed by a citizen as against any of his fellow citizens, granted by the sovereign power of the State and upheld by the power." —Dr. Leacock) कानूनी अधिकार की जांच यह है कि वह न्यायालय में लागू किया जा सकता है। लेकिन कुछ अन्य अधिकार ऐसे भी हैं जो राज्य द्वारा स्वीकृत नहीं हैं किन्तु जिन्हें होना चाहिए। ये प्राकृतिक अधिकार कहलाते हैं। नागरिक शास्त्र में भी अधिकारों को दो समूहों में विभाजित किया जाता है—नागरिक अधिकार, जो राज्य में सभी व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं और राजनैतिक अधिकार, जो केवल उस राज्य के नागरिकों को ही प्राप्त होते हैं। नागरिक को अधिकार इसलिए मिलते हैं कि वह अपने व्यक्तित्व और चरित्र का विकास कर सके और अपनी सर्वोत्तम स्थिति को, जिसके कि वह योग्य है, प्राप्त कर सके। कुछ अन्य अधिकार भी हैं जो सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं। वे कानूनों और प्रथाओं में बद्ध नहीं होते, लेकिन फिर भी वे समाप्त नहीं हो जाते क्योंकि वे न्यायालयों द्वारा अथवा समय के शक्तिशाली लोकमत द्वारा लागू किए जाते हैं। 'अधिकार' शब्द उन सब दशाओं के लिए प्रयोग में लाए जाने योग्य है जो सबके व्यक्तित्व की उन्नति में सहायक हैं।

(ब) अधिकारों के सम्बन्ध में सिद्धान्त—

अधिकारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेकों सिद्धान्त हैं, जैसे, प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त, सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त, ऐतिहासिक सिद्धान्त, कानूनी सिद्धान्त और अधिकारों का व्यक्तित्व सिद्धान्त। इनमें से

अन्तिम सिद्धान्त को छोड़कर शेष सभी सिद्धान्त कुछ खराबियों के कारण स्वीकृत नहीं किए जा सकते। अधिकारों की उत्पत्ति मनुष्य की नैतिक प्रकृति से ही होती है। इस प्रकार यदि एक व्यक्ति जीवन के अधिकार का दावा करता है तो उसे निम्न बातों पर समाज को सहमत कराना होगा :

(१) उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए जीवन परमावश्यक है।

(२) इस स्वत्व को रखने में व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की समान भावना में तो हस्तक्षेप नहीं कर रहा है।

(३) उसके स्वत्व का एक नैतिक लक्ष्य है।

इस सम्बन्ध में डा० बेनी प्रसाद ने लिखा है कि "अधिकार विशुद्ध वैयक्तिक मामला नहीं हो सकते, वे मूलतः सहकारी हैं। सहयोग के कारण ही उनकी उत्पत्ति होती है और सहयोग से ही वे कायम भी रहते हैं।" ("Rights cannot be a purely individual affair. they are essentially cooperative. By dint of cooperation they are brought into being and by dint of cooperation they are sustained.")

(स) कर्त्तव्य क्या है?

कर्तव्य का अर्थ कुछ कार्यों को करने अथवा न करने का बन्धन है। यदि हम यह चाहते हैं कि हम शान्ति और सहयोग से रहें तो हमें इस प्रकार काम करना चाहिए कि दूसरों के सुख में बाधा न पड़े। जो एक व्यक्ति का अपने लिए अधिकार है वह दूसरों के लिए कर्तव्य है। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य एक-दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं। वे एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। डा० बेनी प्रसाद ने लिखा है कि "वे एक सिक्के की दो बगलें हैं। यदि कोई उन्हें अपने दृष्टिकोण से देखे तो वे अधिकार हैं। और यदि उन्हें दूसरों के दृष्टिकोण से देखा जाय तो वे कर्तव्य हैं।" "They are two sides of a coin. If one looks at them from one's own standpoint, they are rights. If one looks at them from the stand-

point of others they are duties."—Dr. Beni Prasad) यह विचार करना निरर्थक है कि अधिकार कर्तव्यों के पहले हैं या कर्तव्य अधिकारों के पहले हैं। दोनों एक साथ जुड़े हुए हैं। वे एक-दूसरे के प्रतिरूप हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करके केवल अधिकारों की ही परवाह करता है तो शीघ्र ही किसी के लिए कोई अधिकार शेष न रह जायेंगे।

(द) अधिकार और कर्तव्य एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं :

अधिकार कर्तव्यों के साथ जुड़े हुए हैं। यदि अधिकार वे स्वत्व हैं जो व्यक्ति समाज से मांगता है तो कर्तव्य वे स्वत्व हैं जो समाज व्यक्ति से पूर्ण करवाना चाहता है। मनुष्य को असामाजिक रीति से कार्य करने का कोई अधिकार नहीं है।

एक उचित अथवा न्याय्य स्वत्व अधिकार और कर्तव्य दोनों ही होता है। यदि समाज अधिकारों के रूप में एक व्यक्ति को अपनी उन्नति का अवसर प्रदान करता है तो वह उस पर यह बन्धन भी लगा देता है कि वह उन अवसरों का प्रयोग उचित ढंग से करे। यदि किसी व्यक्ति को समाज आक्रमण के विरुद्ध बचाता है तो उसका यह कर्तव्य है कि वह भी दूसरों पर आक्रमण करने से अपने को रोके रखे। यदि एक नागरिक को वोट देना है तो उसका यह कर्तव्य भी है कि वह उसका प्रयोग ऐसे करे कि सामान्य कल्याण में वृद्धि हो। यदि एक मनुष्य को शिक्षा पाने का अधिकार है तो उसका यह कर्तव्य भी है कि वह उससे अपने को समाज का उपयोगी सदस्य बनावे। श्री श्रीनिवास शास्त्री के शब्दों में अधिकारों का अन्त कर्तव्यों में होता है। अनुरूप कर्तव्य के बिना कोई अधिकार नहीं है। मनुष्य समाज के सदस्य होने के नाते ही अधिकार पाते हैं जिसमें कि पारस्परिक बन्धनों की चेतना है।

अधिकार व्यक्तियों तथा समाज की उन्नति की आवश्यक दशायें हैं। वे लोकनीति और नागरिक चेतना के साथ विकसित होते हैं। वे समाज की जरूरतों से सम्बन्धित होने के नाते वे कर्तव्यों से सम्बन्धित हैं।

अधिकारों को कर्तव्यों से पृथक् नहीं किया जा सकता। अपने कर्तव्यों पर जोर देने का अर्थ बदले में बिना कुछ दिए कुछ प्राप्त करना है। कर्तव्य वह मूल्य है जो हम अधिकारों का चुकाते हैं जिनका कि हम भोग करते हैं। वास्तव में हमें अधिकार इसलिए मिले होते हैं कि हम नागरिकता के कर्तव्यों का समुचित पालन कर सकें।

अधिकार और कर्तव्यों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध सड़क के नियम से भलीभांति स्पष्ट हो जाता है। जन-मार्ग का प्रयोग करना मेरा अधिकार है लेकिन मेरा यह कर्तव्य भी है कि मैं उसी आसानी और स्वतन्त्रता से दूसरों को भी वैसा करने दूं। मुझे बाईं तरफ चलना चाहिए ताकि सबको सुरक्षा से चलने और सवारी चलाने का अवसर मिल सके।

प्रत्येक नागरिक को अपने कर्तव्यों का महत्व समझना चाहिए कि वे सामाजिक एवं राजनैतिक संगठन के लिए कितने आवश्यक हैं जिनका कि वह एक अंग है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कि वह उस संगठन में अपना उचित स्थान ग्रहण कर सके उसे अधिकार प्रदान किए जाते हैं। लेकिन इन अधिकारों में कर्तव्य भी मिले रहते हैं जिनके उचित पालन पर ही समाज—कल्याण एवं उन्नति निर्भर है।

११—नागरिकता

Q. 56. What do you under stand by the term citizen ? In What ways is the position of a citizen superior to that of an alien ?

(Calcutta 1943, 42, 30)

नागरिक शब्द से तुम क्या समझते हो ? एक नागरिक की स्थिति विदेशी की स्थिति से किन बातों में श्रेष्ठ होती है ?

Ans.

(अ) नागरिक कौन होता है ?

जनता राज्य का निर्माण करती है और इस जनता को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : नागरिक तथा विदेशी।

वैटल (Vattel) के मतानुसार "नागरिक राजनैतिक समाज के सदस्य होते हैं जो इस समाज से उसकी अधीनता में कुछ कर्तव्यों के कारण बंधे रहते हैं और उसके लाभों में समान उपभोक्ता हैं।" ("Citizens are the members of the civil society, bound to this society by certain duties subject to this authority, and equal participators in its advantages.") आधुनिक काल में नागरिक वे होते हैं जिन्हें पूर्ण नागरिक एवं राजनैतिक अधिकारों के उपभोग का अधिकार रहता है। राज्य के नागरिक सभी मामलों में राज्य की प्रजा अथवा उसके प्रति अधीनस्थ होते हैं। वे केवल उसी राज्य के प्रति सच्ची भक्ति रखते हैं। तदनुसार नागरिकता मनुष्य और राजनैतिक रूप से संगठित समाज की, जिसका कि वह सदस्य होता है, कानूनी सम्बन्ध होती है।

दूसरी ओर विदेशी (aliens) वे होते हैं जो एक राज्य में रहते भले ही हों, स्थायी रूप से अथवा अस्थायी रूप से, पर वे उस राज्य के प्रति भक्ति नहीं रखते जिसमें वे रह रहे हैं। अपने भारत देश में हम बहुत से अमेरिकन लोगों को देखते हैं, जिन्होंने मिशनरी डाक्टर, अध्यापक अथवा पादरियों की स्थिति में अपने जीवन का बड़ा भाग भारतीयों की सेवा करने में व्यतीत किया है। लेकिन भारत में रहते हुए और भारतीयों की उन्नति के लिए अपना जीवन लगाने पर भी वे भारतीय सरकार के प्रति श्रद्धा अथवा भक्ति नहीं रखते। वे अभी भी संयुक्त राज्य अमेरिका की ही प्रजा बने हुए हैं। दूसरे शब्दों में वे संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिक हैं लेकिन भारत में विदेशी हैं।

विदेशी भी नागरिकों की तरह राज्य के एक ही कानून के अधीन होते हैं, उन्हीं की तरह कर चुकाते हैं और अन्य कर्तव्य पालन करते हैं और उन सब नागरिक अधिकारों के उपभोग के अधिकारी होते हैं जिनके कि नागरिक अधिकारी होते हैं। लेकिन नागरिकों के समान वे राजनैतिक अधिकारों का उपभोग नहीं करते। उन्हें दूसरों को निर्वाचित करने तथा स्वयं को निर्वाचन में खड़े करने के विशेषाधिकार नहीं प्राप्त होते। संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों में तथा दक्षिण अफ्रीका संघ में विदेशियों को जमीन का मालिक बनने का भी अधिकार प्राप्त है। जब कभी उचित समझा जाय एक विदेशी को राज्य से बहिष्कृत किया जा सकता है। इसलिए एक विदेशी का दर्जा नागरिक के दर्जे से नीचा होता है। एक नागरिक तथा विदेशी में जो आधारभूत अन्तर होते हैं वे निम्न प्रकार हैं :—

(व) मुख्य अन्तर :

१—राजनैतिक अधिकारों का अभाव : एक अन्य राज्य का नागरिक होने के कारण एक विदेशी को उस राज्य के राजनैतिक विशेषाधिकारों का उपभोग प्राप्त नहीं होता जिसमें वह उस समय रह रहा होता है।

२—विदेशों में सुरक्षा नहीं : एक विदेशी ऐसे अधिकारों के उपभोग का दावा नहीं कर सकता, जैसे अपने राज्य की सुरक्षा, जब कि वह

दूसरे देश में रह रहा हो। दूसरे शब्दों में वह उस राज्य के कानूनों के अधीन होता है जिसमें वह कुछ समय के लिए रहता है। यदि वह उस राज्य के कानूनों के विरुद्ध अपराध करता है तो वह उस राज्य की सुरक्षा नहीं प्राप्त कर सकता जिसका कि वह नागरिक होता है।

३—विदेशी को स्थायी निवास-स्थान का अधिकार नहीं होता : यह राज्य की इच्छा पर है कि वह उसे अपना निवास काल बढ़ाने दे अथवा अपने देश लौट जाने का आदेश दे दे।

४—करों का भुगतान : लेकिन जब तक एक विदेशी दूसरे देशों में रहता है उस राज्य के करों का भुगतान करना होता है जिसके संरक्षण का वह उपभोग करता है।

यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि राजनीति-शास्त्र में नागरिक और विदेशी का अन्तर बहुत पुराना है। एक तरह से राजनीतिशास्त्र का जन्म एथेन्स (Athens) नगर में हुआ था जिसमें हम इन दोनों शब्दों का प्रचार देखते हैं। एथेन्स में वे लोग ही नागरिक कहलाते थे जिन्हें नागरिक तथा राजनैतिक सब अधिकार प्राप्त होते थे। वे लोग, जो केवल नागरिक अधिकारों का ही उपभोग करते थे, विदेशी कहलाते थे। तथा वे लोग जिन्हें इनमें से कोई भी अधिकार नहीं प्राप्त थे दास कहलाते थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जायगा कि इन दो शब्दों—नागरिक और विदेशी का अन्तर इतना पुराना है जितना कि स्वयं राजनीति-शास्त्र है।

Q. 57. What are the different methods of acquiring citizenship ?

नागरिकता प्राप्त करने की विभिन्न रीतियां कौन-कौन सी हैं ?

Ans.

नागरिकता प्राप्त करने की दो रीतियां हैं : (अ) जन्म से, और (ब) प्राकृतीकरण से।

अधिकतर एक व्यक्ति किसी देश का जन्म से ही नागरिक होता है। यह जन्म की घटना है जो एक व्यक्ति को एक राज्य अथवा दूसरे राज्य का

नागरिक बना देती है। जन्म से नागरिकता दो भिन्न सिद्धान्तों द्वारा निश्चित की जाती है : रक्त अथवा वंश का सिद्धान्त और जन्मस्थान का सिद्धान्त।

१—**रक्त अथवा वंश का सिद्धान्त :** इस सिद्धान्त के अनुसार एक बच्चे की राष्ट्रीयता का निश्चय उसके मां-बाप की राष्ट्रीयता से होता है और वह उस राज्य का नागरिक बन जाता है जिसके नागरिक उसके मां-बाप होते हैं। यह रक्त-सम्बन्ध है जो राष्ट्रीयता और इस प्रकार नागरिकता का निश्चय करता है। प्राचीन काल में प्रायः इसी के आधार पर राष्ट्रीयता और राज्य-भक्ति का निश्चय किया जाता था। रोम के कानून (Roman Law) में इस का समावेश है। लेकिन जागीरदारी (feudalism) के उदय के साथ रक्त-सम्बन्ध के स्थान पर जन्मस्थान द्वारा राष्ट्रीयता का निश्चय होने लगा। इस प्रकार रक्तसम्बन्ध सिद्धान्त का स्थान जन्मस्थान के सिद्धान्त ने ले लिया।

२—**जन्मस्थान का सिद्धान्त :** इस सिद्धान्त के अनुसार मां-बाप से उत्पत्ति नहीं वरन् जन्मस्थान राष्ट्रीयता का निर्धारण करता है। वे देश जो इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं अपनी सीमाओं में उत्पन्न बच्चे को अपना नागरिक समझते हैं, चाहे वह विदेशी मां बाप से ही उत्पन्न क्यों न हुआ हो। सीधे शब्दों में यह जन्मस्थान है न कि मां-बाप का सम्बन्ध जो नागरिकता के प्रश्न का निश्चय करता है।

जैसा कि पहले ही समझाया जा चुका है जन्मस्थान के सिद्धान्त की पुष्टि जागीरदारी विचार—कि जन्म व्यक्ति और देश का जिसमें वह पैदा हुआ है, सम्बन्ध स्थापित करता—के द्वारा हुई। कालान्तर में जन्मस्थान का सिद्धान्त योरप के महाद्वीप का कानून बन गया।

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंग्लैंड में इन दोनों सिद्धान्तों को माना जाता है। उन बच्चों के सम्बन्ध में जो इंग्लैंड अथवा अमेरिका की भूमि पर विदेशियों से उत्पन्न हुए हों जन्मस्थान के सिद्धान्त को माना जाता है। और उन बच्चों के सम्बन्ध में जो अंग्रेज या अमरीकन मां-बापों से विदेशों में उत्पन्न हों रक्त-सम्बन्ध के सिद्धान्त को लागू किया जाता है। इसे नागरिकता

का "मिश्र" सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त से कभी-कभी दोहरी राष्ट्रीयता और फलस्वरूप अधिकारक्षेत्र (jurisdiction) का संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इसका निर्णय बच्चे की इच्छा द्वारा होता है। उसे यह अधिकार दिया जाता है कि वयस्क होने पर अपनी राष्ट्रीयता चुन ले; चाहे तो अपने मां बाप की राष्ट्रीयता बनाए रखे चाहे जिस भूमि पर उत्पन्न हुआ है उसका नागरिक बन जाय। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका में पीली जातियों से उत्पन्न बच्चे वहां की नागरिकता नहीं प्राप्त कर सकते। यह एक जातीय प्रतिबन्ध है। इसके साथ ही संयुक्त राज्य अमेरिका के कानून उनको नागरिकता नहीं प्रदान करते जिनके पिता कभी उस देश में न रहे हों।

प्रांकृतीकरण :

नागरिकता प्राकृतीकरण की विधि द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है। डा० गार्नर कहते हैं "विस्तृत अर्थ में प्राकृतीकरण के अन्तर्गत एक विदेशी को निम्न सभी विधियों द्वारा प्रदान की गई नागरिकता आ जाती है--सत्यत प्रमाण, गोद लेना, मां-बाप के प्राकृतीकरण द्वारा बच्चों का प्राकृतीकरण, एक नागरिक से विवाह होने के द्वारा स्त्री का प्राकृतीकरण, यथार्थ जागीर खरीदने से प्राकृतीकरण, सेना, जल सेना अथवा नागरिक सेवा में नौकरी करने से प्राकृतीकरण, निवास स्थान के कानून के प्रयोग द्वारा अथवा विदेशी भूमि पर अधिकार करने के द्वारा आदि।" ("Naturalisation in the wider sense includes the bestowal of citizenship on an alien in any manner whatever, whether through legitimation, adoption, the naturalization of the children through the naturalization of the parent, the naturalization of a woman through marriage to a citizen, naturalization through the purchase of real estate, through service in the army or navy or the civil service, through the operation

of the law of domicile, or through annexation of foreign territory, etc."—Dr. Garner) लेकिन संकीर्ण अर्थ में इसका तात्पर्य एक व्यक्ति द्वारा प्रार्थना किए जाने पर नागरिकता प्रदान किए जाने से है। एक व्यक्ति जो एक राज्य का नागरिक है दूसरे राज्य से नागरिकता प्रदान किए जाने के लिए प्रार्थना कर सकता है। ऐसी आज्ञा देने के पहले सभी राज्य कुछ शर्त्तें पूरी करवाते हैं। ये शर्तें देश देश में भिन्न होती हैं पर उनमें कुछ मुख्य, जो सामान्य हैं, निम्नलिखित हैं :—

(१) जिस राज्य की नागरिकता की प्रार्थना की गई है उसमें कुछ निश्चित काल का निवास। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंग्लेंड में यह समय ५ वर्ष है। आस्ट्रिया तथा फ्रान्स में यह समय १० वर्ष है।
(२) नागरिक बनने के इरादे की घोषणा प्रायः सभी राज्यों में आवश्यक है।
(३) प्राकृतीकरण के पूर्व जिस राज्य की नागरिकता मांगी गई है उसके प्रति भक्ति की शपथ आवश्यक रूप से लेनी पड़ती है।
(४) पहले राज्य की नागरिकता और इसलिए भक्ति के छोड़ देने की घोषणा।
(५) जो प्रार्थी नागरिकता की प्रार्थना करता है उसने अपने उस राज्य के निवास में, जिसकी नागरिकता वह प्राप्त करना चाहता है, एक अच्छे आचार वाले व्यक्ति की तरह व्यवहार किया हो।
(६) बहुत से राज्य यह भी शर्त रखते हैं कि प्रार्थी के पास अपने कुटुम्ब का पालन करने के लिए स्वतन्त्र साधन होने चाहियें।

लेकिन फिर भी प्राकृतीकरण द्वारा बने नागरिकों को कुछ राजनैतिक विशेषाधिकारों से अलग रखा जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में कोई भी ऐसा नागरिक वहां का राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति नहीं बन सकता। इन पदों के भागी अमेरिका के जन्म से ही नागरिक होने चाहियें।

Q. 58. Explain carefully the rights and duties of citizenship. (Punjab 1949)

नागरिकता के अधिकारों और कर्तव्यों की व्याख्या कीजिए।

Ans.

(अ) नागरिकता के अधिकार—

नागरिकता का अर्थ कुछ अधिकारों और कर्तव्यों का उपभोग है। ये अधिकार नागरिक तथा राजनैतिक दोनों प्रकार के होते हैं। इन अधिकारों का विस्तार प्रत्येक राज्य में भिन्न होता है। जिन देशों में प्रजातन्त्र सरकार होती है उनके नागरिकों के अधिकार उस देश के नागरिकों के अधिकारों से अधिक होते हैं जो एक निरंकुश शासक के अधीन होता है। लेकिन यह अवश्य समझ लेना चाहिए कि जिन अधिकारों का एक नागरिक उपभोग करता है उनको मान्यता राज्य से ही प्राप्त होती है। राज्य के बिना अधिकारों का अस्तित्व सम्भव नहीं क्योंकि उनको लागू एवं उनकी सुरक्षा राज्य ही करता है।

नागरिक अधिकार—नागरिक अधिकार वे होते हैं जिनका उपभोग राज्य के अन्दर प्रत्येक नागरिक करता है। इन अधिकारों का अस्तित्व सभ्य-जीवन के लिए अनिवार्य समझा जाता है। इन अधिकारों का उपभोग प्रत्येक व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण हैं। एक स्वतन्त्र देश के अधिक महत्वपूर्ण नागरिक अधिकार निम्नलिखित हैं—

(१) जीवन की सुरक्षा का अधिकार।

(२) जब विदेशी राज्य में रह रहा हो तब भी राज्य की सुरक्षा का अधिकार।

(३) कुटुम्ब का अधिकार।

(४) कानून के समक्ष समानता।

(५) बिना उचित कारण के गिरफ्तारी अथवा जेल जाने से स्वतन्त्रता।

(६) सम्पत्ति की सुरक्षा।

(७) धार्मिक विश्वास, विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता।

(८) चलने-फिरने, आने-जाने की स्वतन्त्रता।

(९) सामाजिक जीवन के सामान्य लाभों का अधिकार।

यहां यह बात ध्यान देने की है कि प्रत्येक अधिकार के साथ एक कर्तव्य भी जुड़ा हुआ है।

राजनैतिक अधिकार—राजनैतिक अधिकार नागरिक अधिकारों से पृथक् होते हैं। एक राज्य नागरिक अधिकार तो विदेशियों को भी प्रदान कर सकता है लेकिन राजनैतिक अधिकारों का उपभोग केवल नागरिक ही करते हैं। वे राजनैतिक अधिकार जो कि आधारभूत हैं और प्रायः सभी संविधानों में पाये जाते हैं निम्नलिखित हैं :—

(१) लोक अथवा जनता के प्रश्नों पर विचार करने के लिए शान्तिपूर्वक एकत्रित होने अथवा सभा करने का अधिकार।

(२) व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से सरकार से पिटीशन करने का अधिकार।

(३) किसी भी लोक-पद पर निर्वाचित होने का अधिकार।

(४) नियुक्ति वाले पदों के लिए प्रयत्न करने और उन्हें प्राप्त करने का अधिकार।

(५) वोट देने का अधिकार।

राजनैतिक अधिकार प्रजातन्त्र के दान हैं और एक ऐसे देश में जिसमें प्रजातन्त्र सरकार नहीं होती ये अधिकार नहीं प्राप्त होते और अगर होते भी हैं तो आंशिक रूप में ही।

(ब) नागरिकता के कर्तव्य—

प्रत्येक राज्य की नागरिकता में अनेक कर्तव्य उपलक्षित होते हैं। नागरिक केवल राज्य के प्रति ही कुछ कर्तव्य करने को बाध्य नहीं है वरन् कुछ कर्तव्य ऐसे भी हैं जो उसे साथी नागरिकों, अपने गांव, प्रान्त और दूसरे देशों के नागरिकों के प्रति भी करने पड़ते हैं।

अपनी सरकार की मशीन से युक्त राज्य का अस्तित्व समाज के हितों की वृद्धि करने के लिए होता है। लेकिन राज्य तथा सरकार समाज के नागरिकों से अलग कोई वस्तु नहीं हैं। राज्य का उद्देश्य उस समाज के सदस्यों का उद्देश्य होता है और यदि राज्य को अपना उद्देश्य पूरा करना

है, जिसके लिए उसका अस्तित्व होता है, तो यह आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक अपना कर्तव्य भली प्रकार पालन करे। इन कर्तव्यों के पालन में लापरवाही करने का अर्थ है बुरा नागरिक होना और बुरे नागरिक का अर्थ है बुरा राज्य।

नागरिकों के मुख्य कर्तव्य निम्नलिखित हैं:—

(१) कानूनों को मानना—प्रत्येक नागरिक का प्रथम कर्तव्य राज्य के कानूनों को मानना है। राज्य कानूनों को शान्ति और सुरक्षा के लिए बनाता है। इसलिए प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह उन कानूनों का सम्मान करे और उनको माने। उन कानूनों की अवज्ञा एवं उपेक्षा का परिणाम उस उद्देश्य की अप्राप्ति होगी जिसके लिए राज्य के कानूनों का अस्तित्व होता है।

(२) राज्य के प्रति भक्ति—राज्य के प्रति भक्ति दूसरा कर्तव्य है। इसके अन्दर युद्ध के समय राज्य की रक्षा करना उपलक्षित है। केवल राज्य के द्वारा ही मनुष्य अपना सर्वोत्तम जीवन व्यतीत कर सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्य के कल्याण के साधन हर परिस्थिति में सुरक्षित रहें। इसलिए बहुत से राज्यों में सैनिक सेवा अनिवार्य है। राज्य के प्रति भक्ति का अर्थ यह भी है—

(क) जनता के अधिकारियों को उनके कर्तव्य पालन में समर्थन देना। नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह अधिकारियों को राज्य के अन्दर शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने में मदद करे।

(ख) प्रत्येक नागरिक का यह भी कर्तव्य है कि जनता के पदों पर कार्य करे और अपना वोट दे। वोट देना अपने देश की सरकार के प्रति नागरिक के कर्तव्य का आवश्यक अंग है। जिन देशों में वोट देना अनिवार्य है यह एक कानूनी कर्तव्य हो जाता है।

(३) करों का भुगतान—राज्य जो कार्य मनुष्य के कल्याण के लिए करता है उसके लिए उसे धन खर्च करना पड़ता है। यदि राज्य के पास धन नहीं होगा तो वह अपने नागरिकों की सुरक्षा के लिए खर्च नहीं कर

सकेगा। इसलिए प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह राज्य को कर दे, स्थानीय एवं राष्ट्रीय दोनों प्रकार के। सभी देशों में कर देना नागरिकों का आवश्यक सहयोग माना जाता है, इसलिए वह कानूनी कर्तव्य बन जाता है।

(४) अपने व्यक्तित्व का विकास करना—नागरिक के अपने प्रति भी कर्तव्य होते हैं, अपने कुटुम्ब के प्रति भी तथा पड़ोसियों के प्रति भी। उसे अपनी आन्तरिक शक्तियों का विकास करना चाहिए और अपने बच्चों तथा पड़ोसियों को भी अवसर देने का प्रयत्न करना चाहिए।

Q. 59. Citizenship has described as "The contribution of one's instructed judgement to the public good." Under what conditions can a citizen perform his functions properly ?

(Agra 1942, 34)

नागरिकता को "जनहित के लिए प्रयोग किये जाने वाले एक व्यक्ति का आदेशात्मक निर्णय" कहा गया है। नागरिक अपने कार्यों को किन दशाओं में उचित रूप से कर सकता है ?

Ans.

नागरिकता अधिकारों और कर्तव्यों की प्रणाली है। प्रत्येक सभ्य देश में मनुष्य कुछ अधिकारों का उपभोग करता है जो उसके अपने विकास में सहायक होते हैं। इन अधिकारों के बिना मनुष्य जीवित भले ही रहे पर वह जीवन दूसरों की दया पर निर्भर होगा।

ये अधिकार मनुष्य में जन्म से नहीं होते, मनुष्य अपने अधिकारों का निर्माता नहीं है। यदि वह होता तो उसने सब अधिकार स्वयं ही ले लिए होते और दूसरों के लिए कुछ न छोड़ता और न उनके प्रति कोई कर्तव्य ही करता। वास्तव में ये शक्तियां-मात्र होतीं; बलवानों का कमजोरों पर, धनियों का निर्धनों पर, अनुचित लाभ। अधिकार मनुष्य को समाज द्वारा प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वे सामाजिक होते हैं। अस्तु, अधिकारों का उपभोग समाज के बड़े हित की दृष्टि से किया जाना चाहिए। मनुष्य

अपने कर्तव्यों का इस तरह प्रयोग करने के लिए कर्तव्य-बद्ध है कि उसके साथी नागरिकों के समान अधिकारों को क्षति न पहुँचे। समाज मनुष्य को अधिकार देता है इस तथ्य में यह उपलक्षित है कि अधिकारों का प्रयोग समाज-विरुद्ध रीति से नहीं किया जा सकता। अधिकार वे स्वत्व हैं जो मनुष्य को समाज द्वारा इसलिए दिए जाते हैं जिनसे वह समस्त समाज की प्रगति के हित के साथ अपनी भी वृद्धि कर सके।

यदि अधिकारों की उत्पत्ति समाज में होती है तो वे स्वीकृत एवं लागू राज्य द्वारा किए जाते हैं। सब नागरिक एक साथ मिलकर राज्य बनाते हैं। राज्य को बिना भेदभाव के सब नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करनी होती है। राज्य अपने नागरिकों को बाध्य कर सकता है कि वे अपने अधिकारों का प्रयोग इस तरह करें कि उसे दूसरे नागरिकों के समान अधिकारों के प्रयोग में बाधा न पड़े। इस प्रकार अधिकार सामाजिक कल्याण के साधन हैं और उनका प्रयोग इसी तरह किया जाना चाहिए।

अस्तु जब एक नागरिक अपने अधिकारों का प्रयोग करता है तो उसे अपने सामने यह विचार रखना पड़ता है कि "दूसरों के प्रति वैसा ही करो जैसा कि तुम अपने प्रति आशा करते हो।" उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक अधिकार के साथ एक अनुरूप कर्तव्य भी जुड़ा रहता है और वह कर्तव्य यह है कि प्रत्येक कर्तव्य का प्रयोग समस्त समाज के कल्याण की वृद्धि के लिए किया जाय। इस प्रकार अपने अन्तिम विश्लेषण में नागरिकता "नीतिशास्त्र की संहिता" (cod. of ethics) बन जाती है जिसका प्रमुख आदर्श "समाज मुझसे पहले" है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि नागरिकता के अधिकारों और कर्तव्यों का प्रयोग मज़ाक नहीं है। नागरिकता का अर्थ केवल अपने प्रति ही कर्तव्य नहीं है; उसका अर्थ समाज के जीवन में सक्रिय भाग लेना भी है जिसका कि वह सदस्य होता है। नागरिकता का अर्थ है कि मनुष्य से जितना अधिक हो सके समाज की उन्नति—उसके सांस्कृतिक एवं नैतिक दोनों जीवनों के क्षेत्र में—सहयोग दे। वास्तव में केवल एक ज्ञान-

प्राप्त व्यक्ति ही, जो शिक्षा द्वारा यह जान गया हो कि मनुष्य समाज के बिना अकेला नहीं रह सकता, एक आदर्श नागरिक बन सकता है। यह इसी अर्थ में है कि नागरिकता की परिभाषा उचित ही यह की गई है कि "जन-हित के लिए प्रयोग किये जाने वाले एक व्यक्ति का आदेशात्मक निर्णय ही नागरिकता है।"

(ब) अच्छी नागरिकता के लिए आवश्यक दशायें :

सार्वजनिक जीवन में वास्तविक भाग लेने के लिए कुछ पूर्वपरिस्थितियां अथवा दशायें आवश्यक हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं:—

१—शिक्षा : शिक्षा, जिसे महात्मा गांधी ने "आत्मा का भोजन" (bread of the soul) कहा है, स्वस्थ नागरिकता की प्रथम आवश्यकता है। शिक्षा हमारे जीवन के दृष्टिकोण को विस्तृत कर देती है। वह हमारे अन्दर स्वार्थहीनता उत्पन्न करती है। वह "परहित" को "स्वहित" से ऊपर स्थान देती है, समाज को व्यक्ति के ऊपर। इस तरह केवल शिक्षा ही नागरिकों का यह नैतिक कर्तव्य बना सकती है कि वे उस समाज की प्रगति में अपना सहयोग दें जिसके कि वे भाग हैं।

२—शिक्षित लोकमत : सुबोध लोकमत भी रचनात्मक आलोचना के लिए आवश्यक है और केवल रचनात्मक आलोचना ही समाज का कल्याण कर सकती है। नागरिकों के पास उन समस्याओं और हलों को जानने के साधन होने चाहियें जो कि समाज, एक संगठित राजनैतिक संघ के रूप में, उनके आगे रखता है। तभी वह उन पर अपने विचार प्रकट करने में समर्थ हो सकेगा और अपने सुझाव प्रस्तुत कर सकेगा। इस प्रकार वह अपने आदेशात्मक निर्णय को लोकहित में लगा सकेगा।

३—सेवा भाव : लेकिन एक ऐसे मनुष्य से, जो न तो अपने साथी मनुष्यों की सेवा करना चाहता हो और न समाज के हित में अपने स्वार्थी उद्देश्यों का बलिदान कर सकता हो, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। इसलिए एक आदर्श नागरिक को अपने साथियों का सेवक होना चाहिए।

१२—सरकारों का वर्गीकरण

Q. 60 "I cannot find that very obvious classification which comes down to us from Aristotle and which is still assumed and accepted on all hands is at all satisfactory." State and examine Aristotles classification of the forms of Government.

(Punjab 1945; Agra 1942; Nagpur 1942; Bombay 1935.)

"मैं नहीं समझता कि वह वर्गीकरण जो हमें अरस्तू से मिला है और जो अभी भी सबके द्वारा स्वीकृत किया जाता है तनिक भी सन्तोषजनक है।" अरस्तू के सरकारों के वर्गीकरण का वर्णन एवं परीक्षा कीजिए।

Ans.

(अ) वर्गीकरण का वर्णन :

(१) उसके आधार : संख्या तथा लक्ष्य : अरस्तू का राज्यों का वर्गीकरण दो सिद्धान्तों पर आधारित है। प्रथम, व्यक्तियों की संख्या के आधार पर जिनमें प्रभुत्व अथवा सर्वोच्च शक्ति केन्द्रित है। दूसरे, उसका वर्गीकरण सरकार के उद्देश्य, भावना एवं लक्ष्य पर आधारित है। तदनुसार वह 'साधारण' (normal) और 'विकृत' (perverted) राज्यों में भेद करता है। साधारण राज्य वह है जबकि उसका उद्देश्य समस्त समाज का हित है और उस अवस्था में वह विकृत हो जाता है जब शासक समाज के हित में शासन न करके अपने ही हित में शासन करने लगते हैं।

(२) सरकारों के विभिन्न स्वरूप : अरस्तू कहता है कि सर्वोच्च

शक्ति या तो एक व्यक्ति में, या कुछ में, या अनेकों में केन्द्रित होनी चाहिए। यदि वह एक व्यक्ति में केन्द्रित है तो सरकार राजतन्त्र (monarchy) है। यदि वह कुछ व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित है तो वह कुलीनतन्त्र (Aristocracy) है और यदि बहुत से नागरिक मिलकर उसका नियन्त्रण करते हैं तो वह पॉलिटी (Polity) अथवा अच्छा प्रजातन्त्र है। इस संख्या के आधार पर किये गए वर्गीकरण में वह नैतिक जांच जोड़ देता है जो उसके दूसरे सिद्धान्त में दी हुई है। यदि राजतन्त्र राजा के अपने हित की भावना के कारण विकृत हो गया है तो वह निरंकुश राज्य (Tyranny) बन जाता है। जब राज्य में सर्वोच्च शक्ति कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में होती है तो वह कुलीनतन्त्र होता है। ये थोड़े से व्यक्ति अपने ज्ञान और बुद्धि के कारण शेष जनों से भिन्न होते हैं और समाज के हित में शासन करते हैं। लेकिन जब वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं और अपने स्वार्थ के लिए शासन करने लगते हैं तो कुलीनतन्त्र वर्गराज्य (Oligarchy) हो जाता है। जब राज्य में सर्वोच्च शक्ति अधिकांश जनता के हाथ में होती है और उसका प्रयोग सामान्य हित में किया जाता है तो वह अच्छा प्रजातन्त्र (Polity) होता है। वह प्रजातन्त्र (Democracy) तब बन जाता है जब वह विकृत हो जाता है। यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि प्रजातन्त्र से अरस्तू का तात्पर्य समूहराज्य से है।

अरस्तू के इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में दो बातें विशेष रूप से ध्यान में रखने की हैं। अरस्तू कुलीनतन्त्र और वर्गराज्य में स्पष्ट भेद करता है। लेकिन आधुनिक प्रयोग इन दोनों में भेद नहीं करता। हम प्रायः दोनों शब्दों को पर्यायवाची के रूप में प्रयोग करते हैं। आधुनिक लेखक प्रजातन्त्र को भी विकृत सरकार नहीं मानते। इसके विपरीत प्रजातन्त्र को सर्वोत्तम सरकार बताकर उसकी प्रशंसा की जाती है। वर्तमान प्रयोग के अनुसार प्रजातन्त्र का विकृत रूप समूह राज्य (Mobocracy or Ochlocracy) है।

आधार पर वर्गीकृत करना ठीक उसी प्रकार है जैसे सड़कों को उनके संचालकों के बोर्ड (Board of Directors) के संगठन के आधार पर वर्गीकृत करना। फिर भी इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि अरस्तू का वर्गीकरण अभी तक सर्वोत्तम है यदि उसमें आधुनिक समय के नए राज्यों को जोड़ दिया जाय।

Q. 61. On what principles should states be classified ? Discuss this question with reference to the classification of states given by modern writers.

(Punjab 1938, 46; Agra 1942)

राज्यों का वर्गीकरण किन सिद्धान्तों पर किया जाना चाहिए ? इस प्रश्न की विवेचना आधुनिक लेखकों द्वारा किए गए राज्यों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में कीजिए।

Ans.

(अ) अरस्तू का वर्गीकरण:—

बहुत समय से राजनीतिक विचारकों का ध्यान उन सिद्धान्तों के निश्चय करने पर लगा हुआ है जिन पर कि राज्यों का वर्गीकरण किया जाना चाहिए। राजनीति-शास्त्र के जन्मदाता अरस्तू (Aristotle) ने सर्वप्रथम अपने समय के राज्यों का एक मौलिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया था। उसने अपना वर्गीकरण दो सिद्धान्तों के आधार पर किया। प्रथम, राज्यों को दो शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया—साधारण (Normal) और विकृत (Perverted)। इसका आधार शासकों द्वारा शासन का लक्ष्य था। यदि शासक जनता के हित में शासन करता था जो राज्य को साधारण जाना जाता था। यदि शासक केवल अपने स्वार्थी उद्देश्यों की ही परवाह करते थे तो उनका राज्य विकृत कहा जाता था। इन दोनों प्रकार के राज्यों को फिर तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया। इस विभाजन का आधार शासकों की—जो लोग राज्य की प्रभुत्वशक्ति धारण किए होते थे—संख्या

थी। फलस्वरूप साधारणों को पुन तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया:—

१—राजतन्त्र (Monarchy)—एक व्यक्ति का शासन।

२—कुलीनतन्त्र (Aristocracy)—कुछ व्यक्तियों का शासन।

३—अच्छा प्रजातन्त्र (Polity)—अनेक व्यक्तियों का शासन।

इनके विकृत स्वरूपों को निम्न लिखित नाम दिए गए:—

१—निरंकुश राज्य (Tyranny)—एक व्यक्ति का कुशासन।

२—वर्ग-राज्य (Oligarchy)—कुछ व्यक्तियों का कुशासन।

३—समूह राज्य (Democracy)—अनेक व्यक्तियों का कुशासन।

यद्यपि अरस्तू का उपर्युक्त वर्गीकरण बहुत महत्व रखता है लेकिन आधुनिक समय में वह लागू नहीं होता। आधुनिक प्रजातन्त्र, संसदीय, अध्यक्षात्मक एवं संघात्मक सरकारों में यह वर्गीकरण ठीक नहीं बैठता। इसलिए स्वभावतः आधुनिक लेखकों को नए वर्गीकरण का प्रयत्न करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में मान्टेसक्यू (Montesqieu), मेरियट (Marriat) और लीकॉक (Leacock) के नाम उल्लेखनीय हैं।

(च) मान्टेस्क्यू का वर्गीकरण —

प्रसिद्ध फ्रान्सीसी लेखक मान्टेस्क्यू (Montesqieu), ने यह सुझाव रखा कि राज्यों को निम्न तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाना चाहिए :—

१—गणतन्त्र (Republics) इस सरकार में सारी जनता या उसका एक भाग प्रभुत्त्व शक्ति का उपभोग करती है।

२—राजतन्त्र (Monarchy) ऐसी सरकार जिसमें एक व्यक्ति निश्चित कानूनों के अनुसार राज्य करता है।

३—अनियन्त्रित राजतन्त्र (Despotism) : ऐसी सरकार जिस में एक व्यक्ति अपनी इच्छा एवं विवेक से शासन करता है।

मान्टेस्क्यू का यह वर्गीकरण अत्यन्त सामान्य है। इसके अन्तर्गत आधुनिक सांसदीय और अध्यक्षात्मक सरकारों को स्थान नहीं दिया जा सकता जिस रूप में उन्हें हम इंग्लैंड तथा अमेरिका में देख रहे हैं।

(स) मेरियट का वर्गीकरण :

मेरियट (Marriot) ने भी राज्यों का वर्गीकरण तीन आधारों पर किया है :

१—एकात्मक और संघात्मक · पहले उसने राज्यों का वर्गीकरण सरकार की शक्ति के वितरण के आधार पर किया। इस आधार पर उसने राज्यों को दो श्रेणियों—एकात्मक (Unitary) और संघात्मक (Federal)—में बाँट दिया। उसके अनुसार संघ सरकार में शक्ति संविधान द्वारा दो अंगों में बाँट दी जाती है, एक ओर सामान्य केन्द्रीय सरकार और दूसरी ओर अनेक स्थानीय सरकारें। जिन राज्यों में सब शक्तियां एक ही अंग में केन्द्रित रहती हैं वे एकात्मक कहलाते हैं।

२—अचल और लचीला : दूसरे, उसने राज्यों को स्वयं उनके संविधान के आधार पर वर्गीकृत किया। इस आधार पर उसने संविधानों को अचल (Rigid) और लचीले (Flexible) में वर्गीकृत कर दिया। जो संविधान साधारण कानून बनाने की प्रणाली द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है उसे लचीला नाम मिला। दूसरी ओर अचल संविधान वह है जो बिना संशोधन की एक विशेष प्रणाली के बदला नहीं जा सकता।

३—अध्यक्षात्मक और सांसदीय : तीसरे, उसने राज्यों को कार्यकारिणी (executive) और व्यवस्थापिका (legislature) के सम्बन्ध के आधार पर वर्गीकृत किया। तदनुसार जिस राज्य में कार्यकारिणी की शक्तियां व्यवस्थापिका के समान होती है वह अध्यक्षात्मक (Presidential) कहलाता है और जिस राज्य में कार्यकारिणी व्यवस्थापिका की पूर्ण अधीनता में होती है वह सांसदीय (Parliamentary) कहलाता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण यद्यपि मान्टेस्क्यू से अच्छा है फिर भी वह सदोष है जहां तक मेरियट ने संविधानों के वर्गीकरण और राज्यों के वर्गीकरण में गड़बड़ की है।

(द) लीकॉक का वर्गीकरण :

लीकॉक (Leacock) ने सर्वोत्तम वर्गीकरण दिया है जो आधुनिक

राज्यों पर बिल्कुल ठीक बैठता है। वह निम्न प्रकार है :—

१—स्वेच्छाचारी एवं प्रजातान्त्रिक : सबसे पहले लीकॉक ने आधुनिक राज्यों को स्वेच्छाचारी (Despotic) और प्रजातान्त्रिक (Democratic) में बाँटा है। स्वेच्छाचारी सरकार में प्रभुत्व-शक्ति एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में रहती है जो अपनी इच्छानुसार शासन करने को स्वतन्त्र है। इसके विपरीत एक प्रजातान्त्रिक सरकार में सर्वोच्च शक्ति जनता अथवा उसके बहुमत में केन्द्रित रहती है।

२—वैधानिक राजतन्त्र और गणतन्त्र : फिर लीकॉक इन प्रजातान्त्रिक राज्यों को वैधानिक राजतन्त्रों (Constitutional Monarchies) और गणतन्त्रों (Republics) में वर्गीकृत करता है। एक वैधानिक राजतन्त्र के अन्तर्गत शासन का प्रधान एक राजा होता है, लेकिन वह केवल नाम का शासक होता है। वास्तविक शक्ति लोकप्रिय मन्त्रियों के हाथ में होती है जो व्यवस्थापिका में से चुने जाते हैं और उसी के प्रति उत्तरदायी होते हैं। लेकिन एक गणतन्त्र में कार्यकारिणी का प्रधान जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है।

३—एकात्मक और संघात्मक : इनमें से दोनों को लीकॉक फिर शक्तियों के वितरण के आधार पर एकात्मक (Unitary) और संघात्मक (Federal) में वर्गीकृत करता है। यहां लीकॉक और मेरियट में ऐक्य है।

४—अध्यक्षात्मक और संसदीय : अन्त में, वह आधुनिक राज्यों को उनकी कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका के सम्बन्ध के आधार पर वर्गीकृत करता है। जब एक सरकार में कार्यकारिणी व्यवस्थापिका में से चुनी जाती है और उसी के प्रति उत्तरदायी होती है तो वह संसदीय (Parliamentary) कहलाती है। लेकिन जब कार्यकारिणी न तो व्यवस्थापिका का एक भाग होती है और न उसमें से बनाई जाती है तो वह सरकार अध्यक्षात्मक (Presidential) कहलाती है।

Q. 62. Discuss the merits and demerits of the monarchical form of Government. Is

this form of Government likely to disappear altogether ? (Punjab. 1936)

राजतन्त्रात्मक सरकार के गुण तथा दोषों का विवेचन कीजिए। क्या इस प्रकार के सरकार के सर्वथा लुप्त हो जाने की सम्भावना है ?

Ans.

(अ) राजतन्त्र क्या है ?

राजतन्त्र उस सरकार को कहते हैं जिसमें सर्वोच्च और अन्तिम सत्ता एक व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित रहती है चाहे वह किसी भी तरह नियुक्त हुआ हो, कुछ भी उसका कार्यकाल हो और कुछ भी नाम हो। यह तथ्य कि सरकार के सब कामों में एक ही व्यक्ति की इच्छा चलती है उसे राजतन्त्र की प्रकृति प्रदान करता है। इसे ध्यान में रखकर लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने कहा था कि "राजतन्त्र से मैं वस्तु समझता हूँ, नाम नहीं; अर्थात् कोई ऐसा राज्य नहीं जिसका प्रधान राजा अथवा सम्राट् कहलाता हो, वरन् ऐसा राज्य जिसमें राजा की वैयक्तिक इच्छा ही निरन्तर प्रभावशाली हो और अन्त में सरकार में सबसे प्रधान तत्व हो।" ("By monarchy I understand the thing, not the name i. e not any State the head of which is called King or Emperor, but one in which the personal will of the monarch is a constantly effective and in the last resort predominant factor in Government.") जैलिंक (Jellinck) ने हमें इस शब्द का वास्तविक सार दिया है जब उसने इसका वर्णन इस प्रकार किया : "एक भौतिक इच्छा द्वारा शासन" और इस बात पर जोर दिया कि उसकी विशेषता अथवा गुण "राजा की राज्य की सर्वोच्चशक्ति को व्यक्त करने की सामर्थ्य है।"

(ब) राजतन्त्र के गुण :

राजनीतिक विचारकों ने राजतन्त्रात्मक सरकार के निम्नलिखित गुण बताए हैं:—

१—एकता, शक्ति, शीघ्रता और स्थायित्व .— प्रथम, राजतन्त्रात्मक सरकार के अन्तर्गत हमें ये गुण मिलते हैं : दृढ़ता का तत्व, संगठन की सादगी, कार्य में शीघ्रता की क्षमता, विचार की एकता, नीति की दृढ़ता एवं स्थायित्व और परराष्ट्र सम्बन्धों में कुछ सम्मान। ये सब गुण राजतन्त्र में सिर्फ इसलिए मिलते हैं कि सम्पूर्ण शक्तियां एक ही व्यक्ति में केन्द्रित रहती हैं। चूंकि मतों में कोई विरोध नहीं होता इसलिए अकर्मण्यता, अनिश्चितता और देरी राजतन्त्र से अलग रहती हैं।

(२) सर्वोत्तम व्यक्तियों की सेवायें:—दूसरे, राजतन्त्रात्मक प्रणाली में राजा इस स्थिति में होता है कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक योग्य पुरुषों को राज्य की सेवा करने के लिए चुन सके। इस तरह नियुक्त व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण योग्यता से शासन का संचालन करते हैं और वे तब तक पदों पर रह सकते हैं जब तक वे ठीक तरह काम करें। इस आधार पर विचारकों का कथन है कि राजतन्त्र के अन्तर्गत शासन सुचारु होता है। राजा के वैयक्तिक अधीक्षण के कारण पदाधिकारियों में अनुशासन और भक्ति उत्पन्न हो जाती है।

३—सामाजिक न्याय की प्राप्ति:—तीसरे, विचारक यह भी संकेत करते हैं कि राजतन्त्र सामाजिक हित एवं न्याय के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। राजा राजनैतिक दलों से स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार सब दलों से ऊपर उठे होने के कारण, ट्रीट्स्के (Treitschke) संकेत करता है, राजा स्वभावतः अपनी प्रजा के निर्बल एवं दीन व्यक्तियों का ध्यान रखता है। इसी भावना में जर्मनी के फ्रेडरिक महान् (Frederick the Great) ने कहा था कि "निर्धनों का मित्र होना राजतन्त्र का गौरवास्पद कार्य रहा है।"

४—अर्वाचीन समयों के लिए उपयुक्त :—अन्त में, विचारकों का कहना है कि निरंकुश राजतन्त्र उन लोगों की आवश्यकताओं के लिए अत्यन्त उपयुक्त है जो अर्वाचीन असभ्यता अथवा जंगलीपन से उठ रहे हों। केवल एक निरंकुश राजा ही अर्वाचीन मनुष्यों में राजनैतिक चेतना उत्पन्न कर सकता है और उन्नति तथा सभ्यता के जीवन के पथ पर ला सकता है।

(स) राजतन्त्र के दोषः—

सिद्धान्ततः इसमें शक नहीं कि राजतन्त्र में उपर्युक्त सभी गुण हैं लेकिन ऐसे राजाओं की संख्या जिन्होंने व्यवहार में अपने राज्य के लिए इन गुणों को प्राप्त किया है बहुत कम रही है। ऐसे शासक इतिहास में अपवाद-स्वरूप हैं। राजनीतिक विचारकों ने राजतन्त्र में निम्नलिखित दोष बताये हैं:—

१—अत्याचार का भय—सर्वप्रथम, राजतन्त्र में अत्याचार की सम्भावना बनी रहती है। यह सम्भव रहता है कि राजा अपनी कानून बनाने की सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग समस्त समाज के हित के लिए न करे।

२—बुद्धिमान शासकों के उत्तराधिकार की गारन्टी नहीं:—यह सदैव सम्भव नहीं कि उत्तराधिकार नियम के आधार, जो सभी राजतन्त्रों की आवश्यक विशेषता हैं, योग्य शासक ही गद्दी पर आवे। यह ठीक ही कहा गया है कि "पुत्र केवलमात्र कल्पना होता है।" ("A son is merely a hypothesis.") यह सम्भव है कि वह अपने पिता के समान योग्य न हो, और अधिकतर दशाओं में वह होता भी नहीं है।

३—शासन का मापदण्ड उत्तम नागरिकता है—तीसरे, यदि सदा एक योग्य राजा उपलब्ध भी हो जाय तो भी राजतन्त्र आदर्श सरकार नहीं हो सकता। उत्तम सरकार का मापदण्ड यह है कि वह अपनी जनता में "सक्रिय, बुद्धिमान एवं सावधान" नागरिकता कहां तक उत्पन्न करता है। वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) ने ठीक ही कहा है कि सारी शासकीय प्रणालियों का मूल लक्ष्य जनता में राजनैतिक दृढ़ता, देश-भक्ति एवं सामाजिक एकता की वृद्धि करना है। एक उत्तम सरकार के ये लक्ष्य तभी प्राप्त किए जा सकते हैं जब स्वयं जनता को ही देश के वास्तविक शासन में कुछ भाग दिया जाय।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट हो जायगा कि आधुनिक प्रजातान्त्रिक काल में, जबकि जनता को ही अपने हित में शासन करना है, राजतन्त्र अपने अन्तिम दिनों का गौरव प्राप्त कर सकता है। आधुनिक परिस्थितियों में वह बहुत

समय तक कायम नहीं रह सकता।

Q. 63. What do you understand by Aristocracy ? Discuss its merits and demerits.

कुलीनतन्त्र से तुम क्या समझते हो? उसके गुण तथा दोषों का विवेचन करो।

Ans.

(अ) कुलीनतन्त्र क्या है ?

एक सरकार के रूप में कुलीनतन्त्र (Aristocracy) अरस्तू (Aristotle) के समय से चला आ रहा है। कुलीनतन्त्र (Aristocracy) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द 'एरिस्टॉस' (Aristos) से हुई है जिसका अर्थ है सर्वोत्तम—अस्तु बहुत से ग्रीक विचारक कुलीनतन्त्र को सर्वोत्तम सरकार मानते थे। कुलीनतन्त्र शब्द के अर्थ के लिए हमें फिर अरस्तू की शरण लेनी होगी जिसने कहा था कि कुलीनतन्त्र सरकार का वह स्वरूप है जिसमें अन्तिम शक्ति आबादी के कुछ थोड़े से भाग के हाथों में होती है। ये थोड़े से लोग अपने जन्म, कुटुम्ब, धन अथवा धार्मिक या सैनिक पवित्रता के कारण शासक हो जाते हैं।

(ब) कुलीनतन्त्र के गुण :

एक सरकार के रूप में कुलीनतन्त्र में अनेक गुण हैं जो कि निम्न प्रकार वर्णित किये जा सकते हैं—

(१) प्रकृति पर जोर—कुलीनतन्त्र प्रकृति (quality) पर जोर देता है संख्या (quantity) पर नहीं। उसका यह विश्वास है कि कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा शासन करने के लिए अधिक उपयुक्त हैं। इसलिए स्वयं शासितों के लिए ही यह हितकर है कि वे ऐसे व्यक्तियों को ही सरकार की शक्ति सौंप दे।

(२) अनुदार—कुलीन व्यक्ति (Aristocrats) स्वभाव से ही अनुदार होते हैं, इसलिए कुलीनतन्त्र स्वभावतया परम्परागत कानूनों को बनाये रखता है। वह अविचारपूर्ण क्रान्तिकारी परिवर्तनों में विश्वास नहीं

करता। वह प्रजातन्त्र और राजतन्त्र के बीच की व्यवस्था है। एक ओर तो वह अविचारपूर्ण निर्णयों एवं गर्म भावनाओं को रोकता है जो कि प्रजातान्त्रिक सरकार की विशेषतायें होती हैं और दूसरी ओर राजतन्त्र की निर्दय एवं निरंकुश प्रवृत्ति को रोकता है। लार्ड ब्रोघाम (Lord Brougham) ने ठीक कहा था कि "कुलीनतन्त्र की विशेषतायें उद्देश्य की दृढ़ता, हिंसक परिवर्तनों का प्रतिरोध, युद्ध के समान नीतियों का अविश्वास और योग्यता का प्रोत्साहन थीं।" ("Aristocracy was charactrised by firmness of purpose, resistance to violent changes, distrust of warlike policies and encouragement of genius.")

(स) कुलीनतन्त्र के दोष—

एक सरकार के रूप में कुलीनतन्त्र की बहुत कटु आलोचना की गई है। निम्नलिखित कमजोरियां प्रधान बताई गई है—

(१) **सर्वोत्तम व्यक्तियों का चुनाव कठिन**—कुलीनतन्त्र में जितने भी गुण बताये गए हैं उनसे वास्तविक लाभ तभी सम्भव है जब शासन करने के लिए सर्वोत्तम व्यक्ति चुने जा सकें। यह सचमुच एक कठिन कार्य है। अच्छे वंश में उत्पन्न व्यक्ति आवश्यक रूप से अच्छे मनुष्य अथवा योग्य शासक नहीं होते। इसी तरह धनिक पुरुषों पर भी निर्भर नहीं रहा जा सकता कि वे योग्य शासक बन जायेंगे। इसी तरह उत्तम सैनिक एवं धार्मिक योग्यतायें होना एक बात है और एक उत्तम शासक होना दूसरी। फलस्वरूप व्यवहार में कुलीन व्यक्तियों का शासन प्रायः अत्यन्त अयोग्य, बुद्धिहीन, असंदिग्ध व्यक्तियों का शासन रहा है जिन्होंने अपने स्वार्थ के लिए प्रजा का शोषण करना अपना धर्म समझ लिया।

(२) **वर्ग राज्य**—व्यवहार में कुलीनतन्त्र का अर्थ रहा है वर्ग राज्य—अपने स्वार्थों षड्यन्त्रों एवं दलों से युक्त। एक राज्य की दृढ़ता और स्थायित्व के लिए यह बहुत हानिकर है।

(३) **राजनैतिक शिक्षा का अभाव**—अन्त में कुलीनतन्त्र जनता

को अपने देश के शासन-से सर्वथा अलग कर देता है। वह जनता को राजनैतिक शिक्षा अथवा राजनैतिक चेतना नहीं प्रदान करता। यह सरकार उन व्यक्तियों के लिए है जो मूक पशुओं के समान है, जागृत एवं कर्मठ नागरिकों के लिए नहीं।

Q. 64. Define Democracy. Estimate its strength and weaknesses.

(Calcutta 1943, 36, 33; Punjab 1937: Bombay 1941; Bengal 1939; Nagpur 1947)

प्रजातन्त्र किसे कहते हैं। उसके मुख्य गुणों और दोषों का मूल्यांकन कीजिए।

Ans.

(अ) प्रजातन्त्र का अर्थ--

प्रजातन्त्र शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है, इसलिए उसमें विभिन्न विचार निहित हैं। कुछ लोग उसे एक राज्य का स्वरूप मानते हैं; कुछ उसे केवल सरकार का ही स्वरूप मानते हैं और कुछ उसे एक समाज की स्थिति मानते हैं तथा कुछ ऐसे भी हैं जो एक नैतिक धारणा मानते हैं। प्रजातन्त्र की एक सरकार के रूप में व्याख्या करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम यह जान लें कि एक राज्य के स्वरूप, एक समाज की स्थिति तथा एक नैतिक धारणा के रूप में इसका क्या अर्थ है।

(१) प्रजातान्त्रिक समाज, राज्य एवं सरकार—कोई समाज प्रजातान्त्रिक तब कहलाता है जब उसके सदस्य बिना किसी भेदभाव के समान अधिकारों का तथा जीवन में समान स्थिति का भोग करते हैं। राज्य प्रजातान्त्रिक तब होता है यदि प्रभुत्व-शक्ति जनता के हाथ में हो और उसे सरकार को हटाने का अधिकार हो, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो। एक वास्तविक प्रजातान्त्रिक राज्य में उसकी जनता की राजनैतिक समानता ही उसका संविधान होता है। एक नैतिक आदर्श के रूप में प्रजातन्त्र का अर्थ है मनुष्य के रूप में उसके व्यक्तित्व में विश्वास। कान्ट (Kant) की यह

प्रसिद्ध उक्ति कि "इस तरह व्यवहार करो कि मानवता को, चाहे अपने चाहे दूसरे के व्यक्तित्व में, हर हालत में लक्ष्य समझो, और कभी भी उसे केवल मात्र साधन मत समझो।" प्रजातान्त्रिक आदर्श की सार है। ("So act as to treat humanity whether in yonr own person or in that of another, in every case as an end, and never merely as a means.") जन्म, सम्पत्ति अथवा सामाजिक स्थिति मनुष्य की निश्चयात्मक विशेषता नहीं हैं। एक साधारण मनुष्य समाज की उतनी ही अच्छी और उपयोगी इकाई है जितना कि कोई भी दूसरा। यह मानव व्यक्तित्व का मूल्य है जिसे प्रजातन्त्र स्वीकृत करता है और जिसको बेन्थम ने इस सुन्दर नियम में बाँध दिया है कि "प्रत्येक व्यक्ति एक गिना जायगा और कोई भी एक से अधिक नहीं गिना जायगा।" ("Everyone to count for one and *no one for more than one,"—Bentham*)

(२) विभिन्न परिभाषायें—एक सरकार के रूप में प्रजातन्त्र की विभिन्न परिभाषायें हैं। ग्रीक लोगों के लिए प्रजातन्त्र अनाड़ी लोगों का शासन था। वे उसका उन व्यक्तियों की संख्या के आधार पर जिनमें प्रभुत्व-शक्ति केन्द्रित रहती है, अन्य सरकारों से भेद स्पष्ट करते थे। लेकिन आधुनिक लेखक संख्यात्मक मापदण्ड नहीं काम में लाते। वे इस तथ्य पर जोर देते हैं कि इसके अन्तर्गत जनता अपना शासन स्वयं करती है और यह कि अन्त में सरकार जनता की अनुमति पर आधारित होती है। प्रेजीडेण्ट लिंकन ने इसकी परिभाषा "जनता की सरकार, जनता के लिए और जनता के द्वारा" ("A government of the people, for the people and by the people!"—Abraham Lincoln) की है। लार्ड ब्राइस द्वारा दी गई परिभाषा भी अर्थपूर्ण है। वह कहते हैं कि प्रजातन्त्र वह सरकार है जिसमें राज्य की शासन करने की शक्ति समाज के समस्त सदस्यों में केन्द्रित हो। चूंकि समाज के सब सदस्य कभी भी किसी राजनैतिक प्रश्न पर एकमत नहीं हो सकते, इसलिए व्यवहार में प्रजा-

तन्त्र वह सरकार हो जाती है जिसमें योग्यता-प्राप्त नागरिकों के बहुमत की इच्छा से शासन होता है। यहां यह बात ध्यान देने की है कि प्रजातन्त्र के अंग्रेजी शब्द "Democracy" की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के दो शब्दों—"Demos" और "Cracia"—के योग से हुई है। "Demos" शब्द का अर्थ जनता है और "Cracia" का अर्थ शक्ति है। इसलिए प्रजातन्त्र वह सरकार होती है जिसमें शक्ति जनता के हाथों में रहती है। वे शासन में या तो प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है या अपने प्रतिनिधियों द्वारा।

(३) प्रजातन्त्र के प्रकार—इस तरह प्रजातन्त्र प्रायः दो तरह का होता है: प्रत्यक्ष अथवा शुद्ध प्रजातन्त्र (Direct or Pure Democracy) और अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिधि प्रजातन्त्र (Indirect or Representative Democracy) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र वह कहलाता है जब जनता शासन में सब नागरिकों की एक राजनीतिक सभा के द्वारा भाग लेती है। इस प्रकार का प्रजातन्त्र केवल छोटे राज्यों में ही सम्भव है और ऐसी जनता में जिनकी राजनैतिक समस्यायें कम हों। लेकिन अपने संगठन तथा विभिन्न समस्याओं से युक्त आधुनिक राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र अव्यावहारिक है। तदनुसार लोक कार्यों का शासन जनता अपने प्रतिनिधियों को सौंप देती है। राज्य की इच्छा-निर्माण एवं अभिव्यक्ति तथा नीति के प्रश्नों पर निर्णय ये प्रतिनिधि ही करते हैं, जनता उसमें प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं करती। अपने वोट देने के अतिरिक्त जनता का शासन में कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं होता।

अपने सर्वोत्तम रूप में अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र के सिद्धान्त का योग रहता है। यह प्रणाली प्रभुत्व का अधिकार बहुमत को देती है अथवा समस्त जनता को ही; लेकिन उसका प्रयोग उन थोड़े से चुने हुए व्यक्तियों को ही देती है जो शासन करने के अत्यन्त उपयुक्त होते हैं। वे शासनकार्य चलाते हैं और उन्हें शासन की कला में कुलीन कहा जा सकता है। लेकिन क्योंकि नियन्त्रणकारी सत्ता अन्त में जनता के ही हाथों में केन्द्रित रहती है।

(व) प्रजातन्त्र के गुण :

(१) सत्ता समाज में केन्द्रित होती है—यह आदर्शतः सर्वोत्तम सरकार है और सर्वोच्च नियन्त्रणकारी सत्ता समस्त समाज में केन्द्रित रहती है। वह सर्वसाधारण मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार को स्वीकृत करता है और उसे राजनैतिक गौरव की ऊंचाई तक उठा देता है। प्रजातन्त्र राजनैतिक अधिकारों की समानता की गारण्टी देता है। सब व्यक्तियों को सरकार के कार्यों में भाग लेने के समान अवसर रहते हैं। वह कुलीनतन्त्र के इस मन्त्र को कि "कुछ शासन करने के लिए पैदा होते हैं और अन्य आज्ञा मानने के लिए", अस्वीकृत कर देता है।

(२) सामाजिक भावना बढ़ाती है—उपयोगितावादी लेखकों ने अपने प्रजातन्त्र के समर्थन को जनता के शासन में भाग लेने के परिणामों के लाभ पर आधारित किया। उनका मत है कि प्रजातन्त्र राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र दोनों से ही अधिक योग्य शासन है क्योंकि वही एक ऐसी सरकार है जिसमें शासितों के प्रति उत्तरदायित्व को वास्तव में लागू किया जा सकता है। यह कहा जाता है कि लोकप्रिय निर्वाचन, लोक-नियन्त्रण और लोक-उत्तरदायित्व आदि सुचारुता के अन्य किसी भी शासन-प्रणाली से श्रेष्ठ साधन है। प्रजातन्त्र सामाजिक भावना बढ़ाता है और सर्वोत्तम प्रकार के नागरिकों का निर्माण करता है और सर्वोत्तम नागरिक आत्मरक्षक और आत्म-निर्भर होता है।

(३) अच्छा शासन स्वशासन होता है : लेकिन प्रजातन्त्र का समर्थन केवल उसकी योग्यता अथवा सुचारुता के कारण नहीं किया जाता। अच्छा शासन, स्वशासन अथवा स्वायत्त शासन इसलिए वांछनीय है कि वह व्यक्तियों की मानसिक एवं आध्यात्मिक विशेषताओं को बढ़ाता है। सर्वोत्तम शासन वही है जो अन्त में ऐसे नागरिकों का निर्माण करता है जो दृढ़ चरित्र हों, परिश्रमी हों, आत्मनिर्भर हों, और बहादुर हों। प्रजातन्त्र का सबसे बड़ा गुण यही है कि वह जनता के चरित्र को ऊंचा उठाता है, एक श्रेष्ठतम राष्ट्रीय चरित्र का विकास करता है जैसा कि अन्य किसी शासन में नहीं होता।

(४) लोकप्रिय सरकार—यही एक मात्र सरकार है जो अत्यन्त लोकप्रिय होती है क्योंकि वह शासितों की अनुमति पर आधारित होती है। प्रजातान्त्रिक सरकार में कानून स्वयं निर्मित एवं स्वयं मान्यता प्राप्त होते हैं।

(५) क्रान्ति की सम्भावना कम रहती है—प्रजातन्त्र देश-भक्ति उत्पन्न करता है और क्रान्तियों से सुरक्षित रहता है। वह नागरिकों में यह भावना उत्पन्न करके कि वे सरकार के अभिन्न अंग हैं और राज्य का कल्याण उनका कल्याण है, देशभक्ति की भावना विकसित करता है। वह क्रान्तियों को बचाता है क्योंकि जनता को स्वयं अपने भविष्य का निर्णय करना होता है और उसके पास तत्कालीन आवश्यकताओं का सामना करने के लिए कानूनों को तोड़ने मरोड़ने के साधन रहते हैं।

(६) स्वतन्त्रता और समानता का समन्वय—प्रजातान्त्रिक सर-सरकार हमारे लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य की सत्ता का समन्वय करना सम्भव बना देती है। कानूनों के प्रति आज्ञाकारिता स्वतन्त्रता तभी हो सकती है जब कानून जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति हों और उनकी इच्छाओं के अनुरूप बने रहें।

(७) आत्म सुधारक – अन्य सरकारों से भिन्न प्रजातन्त्र आत्म-सुधारक है। लोकमत की शक्ति में उसके पास सरकार को सही मार्ग पर रखने का अमूल्य साधन है।

(स) प्रजातन्त्र की कमजोरियां :

(१) संख्या पर जोर—प्रजातन्त्र योग्यता के बजाय संख्या को अधिक महत्त्व देता है। यह कहा जाता है कि शासन-संचालन के लिए योग्यता और रुचि की आवश्यकता है। प्रजातन्त्र की यह प्रणाली कि सब मनुष्यों में समान गुण एवं योग्यता होती हैं ठीक नहीं है। साधारणतः बहुमत का अल्पमत की अपेक्षा अधिक मूल्य होगा चाहे अल्पमत कितना ही विवेकपूर्ण क्यों न हो। इसलिए प्रजातन्त्र बहुमत की स्वेच्छाचारिता (despotism) होती है।

२—प्रजातन्त्र अयोग्यता का धर्म है : यह आलोचना दूसरी

पुरानी हैं जितने प्लेटो (Plato) और अरस्तू (Aristotle)। सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने प्रजातन्त्र को बुद्धिहीनों एवं अज्ञानियों की सरकार बताया है जो मानसिक उन्नति और वैज्ञानिक सत्य की प्रगति के लिए घातक है। लैकी (Lecky) ने उसे "सबसे अधिक निर्धनों और अज्ञानियों" की सरकार कहा है जो आवश्यक रूप से बहुसंख्यक होते हैं। कुछ नवीन लेखकों जैसे प्रो. बार्कर (Prof. Barker) और प्रो. गिडिन्स (Prof. Giddings) का भी ऐसा ही मत है। बार्कर के अनुसार प्रजातन्त्र में शासन की सुचारुता नष्ट हो जाती है और वह कुछ थोड़े से व्यवसायियों का शासन है जो सफलतापूर्वक अपने पक्ष में मत प्राप्त कर सकते हैं। ("......the rule of a few manipulators who can collect sufferages in their own favour with great success.")

३—औसत मनुष्य अज्ञानी है : आलोचना का लक्ष्य औसत मनुष्य है। यह कहा जाता है कि औसत मनुष्य का सीमित ज्ञान होता है और लोककार्यों का उसका ज्ञान सर्वथा अपूर्ण होता है। अपने मत के निर्माण में वह प्रायः भावना और उत्तेजना से काम लेता है विवेक से नहीं। उसका कोई पृथक् स्वतन्त्र मत नहीं होता और प्रचार तथा प्रेस ने इस समस्या को और भी गम्भीर बना दिया है।

४—विभाजित उत्तरदायित्व : यह जोर दिया जाता है कि प्रजातन्त्र का अर्थ विभाजित उत्तरदायित्व होता है और यह अपनी बारी में उत्तरदायित्व को प्रोत्साहन देता है।

५—वर्ग संघर्ष को प्रोत्साहन : प्रजातन्त्र ने वर्ग-संघर्ष को प्रोत्साहन दिया है। धनिक वर्ग विशेष अधिकारयुक्त है और सरकार को हाथ में लेकर वह अपने हित में कानून बनाता है जो कि समस्त समाज के लिए हानिकर है। यह कहा जाता है कि राजनैतिक प्रजातन्त्र के पहले आर्थिक प्रजातन्त्र आवश्यक है।

६—संस्कृति की उन्नति के लिए अनुकूल नहीं : सर हेनरी मेन,

लैकी और ट्रीट्स के जैसे आलोचक प्रजातन्त्र की इस आधार पर आलोचना करते हैं कि संस्कृति की उन्नति के लिए अनुकूल नहीं है और उसमें जीवन के आध्यात्मिक मूल्य का भी विकास नहीं हो पाता।

७—प्रत्यक्ष कानून-निर्माण हानिकर है : प्रजातन्त्र की नवीन प्रणालियों—जनगत निर्णय (Referendum) आरम्भक (initiative) और प्रत्याह्वान (Recall) ने निर्वाचक-मण्डल पर बहुत भार लाद दिया है जिसके लिए वह समर्थ नहीं है।

८—खर्चीला : प्रजातन्त्र की यह भी आलोचना की जाती है कि उसमें धन का अपव्यय बहुत होता है। उसका शासकीय संगठन बहुत जटिल होता है और बहुत धीरे-धीरे काम करता है जिससे बहुत से समय और धन की बर्बादी होती है।

९—राजनैतिक दल जनता को गलत शिक्षा देते हैं : यह भी संकेत किया जाता है कि जो गुण प्रजातन्त्र में बताये जाते हैं वे वास्तव में कोई महत्त्व नहीं रखते। अधिकारियों पर लोक प्रभुत्त्व कल्पनिक है और उसके शैक्षिक मूल्य पर भी शंका की जाती है। निर्वाचन प्रचार जनता को गलत पथ-प्रदर्शन करता है और गलत शिक्षा देता है। अधिकाधिक मत प्राप्त करने के लिए नैतिक विचारों को उपेक्षित कर दिया जाता है।

(द) प्रजातन्त्र का भविष्य :

अपने अनेकों दोषों के बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि प्रजातन्त्र ही एकमात्र सरकार है जो लोकप्रिय है और जिसे सभी सभ्य देशों में जीवित रहना चाहिए। यह सत्य है कि भविष्य में प्रजातन्त्र के स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जायें लेकिन उसकी मूल विशेषतायें वैसी ही बनी रहेंगी। लार्ड ब्राइस ने प्रजातन्त्र में दो भयानक खतरे बताये हैं। उनमें से एक उन लोगों का स्वार्थ है जो सरकार का नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं और उसे अपने स्वार्थहितों के लिए काम में लाते हैं। दूसरा खतरा है उन लोगों द्वारा शक्ति का असुरक्षापूर्ण प्रयोग जो जनता की आवश्यक वस्तुयें प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में Lord Bryce के ही शब्दों को

रख देना अधिक अच्छा होगा : "The irresponsible power welded by those who supply the people with materials they need for judging men and measures, the dissemination by demagogues through the press on untruth, fallacies and incentive to violence." यह बहुत अंशों में सही है, लेकिन प्रजातन्त्र हमारी राजनैतिक बुराइयों का उपचार नहीं है। यह एक सरकार का स्वरूप है जो कि मानवता की नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के अनुसार फल-फूल सकता है या नष्ट हो सकता है। जो कमजोरियां प्रजातन्त्र में बताई गई हैं वे वास्तव में प्रजातन्त्रवादियों (democrats) की हैं। एक आदर्श के रूप में प्रजातन्त्र हमारे लिए महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। उस आदर्श के योग्य बनना जनता के हाथ में है।

Q. 65. "Democracy is the cult of incompetence." Discuss this statement.

(Agra 1943, 36; Allahabad 1944, 41)

"प्रजातन्त्र अयोग्यता का धर्म है" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

Ans.

आधुनिक समय में प्रजातान्त्रिक आदर्श की अत्यन्त कटु आलोचना की गई है। आज हम प्रेस में तथा रंगमंच पर दोनों जगह यही सुनते हैं कि प्रजातन्त्र के आदर्श की उपयोगिता अब नहीं रह गई है और उसका अन्त निकट है। राजनैतिक विचारक प्रजातन्त्र की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर करते हैं—

१—संख्या पर जोर—सर्वप्रथम आलोचक यह कहते हैं कि प्रजातन्त्र केवल संख्या को ही महत्व प्रदान करता है। उसके अन्तर्गत वोटों को गिना जाता है तोला नहीं जाता अर्थात् उनका मूल्यांकन नहीं किया जाता इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए एक विचारक ने ठीक ही कहा है कि "एक नौजवान को वित्तविभाग में एक साधारण क्लर्की पाने के लिए

अंकगणित की एक परीक्षा पास करनी होती है लेकिन वित्तमन्त्री संसार का एक अधेड़ अवस्था का व्यक्ति हो सकता है जो कि अंकों के बारे में थोड़ा-बहुत जो उसने एटन या आक्सफोर्ड में सीखा था उसे भुला चुका है और इन छोटे बिन्दुओं का अर्थ जानने में असमर्थ है।" ("A youth must pass an examination in arithmatic before he can get a second class clerk-ship in the treasury, but a chancellor of the Exchequer maybe a middle aged man of the world who has forgotten what little he ever learnt about figures at Eton or Oxford and is innocent to know the meaning of these little dots.") इसलिए स्वभावतः प्रजातान्त्रिक सरकार अज्ञानियों की सरकार हो जाती है जिन्हें अयोग्य भी होना ही चाहिए। इस सम्बन्ध में लैकी बड़े जोरदार शब्दों में लिखता है कि प्रजातन्त्र सबसे अधिक निर्धन एवं अयोग्य व्यक्तियों की सरकार है जो आवश्यक रूप से बहुसंख्यक होते हैं।" ("...the government of the poorest, the most incapable, who are necessarily the most numerous"—Lecky)

२—मनुष्य दल के नीचे—दूसरे, दल का प्रचार प्रजातन्त्र की आत्मा अथवा प्राण है। साधारण मनुष्य किसी व्यक्ति विशेष के लिए मत नहीं देते वरन् उस दल के लिए देते हैं जिसका वह सदस्य होता है। फलस्वरूप मनुष्य के व्यक्तित्व का कोई महत्व नहीं रह जाता। अन्तरात्मा की आवाज दलों के प्रचार के नीचे दफन हो जाती है जो कि दल की शक्ति के हित में सत्य को विकृत करता है और साधारण से साधारण योग्यता वाले व्यक्ति को अधिक से अधिक योग्य बताता है। इसलिए स्वभावतः प्रजातन्त्र शरीफ और शान्त व्यक्तियों की उपेक्षा करता है जो कि उसकी सबसे अधिक सेवा कर सकते हैं और, जैसा कि कारलाइल (Carlyle) ने कहा है, शक्ति "Windbags" तथा "charltans" के हाथों पर दे देना

है। प्रजातन्त्र में जनता के पास न तो सर्वोत्तम व्यक्तियों को छाँटने के लिए जो उनका पथ-प्रदर्शन करें, साधन ही होते हैं, न शक्ति ही।"

३—वोट धनिकों द्वारा खरीदे जाते हैं—तीसरे, प्रजातन्त्र राजनीति में धन की शक्ति को प्रोत्साहन देता है। अयोग्य लेकिन धन वाले व्यक्ति सत्ता के लिए सौदा करते हैं। वोट खरीदे जाते हैं। एक मनुष्य अपने को रोटी के लिए बेच देता है। दूसरा उसे अपनी थैली के लिए खरीद लेता है। संक्षेप में, प्रजातन्त्र में मनुष्य का विक्रय होता है।

४—प्रतिनिधि अनुत्तरदायी बन जाते हैं—चौथे, आलोचक यह कहते हैं कि प्रजातन्त्र में केवल थोड़े से अयोग्य व्यक्ति शासन ही नहीं करते वरन् वे अनुत्तरदायित्व से तथा स्वेच्छाचारिता से भी शासन कर सकते हैं। आधुनिक काल प्रतिनिधि प्रजातन्त्र का युग जिसमें जनता अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन करती है। बहुमत दलों के नेता प्रधान मन्त्री बन जाते हैं। वे प्रतिपक्ष की आवाज को हँसकर ठुकरा सकते हैं क्योंकि वह अल्पमत होता है और उन्हें बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है। बहुमत दल कभी उनसे नाराज नहीं होगा क्योंकि वह अपनी सत्ता बनाए रखना चाहता है। फलस्वरूप प्रजातन्त्र, एक अयोग्यता का धर्म, अनुत्तरदायित्व का धर्म भी बन जाता है। यह अनुत्तरदायित्व, और वह भी अयोग्य व्यक्तियों का, बड़ा भयानक है।

प्रजातन्त्र के पूर्वोक्त दोष, जो प्रायः बढ़ा-चढ़ा कर बताये जाते हैं, सर्वथा गलत सिद्ध नहीं किए जा सकते। लेकिन फिर भी ये दोष प्रजातान्त्रवादियों के हैं न कि प्रजातन्त्र के एक आदर्श के रूप में। आलोचकों के लिए यह अच्छा होगा कि प्रजातान्त्रिक आदर्श को ललकारने के बजाय वे प्रजातन्त्र-वादियों को सुधार का सबक पढ़ाये। वर्तमान समय में यह सर्वमान्य है कि प्रजातान्त्रिक सरकार से अच्छी और कोई सरकार नहीं है। और इसलिए जैसा कि बर्न्स ने कहा है "यह सत्य ही है कि वर्तमान प्रतिनिधि सभाएँ दोषपूर्ण हैं; लेकिन फिर भी अगर एक मोटर ठीक काम नहीं करती तो एक बैलगाड़ी के लिए पीछे जाना बेवकूफी है चाहे वह कैसी भी विचित्र क्यों न हो। ("It remains a fact that existing represent-

ative assemblies are defective, but even if an automobile does not work well, it is foolish to go back to a farm cart, however romantic"—C. D. Burns)

Q. 66. What are the essential conditions for the successful working of a democratic government ?

एक प्रजातान्त्रिक सरकार की सफलता के लिए कौन-कौन-सी परिस्थितियाँ आवश्यक हैं।

Ans.

"प्रजातन्त्र जनता की, जनता के द्वारा और जनता के लिए सरकार है।" इसलिए स्वभावतः उसकी सफलता के लिए उपयुक्त लोग उपयुक्त वातावरण चाहिए। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए जो दशाएँ अथवा परिस्थितियाँ आवश्यक हैं उनका वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है:—

१—**स्वस्थ, सुबोध तथा चतुर लोकमत**:—प्रजातन्त्र की सफलता की सबसे प्रथम आवश्यकता एक सुनिर्मित, सुबोध, स्वस्थ, सजग एवं चतुर लोकमत है। प्रजातान्त्रिक सरकार लोकमत द्वारा सरकार होती है। शासकों को स्वयं जनता निर्वाचित करती है। लेकिन उन लोगों से अच्छी पसन्द की आशा नहीं की जा सकती जो सुबोध और चतुर न हों। अस्तु, जनता को उम्मीद्वारों के सम्बन्ध में प्रत्येक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए—उनके कार्य, व्यक्तित्व, कार्यक्रम आदि सब के बारे में—और उसके बाद ही ठीक पसन्द करनी चाहिए। जैसा कि महात्मा गांधी ने कहा है, "प्रजातन्त्र ऐसा राज्य नहीं है जिसमें जनता भेड़ों की तरह आचरण करती हो।" जनता को सजग होना चाहिए और उसे अपने अधिकारों के लिए लड़ना तथा मरना चाहिए नहीं तो वे समाप्त हो जायँगे। क्योंकि जैसा कि गोइथे ने संकेत किया है, "स्वतन्त्रता को हर घड़ी जीतना है" ("Liberty is to be conquered every hour"—

Goethe) अथवा वैन्डल फिलिप्स के शब्दों में "स्वतन्त्रता का मूल्य सतत् सावधानी है। ("Eternal vigilance is the price of liberty"—Wendell Phillips.)

२—सरकार की आलोचना करने की स्वतन्त्रता:—प्रजातन्त्र की सफलता के लिए सरकार की आलोचना करने की स्वतन्त्रता भी आवश्यक है। जनता को सरकार की नीति और कार्यक्रम की आलोचना करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। क्योंकि जैसा कि मैथ्यू आरनोल्ड ने कहा है "आलोचना, संसार में जो कुछ सबसे अच्छा जाना और सोचा जाता है उसको जानने और प्रचारित करने का स्वार्थरहित प्रयास है।" ("Criticism is a disinterested endeavour to learn and propogate the best that is known and thought in the world"—Matthew Arnold) यह आलोचना बहुत हद तक गलती को सुधारने और अवांछनीय को दूर करने में समर्थ होगी।

३—सबके लिए समान सुविधायें:—प्रजातन्त्र के लिए एक उचित सामाजिक तथा आर्थिक वातावरण भी होना चाहिए। इससे हमारा अर्थ यह है कि, प्रथम, सबके लिए अवसर की समानता होनी चाहिए। सब व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार बढ़ने का अधिकार होना चाहिए। कोई नीच-ऊँच की भावना नहीं होनी चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को राज्य का प्रधान बनने के लिए निर्वाचन में खड़े होने का अधिकार भी प्राप्त होना चाहिए। इस राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को यह पंक्तियाँ गानी चाहिए:

"I celebrate myself and myself,
And what I assume, you shall assume,
For every atom belonging to me is as
good as belongs to you."

इस तरह सब के लिए उचित क्षेत्र होना चाहिए और पक्षपात नहीं होना चाहिए और हर एक का एक मनुष्य की तरह सम्मान किया जाना

चाहिए क्योंकि जो हंसके लिए चटनी है वह हंसनी के लिए भी चटनी है। दूसरे, जनता को आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होना चाहिए। यदि जनता गरीब है तो वह एक रोटी के लिए अपने वोट बेच देगी। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ठीक ही कहा है "हमारी प्रजातान्त्रिक समस्याओं की स्वस्थता हमारी सरकार के बेकार आदमियों को रोजगार देने के निर्णय पर निर्भर रहती है।" ("The very soundness of our democratic institutions depends on the determination of our government to give employment to the idle men."—Franklin D. Roosevelt) तीसरे, जैसा कि डा० बेणीप्रसाद ने कहा है, देश में शान्ति और सुरक्षा होनी चाहिए। अव्यवस्थित और अशान्त वातावरण में प्रत्येक व्यक्ति पहले अपनी सुरक्षा की सोचता है और इसके बाद प्रजातान्त्रिक आदर्शों की। लेकिन शान्ति हथियारों की शक्ति द्वारा स्थापित शान्ति नहीं होनी चाहिए, उसका आधार जनता की सरल और शान्तिप्रिय आदतों में होना चाहिए।

(४) जनता का चार्टर—ब्राइस कहता है कि प्रजातन्त्र, जनता में कुछ गुणों की आशा पर आधारित है क्योंकि प्रजातन्त्र स्वयं जनता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए अगर जनता अच्छी होगी, सरकार अच्छी होगी; और यदि जनता बुरी है तो सरकार बुरी होगी। अस्तु यह आवश्यक है कि सरकार की सफलता के लिए जनता का चरित्र निष्कलंक होना चाहिए। अर्थात् लोगों में निम्न लिखित गुण होने चाहिए—

प्रथम, उन्हें सेवा-भाव पूर्ण होना चाहिए। उनका बिना अपनी भलाई के जनता की सेवा करने का विचार होना चाहिए। इसको एक उदाहरण द्वारा अधिक अच्छी तरह समझाया जा सकता है। यह कहा जाता है कि इंग्लैंड में एक बार दो औरतें एक रेल के डिब्बे में घुसीं। उन्होंने देखा कि खिड़की टूटी हुई है और उसे मरम्मत की आवश्यकता है। इसलिए उन्होंने अधिकारियों को वैसी सूचना दे दी। बस यही लोक-सेवा भाव कहलाता है। यदि इन औरतों ने यह सूचना न दी होती तो है

कि कोई खिड़की में से गिर पड़ता। लेकिन इन औरतों में जनता के प्रति प्रेमभाव था।

दूसरे, उन्हें स्वार्थ-रहित होना चाहिए और उन्हें स्वार्थ-रहित होकर देश के कल्याण के लिए कार्य करना चाहिए। उन्हें वोट के महत्त्व को समझना चाहिए और स्वार्थ के लिए उसे कभी बेचना नहीं चाहिए।

तीसरे, उन्हें ईमानदार होना चाहिए। वास्तव में अधिकारियों के भ्रष्ट होने के लिए जनता ही उत्तरदायी है। यदि लोग उन्हें घूस न दे तो वे भ्रष्ट नहीं बन सकते। इसलिए इस भ्रष्टाचार के लिए जनता उत्तरदायी है। अस्तु लोगों को ईमानदार, अच्छा और निष्कलंक होना चाहिए क्योंकि जैसा जैटरसन (Jetterson) ने कहा है "समस्त सरकार ईमानदार होने की कला में हैं।"

चौथे, उन्हें सहनशील होना चाहिए। उन्हें दूसरों के मतों को सहन करना चाहिए। प्रत्येक को जो वह चाहे कहने दो।

अन्त में, उन्हें स्वतन्त्रता प्रेमी होना चाहिए। यदि उन्हें स्वतन्त्रता से प्रेम होगा तो वे सरकार को कभी भी अपने अधिकार छीनने नहीं देंगे। इसलिए ग्लैडस्टन (Gladstone) कहता है कि स्वतन्त्रता ही मनुष्यों को स्वतन्त्रता के उपयुक्त बनाती है।

(५) अल्पमतों के अधिकारों का आदर होना चाहिए—प्रजातन्त्र में अल्पमतों के प्रति आदरभाव होना चाहिए। प्रजातन्त्र समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। इसलिए ऐसा नहीं होना चाहिए कि बहुमत के राज्य का अर्थ अल्पमतों के प्रति कठोरता और बहुमत का लाभ हो। अल्पमतों के हितों की बहुत अच्छी तरह देख-भाल होनी चाहिए क्योंकि किसी दिन अल्पमत भी बहुमत हो जायगा तो वह भी अल्पमत के प्रति कठोर व्यवहार करेगा। अस्तु बहुमत को सदा समस्त जनता के हित के लिए कार्य करना चाहिए।

३—स्थानीय स्वायत्त शासन : स्थानीय स्वायत्त शासन में अनेक संस्थाएँ आ जाती हैं जैसे नगरपालिकाएँ (Municipalities)

स्थानीय बोर्ड (Local boards) आदि। इन संस्थाओं का राज्य की सरकार के सामान्य कार्यकारण से कोई सम्बन्ध नहीं। उनके कार्य एक विशेष क्षेत्र तक ही सीमित रहते हैं। यह देखा गया है कि ये संस्थाएँ जनता में राजनैतिक चेतना उत्पन्न करने में बहुत सफल रही हैं। इसलिए यह कहा गया है कि स्थानीय स्वायत्त शासन राष्ट्रीय स्वायत्त शासन का आधार है। उसके लाभ निम्न प्रकार दिये जाते हैं।

प्रथम, वह जनता में रुचि उत्पन्न करता है। एक औसत नागरिक राष्ट्रीय विषयों में उतनी रुचि नहीं रखता जितनी स्थानीय विषयों में रखता है। इसलिए उन संस्थाओं में उनका भाग लेना उसे प्रजातन्त्र की शिक्षा देता है और उसमें राज्य के उच्चतम उत्तरदायित्वों के प्रति रुचि उत्पन्न करता है। दूसरे, जो सदस्य चुने जाते हैं उन्हें वह शिक्षा मिलती है जो उनके उस समय काम आती है जब वे केन्द्र में चुने जाते हैं। इस सम्बन्ध में हम यह संकेत कर सकते हैं कि श्री विन्सटन चर्चिल और सरदार पटेल पहले नागरिक पालिकाओं के सदस्य थे और यही बहुत अंश में उनकी बाद की सफलताओं का कारण बना। इनमें से प्रथम ने अपने देश को द्वितीय महायुद्ध के समय बचाया और दूसरे ने 'भारत के लौह पुरुष' की उपाधि प्राप्त की।

तीसरे, वह जनता के ज्ञान में वृद्धि करता है। जब वह सदस्य चुनती है तो बाद में उसके कार्यों पर नजर रखती है जब वे कुर्सियों पर बैठते हैं। इस प्रकार वह यह जान जाती है कि कौन अच्छा और कौन बुरा है। यह उन्हें केन्द्र में ठीक व्यक्ति निर्वाचित करने में सहायता देता है।

इस प्रकार स्थानीय स्वायत्त शासन के ये लाभ हैं और इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि "यह प्रजातन्त्र की हँसुली है।" ("The collar bone of democracy.")

(७) शिक्षा—यह कहा गया है कि 'शिक्षा प्रजातन्त्र का पालन करती है।' शिक्षा अच्छी सरकार की कसौटी है क्योंकि वह लोगों में अनेक गुण उत्पन्न करती है जैसे—सही और गलत, उचित और अनुचित में

भेद करना, अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों का मूल्य समझना और आत्म-सम्मान। अस्तु समाज में शिक्षा का होना अत्यन्त आवश्यक है।

ये परिस्थितियाँ हैं जो प्रजातन्त्र के लिए सही वातावरण उत्पन्न करती हैं और इन्हीं परिस्थितियों की उपस्थिति से हम रूसो के इस कथन को गलत सिद्ध कर सकते हैं कि प्रजातन्त्र केवल देवताओं के समाज में ही सफल हो सकता है। ("Democracy can be successful only in a community of Gods"—Rousseau)

Q. 67. Briefly describe the rise of modern dictatorship.

आधुनिक अधिनायक तन्त्र के उदय का संक्षिप्त वर्णन करो।

Ans.

(अ) अधिनायकतन्त्र और उसके प्रकार:—

अधिनायक तन्त्र राजनीति-शास्त्र के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है। प्राचीन समय से लेकर आज तक के इतिहास में ऐसे व्यक्ति अक्सर होते रहे हैं। जिन्होंने समस्त शासन पर प्रभुत्व स्थापित किया है। इनमें से कुछ को तो लोकमत का समर्थन भी प्राप्त रहा और यह दिखाने के लिए अनेक उदाहरण हैं कि संकट कालों में, विशेषकर युद्ध में, शक्तिशाली व्यक्ति अपने साथियों का नायकत्व करता रहा। ऐसे अवसरों पर शक्ति का केन्द्रीय करण बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ। लेकिन आधुनिक अधिनायक तन्त्र प्राचीन अधिनायक तन्त्र से भिन्न प्रकार का है। अधिनायक तन्त्र का उदय प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप हुआ। यह सत्य है कि यह युद्ध संसार को प्रजातन्त्र के लिए सुरक्षित बनाने को हुआ था, लेकिन, यह आश्चर्यजनक भले ही लगे, युद्ध की समाप्ति के साथ अधिनायकतन्त्र का बहुत शीघ्रता से उदय हुआ जिसने प्रजातन्त्र के हित पर घातक प्रहार किया। पुराने तथा नए दोनों राज्यों ने अधिनायकतन्त्र का प्रयोग किया। इटली १९२२ में मुसोलिनी और उसके फासिस्ट दल (Fascist Party) के अधिकार में आया। १९२३ में Primode Rivera को स्पेन का प्रधान शासक

घोषित किया गया। युद्ध से उत्पन्न जर्मनी की आर्थिक दुर्दशा ने वहाँ के प्रजातान्त्रिक शासन (Weimer Constitution) को समाप्त कर हिटलर के अधिनायकतन्त्र को स्थान दिया। पोलैंड में भी संसदीय सरकार की बची-खुची छाया १९२९ में अन्त हो गई जब Pilsudski ने संसद में एक सैनिक दल सदस्यों को उनकी सीमित शक्तियों का स्मरण कराने के लिए भेजा। यूगोस्लाविया में वहाँ के राजा अलेक्जेन्डर (Alexander) ने संसद को भंग कर दिया और संविधान को स्थगित कर दिया। १९३१ में रूमानिया में भी वहाँ के राजा कैरोल (Carol) ने शाही अधिनायक-तन्त्र स्थापित करने का प्रयत्न किया। इन देशों के अतिरिक्त हंगरी, बल्गा-रिया और टर्की भी अधिनायकों की अधीनता में आ गए। ग्रीस में General John Metaxes ने ४ अगस्त, १९३६ को अपने-आपको शासक घोषित कर दिया और अपने देश का जीवन और इटली जर्मनी के नमूने पर ढालना प्रारम्भ कर दिया।

सोवियत रूस में दूसरे प्रकार का अधिनायकतन्त्र मजदूर-वर्ग का अधि-नायकतन्त्र स्थापित हुआ! योरप के अन्य देशों का अधिनायकतन्त्र पूँजीपति-वर्ग का अधिनायकतन्त्र कहा जा सकता है। इन दोनों में बहुत अन्तर है। मजदूर वर्ग का अधिनायकतन्त्र पूँजीवादी समाज के नाश तथा साम्यवादी समाज के उदय की अन्तर्कालीन अवस्था है जिसकी समाप्ति पर राज्य का अन्त हो जायगा। योरप के अन्य भागों में अधिनायकतन्त्र की स्थापना पूँजीवादी समाज पर हुई। लेकिन इन दोनों प्रकार के अधिनायकतन्त्रों की सामान्य विशेषता एक समूह द्वारा शासन तथा राज्य में केवल एक ही राज-नैतिक दल का अस्तित्व है। किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनमें से अधिकतर अधिनायक (dictators) स्वेच्छाचारी शासक (autocrats) थे जो कि वही करते थे जो वे कुछ चाहते थे, लेकिन वे उन समूहों के नेता थे जो अपने दलों के विचार एवं दर्शन के अनुसार शासकीय मशीन चलाते थे।

इंग्लैंड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में भी अधिनायकतन्त्र के चिह्न देखे

जा सकते हैं, यद्यपि इन देशों ने अपनी प्रजातान्त्रिक संस्थाओं को भी बनाए रखा। दोनों ही देशों में आर्थिक संकट तथा अन्य जरूरी आवश्यकताओं के लिए नीति की एकता, और इसलिए, शक्ति के केन्द्रीयकरण की आवश्यकता थी। इंग्लैंड की पार्लियामेण्ट ने आर्थिक संकट के दिनों में रामजे मैकडोनल्ड (Ramsay Macdonald) को अपने देश की रक्षा करने के लिए पूर्ण शक्ति दे दी। अमेरिका में भी अपनी "New Deal" की नीति के कारण राष्ट्रपति रूजवेल्ट (Roosevelt) सर्वशक्तिमान हो गए। गत महायुद्ध के समय फ्रान्स और इंग्लैंड की प्रजातान्त्रिक सरकारों की परीक्षा का फिर समय आया जिसमें वे बनी तो रहीं किन्तु संयुक्त सरकारों (Coalition Governments) के मूल्य पर जिसका यथार्थतः अर्थ प्रतिपक्ष का समाप्त हो जाता था जो कि सांसदीय सरकार का अभिन्न अंग होता है। इसलिए वह आलोचना-द्वारा सरकारें नहीं रहीं।

अस्तु यह कहा जा सकता है कि प्रथम महायुद्ध के बाद प्रायः सभी देश अधिनायकों के पैरों तले आ गए थे। लेकिन फिर भी यह आश्चर्यजनक भले ही लगे, द्वितीय महायुद्ध को फिर प्रजातन्त्र और अधिनायकतन्त्र का युद्ध घोषित किया गया। हमें अधिनायकतन्त्र के उदय के कारणों पर विचार करना चाहिए।

अधिनायक तन्त्र के उदय के कारण:—

(१) सांसदीय संस्थाओं का अविश्वास—युद्ध की समाप्ति पर जब परेशान सैनिक अपने देशों को लौटे वे प्रजातान्त्रिक संस्थाओं में विश्वास खो चुके थे। उन्होंने व्यवस्थापिका के सदस्यों को युद्ध का कारण बताया जो बिना युद्ध की भयानकता का अनुभव किए घरों में सुरक्षित बैठे थे। वे सिपाही ही थे जिनके सगे सम्बन्धी मरे थे। लेकिन जो लोग घरों पर बैठे रहे उन्होंने युद्धकाल में खूब धन पैदा किया। जब सिपाही घरों को लौटे तो उन्होंने अपने लिए बेकारी को मुँह खोले देखा। यही नहीं, युद्ध का खर्चा चुकाने के लिए उन्हें भारी कर देने के लिए भी कहा गया। इन आर्थिक कठिनाइयों ने उन्हें उदासीन बना दिया और ऐसा लगा मानो प्रजा-

तन्त्र अपने आदर्श प्राप्त करने में असफल रहा है।

२—बहुत से देशों के लिए प्रजातन्त्र सर्वथा नवीन—युद्ध के बाद जो नए राज्य स्थापित किए गए, जिनका आधार "आत्मनिर्णय" (Self determination) का सिद्धान्त था। वे प्रजातन्त्र के विकास के लिए उपयुक्त जलवायु नहीं उत्पन्न कर सके। वह उनके लिए सरकार का एक सर्वथा नवीन स्वरूप था जिसके प्रति वे अभ्यस्त नहीं थे।

३—नई आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएँ प्रजातन्त्र हल न कर सका—इन राजनैतिक अयोग्यताओं के अतिरिक्त इन देशों के सामने कुछ आर्थिक एवं वित्तीय समस्यायें भी थीं। वास्तव में पुराने तथा बड़े राज्यों की स्वार्थी नीति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बन्द हो गया था इसलिए नए तथा छोटे राज्यों को अपने अस्तित्व के लिए बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं और इसका परिणाम शक्ति का केन्द्रीयकरण हुआ।

४—आर्थिक स्वाश्रय की नीति के लिए अधिनायकतन्त्र आवश्यक—सब के दिलों में प्रत्येक राज्य के द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली आर्थिक स्वाश्रय (Self sufficiency) की नीति और अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व, अविश्वास एवं शंका ही सबसे ऊपर थीं। आर्थिक तथा राजनैतिक दोनों ही क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिशोध समय का साधारण क्रम बन गया। केवल अधिनायकीय शक्तियाँ ही एक देश को भली प्रकार संभाल सकती थीं। इन परिस्थितियों के कारण आवश्यक एक दृढ़ एवं उद्यत नीति केवल एक अधिनायक की अधीनता में ही सम्भव थी न कि प्रजातान्त्रिक संस्थाओं में।

५—वरसाइल की सन्धि—विस्तृत जर्मनी के नारे तथा वरसाइल की सन्धि (Treaty of Versailles) के परित्याग ने जर्मनों को इतना अनुरक्त कर दिया था कि वे हिटलर के अनुयायी हो गए। युद्धकाल की क्षति को पूर्ण करने की दृष्टि से अधिक भूमि प्राप्त करने की लालसा ने इटली को मुसोलिनी की आधीनता में एक अतिक्रमणकारी नीति का अनुसरण करने पर विवश कर दिया।

६—आर्थिक संकट—१६२६ के विश्व आर्थिक संकट तथा अमेरिका और फ्रान्स की स्वार्थी नीति, जिसके अनुसार उन्होंने पहले तो संसार की सोने की खपत के बड़े भाग पर एकाधिकार कर लिया और फिर सिक्के के मूल्य में परिवर्तन ("Sterlising") कर दिया, ने प्रायः सभी देशों की आर्थिक स्थिति को और भी दयनीय बना दिया। इस आर्थिक संकट पर विजय पाने के लिए प्रत्येक देश की रक्षा के साधनों को पुष्ट करना था और इसके लिए चित्रलिखित मितव्यता (Planned Economy) की आवश्यकता थी जो केवल एक अधिनायक ही सफलतापूर्वक लागू कर सकता था।

७—फासिस्ट देशों की अतिक्रमणकारी नीति—जापान, जर्मनी और इटली ने जिस अतिक्रमणकारी नीति को अपनाया उसने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को और भी खराब बना दिया। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी नाजुक हो गई कि उसके लिए उद्यत एवं दृढ़ निर्णयों की आवश्यकता थी जो कि प्रजा-तन्त्रीय सरकार में बहुत कठिन है।

८—लीग ऑफ नेशन्स की असफलता—लीग ऑफ नेशन्स भी अपना सम्मान खो चुकी थी। निःशस्त्रीकरण सभा (Disarmament Conference) असफल रही थी। अपने को निःशस्त्रीकृत करने के स्थान पर प्रायः सभी देशों ने सैनिककरण एवं आधुनिक युद्ध-तरीकों का प्रबन्ध करना प्रारम्भ कर दिया था। बड़े राष्ट्रों की इस युद्ध की तैयारी ने छोटे राज्यों के दिमाग में निरन्तर बढ़ने वाली शंका उत्पन्न कर दी थी। इस प्रकार इन देशों को सैनिक अधिनायकतन्त्र का सामना करना था।

६—प्रजातन्त्र के कठिन आदर्श—एक अधिनायक द्वारा शासित राज्य के आदर्शों की अपेक्षा प्रजातन्त्र के आदर्शों को प्राप्त करना कठिन है एक सर्वग्राही (Totalitarian) राज्य के नागरिकों को वही करना होता है जो उनसे कहा जाता है और उन्हें अधिनायक के आदेश के विरुद्ध कुछ सोचना अथवा चुनना नहीं होता है। अस्तु प्रजातन्त्र एक कल्पना की वस्तु बन जाती है और अधिनायकतन्त्र एक वास्तविकता।

Q. 68. Do you think that Dictatorship is a satisfactory alternative to Democracy ?

(Agra 1939)

क्या तुम्हारे विचार से अधिनायकतन्त्र प्रजातन्त्र का सन्तोषजनक विकल्प है ?

Ans.

(अ) प्रजातन्त्र की असफलता :

प्रथम महायुद्ध के बाद के युग में प्रजातन्त्र की अत्यन्त कटु आलोचना की गई। योरपीय देशों में से अधिकांश की प्रजातन्त्र सरकारें युद्धजनित समस्याओं को सुलझा नहीं सकीं। कुछ देशों में अनेकों राजनैतिक दल थे। उनमें ये होता था कि एक दल दूसरे की सरकार को हटा देना चाहता था और फलस्वरूप सरकारें बहुत जल्दी-जल्दी समाप्त हो जाती थीं।

इसलिए स्वाभाविक ही था कि उन परिस्थितियों में एक दृढ़ और स्थायी सरकार, जो कि समय की मांग थी, सम्भव नहीं थी, सभी राष्ट्र आर्थिक संकट से ग्रस्त थे। लेकिन प्रजातन्त्रिक सरकारें, जो अपनी ही दलबन्दी में व्यस्त तथा खोई हुई थीं, अपने राष्ट्रों की कठिनाइयों को दूर नहीं कर सकती थीं। परिणाम यह हुआ कि लोग प्रजातन्त्र में विश्वास अथवा श्रद्धा खो बैठे। उन्हें समय के अधिनायकतन्त्रों ने आकर्षित किया। उन्होंने देखा कि रूसी अधिनायकतन्त्र, जो कि जार (Czar) के शासन के बाद स्थापित हुआ था, एक सफल सरकार है क्योंकि उसने जनता को समृद्धि के एक उच्च स्तर तक उठा दिया है। उन्होंने महसूस किया कि अधिनायकीय (dictational) सरकार सुचारु एवं प्रभावशाली होती है क्योंकि वह कार्य करने में तेज होती है। उन्होंने यह भी देखा कि उनके देश जो कि प्रजातन्त्रीय हैं, अपनी अनिश्चयात्मक एवं निरन्तर परिवर्तनशील नीतियों के कारण कमजोर हैं। दूसरी ओर अधिनायकतन्त्र पर दृढ़ता और निश्चय की छाप रहती है। इस प्रकार योरप में यह भावना उत्पन्न हो गई कि यदि एक अच्छा अधिनायक (dictator) मिल सके तो अधिनायकतन्त्र प्रजातन्त्र से अधिक

और उसकी जनता उसकी चहर-दीवारी में बन्द रहती है जो कि अदृश्य है। ("The dictator remains a tyrant. The Totalitarian State is a prison and its subjects are closed in by walls, none the less real because they are invisible.") अस्तु यह स्पष्ट है कि अधिनायकतन्त्र को प्रजातन्त्र का उपयुक्त विकल्प नहीं माना जा सकता।

Q. 69. What are the distinguishing marks of the Cabinet or parliamentary type of government ? Discuss its merits and demerits.

(Patna 1944; Bombay 1936; Punjab 1949, 50, 47, 37)

मन्त्रिमण्डल अथवा सांसदीय सरकार की मुख्य विशेषतायें कौन-कौन सी हैं ? उसके गुणों तथा दोषों का विवेचन कीजिए।

Ans.

(अ) सांसदीय सरकार का अर्थ :

आधुनिक प्रजातन्त्रों को उनकी कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका के सम्बन्ध के अनुसार सांसदीय तथा अध्यक्षात्मक में वर्गीकृत कर सकते हैं। सांसदीय सरकार की व्याख्या करते हुए लीकॉक (Leacock) लिखता है कि "सांसदीय शासन प्रणाली में वास्तविक कार्यकारिणी का कार्यकाल व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर रहता है।" सांसदीय सरकार के अन्तर्गत एक मन्त्रिमण्डल, न कि एक व्यक्ति, वास्तविक कार्यकारिणी का निर्माण करता है, जो कि व्यवस्थापिका में से चुना जाता है और अपने लोक-कार्यों तथा नीतियों के लिए कानूनी तौर से तथा राजनीतिक तौर से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है। सांसदीय सरकार में एक कानूनी कार्यकारिणी भी होती है जो केवल नाम-मात्र की होती है।

(ब) उसकी मुख्य विशेषतायें :

उपर्युक्त से यह स्पष्ट हो जायगा कि सांसदीय सरकार की मुख्य विशे-

पतायें निम्नलिखित हैं :—

१—नाम-मात्र का कार्यकारिणी का प्रधान : प्रथम, उसमें राज्य का एक नाम-मात्र का प्रधान होता है जो कि या तो कुछ निश्चित समय के लिए चुना जाता है जैसे फ्रान्स और पुर्तगाल में अथवा पैत्रिक होता है जैसे ग्रेट ब्रिटेन; हॉलैन्ड, बेल्जियम और नार्वे में। यह कानूनी कार्यकारिणी केवल नाम मात्र की होती है। वह केवल राज्य करता है शासन नहीं करता। वास्तविक कार्यकारिणी, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, एक मन्त्रिमण्डल होता है। मन्त्रिमण्डल सरकार के अन्तर्गत वास्तविक और नाम-मात्र की कार्यकारिणी में जो अन्तर रखा जाता है वह सांसदीय शासन की एक प्रत्यक्ष विशेषता है।

२—मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यकारिणी : दूसरे, लोकप्रिय व्यवस्थापिका में से लिये गए तथा उसी के प्रति उत्तरदायी एवं उसके द्वारा हटाये जाने योग्य कुछ मन्त्रीगण सांसदीय सरकार की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यह मन्त्रि-समूह वास्तविक कार्यकारिणी का काम करता है।

व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी का सम्बन्ध—तीसरे, कुछ निश्चित वर्षों की अवधि के निर्वाचित लेकिन मन्त्रिमण्डल द्वारा भंग किए जाने योग्य (केवल एक ही बार) एक व्यवस्थापिका सांसदीय सरकार की अन्तिम विशेषता होती है।

(ग) उसके गुण :

सांसदीय सरकार के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं:—

(१) कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका में सहयोग—सांसदीय सरकार के अन्तर्गत कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका के बीच बहुत निकट सम्पर्क तथा सहयोग रहता है। समस्त शासकीय यन्त्र एक इकाई की तरह एक ही उद्देश्य से प्रेरित, काम करता है। ब्राइस (Bryce) के शब्दों में "इस प्रणाली का सुन्दर सार है कि कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका का बहुमत मिलकर, एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हुए काम करते हैं।" सरकार के इन दो प्रमुख अंगों के मिलकर काम करने का यथार्थ परिणाम यह होता है कि

काम में कभी विरोध अथवा संघर्ष नहीं होता और कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका के बीच गतिरोध बहुत ही कम अवसरों पर होता है। चूँकि मन्त्रिगण व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और उन्हें बहुमत दल का समर्थन प्राप्त होता है, वे अपने सभी विधेयकों को कानून में पास करवा सकते हैं। व्यवस्थापिका के सदस्य भी जनता की किसी भी कठिनाई की ओर मन्त्रिमण्डल का ध्यान आकर्षित करा सकते हैं और उसका उपचार करा सकते हैं।

(२) **उद्यत शासन**—बहुमत दल के समर्थन से मन्त्रिमण्डल इतनी अधिक सहायता और उद्योग प्राप्त कर सकता है जितना अध्यक्षात्मक सरकार में कभी नहीं प्राप्त किया जा सकता जिसकी प्रमुख विशेषता उसकी कार्यकारिणी की व्यवस्थापिका से पृथकता एवं स्वतन्त्रता है।

(३) **उत्तरदायी शासन**—सांसदीय शासन-प्रणाली केवल उत्तरदायी ही नहीं होती वह जनता की इच्छाओं का भी ध्यान रखती है। इसके अन्तर्गत जो लोग देश का शासन करते हैं वे निरन्तर उनकी अधीनता अथवा नियन्त्रण में रहते हैं जो उनके द्वारा शासित होते हैं। मन्त्रिगण यह जानते हैं कि वे किसी भी क्षण अपने पदों से हटाए जा सकते हैं यदि वे लोक भावना के विरुद्ध काम करते हैं। इसलिए स्वभावतः वे अपनी अँगुलियाँ जनता की नाड़ी पर रखते हैं और तदनुकूल कार्य करते हैं।

(द) उसके दोष—

राजनीतिक विचारकों ने सांसदीय सरकार के निम्नलिखित दोषों की ओर संकेत किया है:—

(१) **शक्ति का पृथक्करण नहीं**—सर्वप्रथम यह संकेत किया जाता है कि सांसदीय सरकार के अन्तर्गत शक्ति के पृथक्करण (separation of powers) का सिद्धान्त भंग होता है। व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी अंगों का मेल, जैसा कि मन्त्रिमण्डल सरकार में होता है, व्यक्ति के अधिकारों एवं स्वतन्त्रता के लिए घातक कहा जाता है। प्रो० लास्की संकेत करते हैं कि "वह निश्चय रूप से कार्यकारिणी को शिक्षा का अवसर देता है और इसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका की स्थिति अत्यन्त दयनीय

बना दी जा सकती है जैसा कि लायड जार्ज के प्रधान मन्त्रित्व काल में हो गई थी। व्यवस्थापिका को कार्यकारिणी के निर्णयों को स्वीकृति देनी ही पड़ती है क्योंकि उनको न तो वह परिवर्तित कर सकती है और न ही उनकी आलोचना कर सकती है। ("It certainly gives to the executive an opportunity for training and under it the legislature may be reduced as it was during the priemtership of lord george merely an organ for the registration of the decision which it is powerless either to criticize or to alter."—Prof H. J. Laski) लेकिन यह तर्क ठीक नहीं है। अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि इंग्लैंड में व्यक्ति की स्वतन्त्रता, जहाँ कि मन्त्रिमण्डल प्रणाली है जिसकी विशेषता कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका का निकट सम्बन्ध, न कि पृथक्करण, है, उतनी ही सुरक्षित है जितनी कि अमेरिका की अध्यक्षात्मक प्रणाली में है जिसकी विशेषता शक्ति का पृथक्करण है।

(२) दल का अधिनायकतन्त्र—दूसरे, यह ठीक ही कहा जाता है कि सांसदीय सरकार मूलतः एक दलीय सरकार होती है। इसके अन्तर्गत सरकार का समस्त नियन्त्रण व्यवस्थापिका के बहुमत दल के हाथों में आ जाता है। लार्ड ब्राइस ने कहा है कि "वह दल-बन्दी की भावना को बढ़ाती है और उसे सदा चरम सीमा पर रखती है।" साधारणतः बहुमत दल का शासन एक दल का अधिनायकतन्त्र अथवा तानाशाही बन जाता है। अल्पमत दल को सरकार में भाग लेने से सर्वथा अलग कर दिया जाता है और इस प्रकार राष्ट्र को बहुत से योग्य व्यक्तियों की सेवा से वंचित कर दिया जाता है जो कि अल्पमत दल में हो सकते हैं।

(३) अस्थायी सरकार—तीसरे, यह कहा जाता है कि सांसदीय प्रणाली के अन्तर्गत सरकार केवल मत प्राप्त करने वाली युक्तियों पर ही अपना ध्यान रखती है, जनता के हित को उस समय भुला देती है। दल के

अल्पकालीन लाभों के पीछे देश के महत्त्वपूर्ण हित का बलिदान कर दिया जाता है। इस प्रकार आलोचक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐसी प्रणाली में जिसमें शासन का जीवन उसके विधेयकों पर निर्भर रहता है, मन्त्रिमण्डल राष्ट्र की वास्तविक आवश्यकताओं पर बहुत कम विचार करता है। मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली अपनी प्रकृति से ही शासन की दृढ़ता, स्थायित्व एवं सुचारुता तथा जनता का कल्याण नहीं प्राप्त कर सकती।

(४) संकटकालों के लिए अनुपयुक्त—अन्त में, आलोचकों का मत है कि सांसदीय सरकार युद्ध के समय तथा राष्ट्रीय संकटों के समय में तनिक उपयुक्त नहीं है। सांसदीय सरकार के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल, अपने विभाजित उत्तरदायित्व, स्वतन्त्र वादविवाद और निरन्तर परिवर्तित बहुमतों के कारण, कभी भी शीघ्र, संगठित एवं दृढ़ कदम नहीं उठा सकता जो राष्ट्रीय संकट के दिनों में इतना आवश्यक होता है।

Q. 70 What are the distinguishing marks of the Presidential system of government? In what respects does this system differ from the cabinet system? Discuss its merits and demerits.

(Agra 1938; Calcutta 1940, 36; Punjab 1932; Patna 1944, 49, 50; Bombay 1930)

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के विशेष लक्षण क्या है? यह प्रणाली मन्त्रिमण्डल प्रणाली से किन बातों में भिन्न है? उन गुणों तथा दोषों की विवेचना कीजिए।

Ans.

(अ) अध्यक्षात्मक सरकार का अर्थ—

सांसदीय सरकार से सर्वथा भिन्न अध्यक्षात्मक अथवा राष्ट्रपति सरकार है। दोनों निश्चय ही प्रतिनिधि सरकारें हैं, परन्तु सांसदीय सरकार में कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है जब कि अध्यक्षात्मक

सरकार में ऐसा उत्तरदायित्व नहीं पाया जाता। अध्यक्षात्मक सरकार में कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका के बीच थोड़ा अथवा बहुत तलाक-सा रहता है। कार्यकारी एवं विधायी विभाग पृथक होते हैं, लेकिन कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के अधीन होती है। यह सांसदीय सरकार की प्रमुख विशेषता है। सांसदीय सरकार के मुख्य गुण निम्नलिखित हैं—

(१) सांसदीय सरकार में कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका के बीच निकट सम्पर्क एवं सहयोग है।

(२) सम्पूर्ण शासकीय यन्त्र एक ही इकाई की तरह, एक सामान्य उद्देश्य से प्रेरित होकर, कार्य करती है। ब्राइस के शब्दों में "इस प्रणाली का सार यह है कि कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका का बहुमत एक साथ मिलकर प्रत्येक दूसरे पर प्रभाव डालते हुए—काम करते हैं।" यह सांसदीय सरकार की विशेषता के परिणामस्वरूप है। मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यकारिणी की तरह काम करता है।

(३) तीसरे, एक निश्चित काल के निर्वाचित, लेकिन मन्त्रिमण्डल द्वारा भंग किये जाने योग्य (केवल एक ही बार), व्यवस्थापिका सांसदीय सरकार की अन्तिम विशेषता है।

अध्यक्षात्मक सरकार का एकमात्र उदाहरण संयुक्त-राज्य अमेरिका है। मान्टेस्क्यू (Montesqicu) द्वारा प्रतिपादित शक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त ने अमेरिकन संविधान के निर्माताओं को इतना प्रभावित किया था कि वे सांसदीय सरकार को स्वतन्त्रता का निषेध समझते थे। तदनुसार संविधान सभा ने अमेरिका के लिए एक ऐसा विधान बनाया जो कि इंग्लैंड के संविधान से सर्वथा भिन्न था, यद्यपि मान्टेस्क्यू को प्रेरणा इंग्लैंड की परिस्थितियों से ही मिली थी।

(च) अध्यक्षात्मक सरकार की विशेषतायें—

अध्यक्षात्मक सरकार की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं:—

१—निर्वाचित प्रधान अधिशासी—राज्य की कार्यकारिणी का प्रधान अथवा प्रधान-अधिशासी (Chie fexecutive) जनता का निर्वाचित प्रतिनिधि होता है।

२—राष्ट्रपति की निर्वाचन विधि तथा उसका कार्य-काल संविधान में ही दिया रहता है।

३—निश्चित कार्य-काल—राष्ट्रपति का निर्वाचन कुछ निश्चित वर्षों के लिए होता है। संविधान इस सम्बन्ध में चुप रहता है कि वह कितनी बार पुनः निर्वाचित किया जा सकता है। उदाहरणतः अमेरिका में प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन (George Washington) के समय से प्रथा दो बार की रही है। लेकिन राष्ट्रपति रूज़वेल्ट (Roosvelt) ने इस प्रथा को, तीसरी तथा चौथी बार पुनः निर्वाचित होकर, तोड़ दिया।

४—प्रधान अधिशासी का पद, राष्ट्रपति अथवा अध्यक्षात्मक सरकार में एक विधि के अनुसार चलता है। उदाहरणतः अमेरिका में संयुक्त राज्य का राष्ट्रपति एक विशेष स्थिति को छोड़कर, जब उसने कोई ऐसा अपराध किया हो जिसके लिए उस पर महाभियोग (impeachment) चलाया जा सके, अन्य किसी भी प्रकार अपने पद से हटाया नहीं जा सकता।

५—व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं—उपर्युक्त से यह अर्थ निकलता है कि सांसदीय सरकार से भिन्न अध्यक्षात्मक सरकार में कार्य-कारिणी को पद पर रहने के लिए व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। उसके व्यवस्थापिका द्वारा अविश्वास के खोए जाने का भय नहीं करना पड़ता। न ही यह आवश्यक है कि राष्ट्रपति और उसके सचिव—जो साधारणत मन्त्री कहलाते हैं—व्यवस्थापिका के सदस्य हों।

६—प्रधान अधिशासी की शक्तियाँ वास्तविक—संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की शक्तियाँ, इंग्लैंड के राजा अथवा फ्रान्स के राष्ट्रपति से भिन्न, वास्तविक हैं। वह राज्य का नाममात्र का प्रधान नहीं है। सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने कहा है कि "इंलैंड का राजा राज्य करता है पर शासन नहीं करता; अमेरिका का राष्ट्रपति शासन करता है पर राज्य नहीं; फ्रान्स के राष्ट्रपति के लिए यह छोड़ दिया गया है कि न वह राज्य करे, न शासन ही।" ("The British king

reigns but does not rule, the American President rules but does not reign; it is left to the French President neither to rule nor to reign" अध्यक्षात्मक सरकार के लिए सांसदीय सरकार की तरह एक नाममात्र के प्रधान की आवश्यकता नहीं होती। कार्यकारिणी की शक्तियाँ, सांसदीय सरकारों के नाममात्र के प्रधान से भिन्न वास्तविक तथा प्रभावशाली दोनों ही होती हैं।

७—मन्त्रिगण केवल मात्र सचिव—अध्यक्षात्मक सरकार में मन्त्रिमण्डल सांसदीय सरकार से सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है। अमेरिका में संविधान यह निर्धारित करता है कि राष्ट्रपति को अपना कर्तव्य पालन करने में कुछ सचिव (Secretaries) मदद करेंगे। लोकप्रिय प्रथा ने उन्हें मन्त्री कहना शुरू कर दिया है और वे मिलकर मन्त्रिमण्डल कहलाते हैं। यह सब गलत नामकरण है। न तो वे मन्त्री ही हैं और न सांसदीय प्रकार के मन्त्रिमण्डल का ही निर्माण करते हैं।

अमेरिका में तथाकथित मन्त्रिमण्डल के सदस्य न तो व्यवस्थापिका में से चुने ही जाते हैं और न उसके प्रति उत्तरदायी ही होते हैं। उन्हें व्यवस्थापिका में सीट नहीं प्राप्त होती। उनकी नियुक्ति एवं कार्यावधि पूर्ण रूप से राष्ट्रपति की इच्छाओं पर निर्भर होती है। वे राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी होते हैं, अन्य किसी के प्रति नहीं। राष्ट्रपति उनसे किसी भी विषय पर सलाह ले सकता है, चाहे वैयक्तिक रूप से चाहे सामूहिक। यह सब उसके विवेक पर निर्भर रहता है। वह चाहे तो उनसे बिल्कुल भी सलाह न ले। राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की बैठकों में सभापतित्व करता है। सरकार की नीति का निर्धारण राष्ट्रपति की इच्छा करती है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे बहुमत का निर्णय कहा जा सके। वास्तव में अमेरिका में मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति का कुटुम्ब कहा जाता है।

८—शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण— इस प्रकार राष्ट्रपति अथवा अध्यक्षात्मक सरकार के अन्तर्गत व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी एक-दूसरे

से सर्वथा पृथक रहती हैं। अमेरिका इसका उत्कृष्ट उदाहरण है जहाँ कम-से कम सिद्धान्त में शक्तियों का पृथक्करण सर्वथा पूर्ण है। न राष्ट्रपति न उससे मन्त्रिमण्डल के सदस्य ही कांग्रेस (Congress) में प्रवेश कर सकते हैं। उन्हें लोक तथा धन के विधेयकों को प्रस्तुत करने और पार कराने से कुछ मतलब नहीं। कार्यकारिणी के हाथ में केवल एक ही साधन होता है कि वह राष्ट्रपति के सन्देशों (Presidential messages) के द्वारा कांग्रेस से एक विशेष प्रकार की नीति की सिफारिश करें। पर कांग्रेस को यह अधिकार है कि वह चाहे तो उस सिफारिश को मान ले चाहे उसे ठुकरा दे।

६—कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका दोनों जनता द्वारा निर्वाचित होती हैं और जनता की इच्छानुसार कार्य करने का प्रयत्न करती हैं। शक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त से प्रेरित होकर अमेरिकन संविधान के निर्माताओं ने सरकार के तीनों अंगों को पृथक् एवं पूर्ण शक्तियाँ सौंप दीं। लेकिन यह पूर्व कल्पना करके कि उसका परिणाम शक्तियों का अविवेकपूर्ण प्रयोग न हो उन्होंने सावधानी से cheeks and balances की प्रणाली की व्यवस्था भी कर दी।

(स) अध्यक्षात्मक सरकार के गुण—

१—**प्रतिनिधि सरकार**—अध्यक्षात्मक सरकार का प्रधान गुण यह है कि, बिना उत्तरदायी सरकार हुए ही, वह प्रतिनिधि सरकार बनी रहती है।

२—**स्थायी सरकार**—अध्यक्षात्मक सरकार सांसदीय सरकार की अपेक्षा अधिक स्थायित्व और तदनुसार अधिक सुचारुता का उपभोग करती है। कार्यकारिणी का जीवन 'विधि के अनुकूल' (by calender) चलता है। वह व्यवस्थापिका की डाँवाडोल इच्छा पर निर्भर नहीं रहता। कार्यकाल निश्चित होने के कारण सरकार की नीति को सफलतापूर्वक, बिना टूटने के डर के, चलाया जा सकता है। इसका अर्थ है नीति का अधिक स्थायित्व। चूँकि अध्यक्षात्मक सरकार में प्रधान अधिशासी एवं उसके

साथियों का कानून-निर्माण से कोई सम्बन्ध नहीं होता वे अपना समस्त ध्यान कार्यकारी (executive) काम में लगा सकते हैं और नीति को चलाने में केन्द्रित कर सकते हैं।

३—नियन्त्रण की एकता—अध्यक्षात्मक सरकार के अन्तर्गत नियन्त्रण की एकता, निर्णय की शीघ्रता एवं नीति की निश्चितता रहती है। उदाहरणतः अमेरिका में समस्त शासन की नियन्त्रणकारी सत्ता राष्ट्रपति ही है। विभाजित अथवा विभक्त नीति और विभाजित उत्तरदायित्व का कोई प्रश्न ही नहीं है क्योंकि सब मन्त्रियों को राष्ट्रपति द्वारा बताई गई नीति को मानना ही पड़ता है। राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने विश्व आर्थिक संकट तथा द्वितीय विश्व-युद्ध के समय राज्य की नाव को किस कठिनता से पार लगाया था यह हम सभी जानते हैं।

४—सुचारु एवं उद्यत शासन—कार्यकारिणी के प्रधान में पूर्ण शक्ति का केन्द्रित कर देना शासन में कार्य-शक्ति एवं उद्यम (Promptness) लाता है। राष्ट्रीय संकटों, जैसे युद्धों, के समय में यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। मन्त्रिमण्डल सरकार के अन्तर्गत उन दलों में, जो कि राष्ट्रीय सरकार का निर्माण करते हैं, जरा-सा मतभेद भी प्राणघातक हो सकता है। द्वितीय विश्व-युद्ध में संयुक्त राज्य की अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने प्रभाव जमा रखा था और समस्त संसार की आँखें अमेरिका पर ही केन्द्रित थीं, न कि इंग्लैंड की ओर।

५—विभिन्न सम्प्रदायों वाले देशों के लिए उपयुक्त—अध्यक्षात्मक सरकार उन देशों के लिए अत्यन्त उपयुक्त है जिनमें विभिन्न विचारों वाले अनेक सम्प्रदाय रहते हैं। ऐसे देशों में एक ही प्रकार की द्विदल-प्रणाली सम्भव नहीं है और ऐसी परिस्थितियों में संसदीय सरकार की सफलता का आश्वासन नहीं दिया जा सकता।

(द) अध्यक्षात्मक सरकार के दोष—

१—शक्ति के पृथक्करण पर आधारित—अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली शक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है। [illegible]-

-पास करके प्रवेश करते हैं और अच्छे व्यवहार-काल, में काम करते रहते हैं तथा पेन्शन पर अवकाश ग्रहण कर लेते हैं।"

(ब) नौकरशाही शासन के गुण—

इसका प्रमुख गुण यह है कि इसके अफसर बड़े बुद्धिमान और योग्य व्यक्ति होते हैं जिन्हें विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। उन्हें शासन की कला की विशेष शिक्षा दी जाती है तथा वे कठोर अनुशासन तथा अपने संगठन के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान की भावना रखते हैं। वे राज्य के पूरे समय के सेवक होते हैं और उन्हें किसी अन्य काम के करने की आज्ञा नहीं होती। ऐसे सरकारी अफसर स्वभावतः ही बहुत अनुभव जमा कर लेते हैं, अपने द्वारा परीक्षित एवं सुविचारित परम्परागत सिद्धान्तों को प्राप्त कर लेते हैं और जो कार्य का वास्तविक चालन करते हैं, उनके लिए समुचित व्यवहारिक ज्ञान की व्यवस्था करते हैं। इसलिए वह लोकप्रिय सरकार की अपेक्षा अधिक योग्य होता है।

(स) उसके दोष—

लेकिन शासन की योग्यता ही अच्छी सरकार की एकमात्र परीक्षा नहीं है। एक अच्छी सरकार का उद्देश्य जनता को राजनैतिक कार्यों में शिक्षा देना, सरकार में रुचि उत्पन्न करना, आत्मनिर्भरता, देश-प्रेम और भक्ति होना चाहिए। ये सभी विशेषतायें नौकरशाही शासन में नहीं होती है। नौकरशाही शासन का उद्देश्य (१) नियन्त्रण और अधीक्षण का केन्द्रीयकरण, (२) कार्य को विभिन्न अफसरों में बाँटना, (३) अफसरों को उनकी योग्यताओं के आधार पर नीचे से ऊपर के क्रमानुसार नियुक्त करना, (४) सेवा की सुरक्षा करना, (५) गोपनीयता और (६) अनावश्यक देरी (red tapism) और नियमानुसार कार्य के प्रति कठोर प्रेम है। ऐसी सरकार अनुत्तरदायी और लोकमत के प्रतिकूल होती है। वे अपने शासकीय नियमों और प्रथाओं से बँधे रहते हैं। वे अपने दृष्टिकोण में अनुदार होते हैं और इसलिए उनके पास न तो जनता की इच्छा को जानने के साधन ही होते हैं और न जनता की मांग के अनुसार अपनी नीति को

ढालने के। उनका मस्तिष्क संकीर्ण और अपने ही विभागों तक सीमित होता है। सरकार की इन्द्रिय-सम्बन्धी एकता के प्रति वे बहुत कम शंका करते हैं। गार्नर के शब्दों में "वे अधिकतर मनुष्यों की सरकार हैं न कि कानून की"। ऐसी सरकार में असाधारण नियमनिष्ठता, भड़क एवं ऐश्वर्य भी पाए जाते हैं जिनका परिणाम ज़्यादा खर्चा और जनता के पैसे की आवश्यक बरबादी होती है। हम जो भारत में रहते हैं इनसे भली-भांति अवगत हैं।

लोकप्रिय सरकार—

लोकप्रिय सरकार नौकरशाही की ठीक उल्टी होती है। वह ऐसे व्यक्तियों की सरकार है जो जनता में से समय-समय पर लिए जाते हैं और थोड़े समय सेवा करने के उपरान्त अपने निजी जीवन में लौट जाते हैं। साधारणतः शासक सरकार अथवा शासन की कला में अनाड़ी होते हैं और उनकी कोई विशेष शिक्षा नहीं होती। वे लोकमत के संरक्षक होते हैं और उनके द्वारा निर्देशित एवं प्रभावित होते हैं। वास्तव में वह उनके राजनैतिक जीवन की श्वास होती है। अपने कर्त्तव्यों के पालन में वे विधायी नियन्त्रण के प्रति उत्तरदायी होते हैं न कि प्रशासकीय नियन्त्रण के प्रति।

उसके गुण—

१—उत्तरदायी सरकार शासितों के प्रति उत्तरदायित्व प्राप्त करती है।

२—वह जनता को शिक्षित करती तथा ऊँचा उठाती है।

३—वह लोकप्रिय सरकार होती है क्योंकि वह जनता की इच्छा पर निर्भर रहती है।

४—वह राजनैतिक अधिकारों की सुरक्षा प्रदान करती है और इस कुलीनतन्त्रीय विश्वास को ठुकरा देती है कि कुछ व्यक्ति शासन करने को पैदा होते हैं और कुछ शासित होने के लिए।

५—चूँकि लोकमत लोकप्रिय सरकार की कसौटी होती है इसलिए वह आत्मत्याग की शिक्षा देती है और स्वयंसेवी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित करती है।

दोप—

१—वह समानता और असमानता दोनों उत्पन्न करती है।

२—वह गुण की जगह संख्या को अधिक महत्व प्रदान करती है।

३—वह वर्ग-संघर्ष को प्रोत्साहन देती है।

४—जनता अपने राजनैतिक उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करती और इसलिए वह उनके पालन के प्रति उदासीन रहती है।

Q. 72. Clearly distinguish between the Unitary and Federal forms of Government and discruss the merits and demerits of a Unitary Government.

एकात्मक तथा संघात्मक सरकारों का अन्तर भली भाँति स्पष्ट कीजिए और एकात्मक सरकार के गुण तथा दोषों का विवेचन कीजिए।

Ans.

(अ) एकात्मक तथा संघात्मक सरकारों की व्याख्या :

एकात्मक तथा संघात्मक सरकारों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए यह वांछनीय है कि पहले हम इन सरकारों के अर्थ को समझ लें।

एक लेखक के अनुसार "एकात्मक सरकार वह होती है जिसमें समस्त शासकीय सत्ता संविधान द्वारा केवल एक केन्द्रीय अंग अथवा सरकार में स्थानीय सरकारी अपनी शक्ति, तथा स्वयं अपना अस्तित्व ही केन्द्रीय सरकार से पाती है। सबके ऊपर केन्द्रीय सरकार ही समस्त सत्ता और शक्ति का स्रोत होती है और राज्य की केन्द्रीय सरकार तथा अधीनस्थ सरकारों के बीच शक्ति का कोई वैधानिक विभाजन अथवा वितरण नहीं होता। शासकीय सुविधा के उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार छोटे-छोटे स्थानीय जिलों, डिवीजनों अथवा प्रान्तों का निर्माण कर सकती है और उन्हें समय-समय जैसी वह चाहे शक्तियाँ भी दे सकती है। ये डिवीजन अथवा इकाइयाँ केन्द्रीय संगठन के नियन्त्रण की अधीनता में ही रहती हैं न कि संविधान की अधीनता में। इस प्रकार केन्द्रीयकरण एकात्मक सरकार की सर्वप्रमुख विशेषता होती है।"

दूसरी ओर, उसी लेखक के अनुसार, संघात्मक सरकार की विशेषता शक्ति का विकेन्द्रीकरण तथा विभाजन है। "संघ राज्य में शासकीय शक्ति स्वयं संविधान द्वारा केन्द्रीय सरकार तथा साधक इकाइयों में विभाजित एवं वितरित कर दी जाती है। साधक इकाइयां संघ की केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्मित नहीं होतीं, उनके स्वराज्य का क्षेत्र केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित नहीं किया जाता वरन् स्वयं संविधान द्वारा ही किया जाता है। साधक इकाइयां उन विषयों में पूर्ण प्रभुत्व रखती हैं जो उन्हें दे दिए जाते हैं और केन्द्रीय सरकार की इन विषयों में सर्वोच्च सत्ता रहती है जो विशेष रूप से उसको दे दिये जाते हैं। संघीय तथा संघटक इकाइयां दोनों ही के अपने-अपने कार्यों के करने के लिए अपने पृथक् तथा स्वतन्त्र संगठन होते हैं। इस प्रकार एक संग राज्य में दोहरी सरकार, दोहरी नागरिकता और दोहरी राज्यभक्ति रहती है।" संघ राज्य में केन्द्रीय सरकार तथा इकाइयों की सरकारों दोनों का स्रोत एक ही होता है अर्थात् स्वयं संविधान द्वारा एकात्मक सरकार में स्थानीय डिवीज़नें केन्द्रीय सरकार की रचनायें होती हैं और अपने अस्तित्व के लिए तथा शक्ति के लिए स्वयं सरकार पर ही निर्भर रहती हैं। संघ में ऐसे किसी सम्बन्ध का होना सम्भव नहीं है क्योंकि वह मूलतः कुछ राज्यों के आपस के समझौते पर आधारित होता है। फिर समझौते तथा शक्ति के वितरण पर आधारित होने के कारण संघ के लिए एक लिखित तथा कठोर संविधान स्वभावतः ही आवश्यक है। लेकिन यह बहुत सम्भव है कि केन्द्रीय सरकार तथा राज्यों की सरकारों के बीच संविधान की व्यवस्था के अर्थ के सम्बन्ध में झगड़ा उत्पन्न हो जाय। अस्तु एक संघीय अथवा सर्वोच्च न्यायालय की भी आवश्यकता होती है जो कि संविधान की व्याख्या के सम्बन्ध में अन्तिम अधिकृत निर्णय दे सके। इस प्रकार संघीय राज्य, डाइसी (Dicey) के शब्दों में, "एक राजनैतिक योजना है जिसका उद्देश्य स्वतन्त्र राज्यों के अधिकारों की रक्षा के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता और शक्ति प्राप्त करना है।"

(व) उनका अन्तर:—

एकात्मक तथा संघात्मक सरकारों की उपर्युक्त व्याख्याओं से उनके अन्तर स्पष्ट हो जाते हैं जिन्हें हम संक्षेप में निम्न प्रकार रख सकते हैं:—

(१) **शक्ति के विभाजन का अन्तर**—एकात्मक तथा संघात्मक सरकारों में सबसे प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि एकात्मक सरकार में समस्त शक्तियां केन्द्र में ही विद्यमान रहती हैं जबकि संघात्मक सरकार में वे केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों में विभाजित अथवा वितरित रहती हैं। दूसरे शब्दों में शक्तियों का केन्द्रीयकरण एकात्मक सरकार की प्रमुख विशेषता है जबकि संघात्मक सरकार की विशेषता शक्तियों का विकेन्द्रीकरण है।

२ – **स्थानीय सरकारों की स्थिति का अन्तर :** दूसरे, एकात्मक सरकार में स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सरकार की प्रतिनिधि होती हैं। उन्हें प्रभुत्व नहीं प्राप्त होता और उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व भी नहीं होता। उन्हें अपनी शक्तियां केन्द्र से मिलती हैं जिसको यह अधिकार होता है कि वह जब चाहे उन्हें वापिस भी ले ले। लेकिन संघात्मक सरकार में इकाइयों का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और वे अपने क्षेत्र में प्रभुत्व-सम्पन्न होती हैं।

३—**संविधान के स्वरूप का अन्तर :** एकात्मक सरकार में संविधान का लिखित अथवा कठोर होना आवश्यक नहीं होता जैसा कि संघात्मक सरकार में होता है। इसका कारण यह है कि एकात्मक सरकार में समस्त शक्तियां केन्द्र में केन्द्रित रहती हैं। उसमें स्थानीय सरकारें भी होती हैं, लेकिन उनको कोई स्वतन्त्र शक्तियां प्राप्त नहीं होतीं। जिन थोड़ी-बहुत शक्तियों का उपभोग वे करती हैं वे प्रदत्त (delegated) होती हैं और केन्द्रीय सरकार ही शर्वशक्तिमान रहती है। इसलिए केन्द्रीय सरकार और स्थानीय सरकारों के बीच अपने अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में कभी झगड़ा नहीं हो सकता। फलस्वरूप एकात्मक सरकार में एक लिखित और कठोर ंविधान की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन संघात्मक सरकार में एक लिखित ौर कठोर विधान परम आवश्यक है क्योंकि उसमें केन्द्रीय और स्थानीय

सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण अथवा विभाजन रहता है जिसके लिए ठीक तरह से लिपिबद्ध होना आवश्यक है।

४—न्यायालय की प्रधानता का अन्तर : संविधान की व्याख्या करने के लिए एक सर्वोच्च न्यायालय का होना संघात्मक सरकार की प्रमुख विशेषता है। संघ-सरकार में यह न्यायालय ही अन्तिम सत्ता होती है क्योंकि वह संविधान के संरक्षक का कार्य करता है। वह केन्द्रीय सरकार तथा एक या अधिक इकाईयों की सरकारों के बीच के झगड़ों का निर्णय करता है। वह व्यवस्थापिका द्वारा पास किए गए कानूनों को भी अवैध घोषित कर सकता है। एकात्मक सरकार में न्यायालय की इस प्रधानता के लिए कोई स्थान नहीं। उसमें केन्द्रीय सरकार स्वयं ही सब बातों में अन्तिम सत्ता होती है और सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी कोई प्रधानता नहीं दी जाती।

५—नागरिकों की स्थिति का अन्तर : अन्त में, यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि एकात्मक सरकार में नागरिकों को केवल एक ही नागरिकता—समस्त राज्य की नागरिकता-प्राप्त होती है परन्तु संघात्मक सरकार में यह नागरिकता दोहरी होती है क्योंकि एक ही व्यक्ति उस राज्य का भी नागरिक होता है जिसमें वह रहता है और संघ-राज्य का भी। दूसरे शब्दों में, संघात्मक सरकार में नागरिकता राष्ट्रीय तथा स्थानीय दोनों प्रकार की होती है जबकि एकात्मक सरकार में वह केवल राष्ट्रीय ही होती है।

(स) एकात्मक सरकार के गुण तथा दोष :—

अब हमें एकात्मक सरकार के गुणों तथा दोषों की विवेचना करना है। एकात्मक सरकार में निम्नलिखित गुणों का होना बताया गया है :—

नीति की एकरूपता पर निर्भर रहती है और ये चीजें ऐसी हैं जो संघात्मक सरकार में कठिनता से प्राप्त हो सकती हैं।

३—इसके अतिरिक्त एकात्मक सरकार के अन्तर्गत शासन अपेक्षाकृत सादा और इसलिए सस्ता होता है। इसका कारण यह है कि उसमें कहीं दोहरा संगठन नहीं होता जैसा कि हम संघ-सरकार में पाते हैं। इस प्रकार संघ राज्य में दो प्रकार के अफ़सर होते हैं—एक तो संघीय कानूनों को लागू करने के लिए और दूसरे स्थानीय कानूनों के लिए। इससे बहुत खर्चा होता है। एकात्मक सरकार में यह सब बचा लिया जाता है क्योंकि उसमें दोहरे अफसरों की कोई आवश्यता नहीं होती।

४—एकात्मक सरकार का अन्तिम गुण, जो किसी भी तरह कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है, यह है कि वह संघ-सरकार की अपेक्षा अधिक स्थिर होती है। चूंकि समस्त शक्तियां केन्द्र में स्थित रहती हैं इसलिए स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सरकार की उपेक्षा नहीं कर सकतीं। संघात्मक सरकार में संघटक इकाइयों को संघ से अलग हो जाने का अधिकार रहता है। इसका परिणाम यह हो सकता है कि एक-एक करके सभी राज्य अलग हो जायें और संघ का अस्तित्व ही समाप्त हो जाय। एकात्मक सरकार में ऐसा कोई भय नहीं रहता। अस्तु उसका स्थायित्व सुरक्षित रहता है।

एकात्मक सरकार के इन गुणों के विरुद्ध उसमें कुछ दोष भी हैं जो समस्त सत्ता के एक स्थान में केन्द्रीयकरण के परिणाम स्वरूप हैं। आलोचकों ने एकात्मक सरकार में निम्नलिखित दोषों का संकेत किया है :—

(१) प्रथम, आधुनिक राज्य इतने बड़े हैं कि एक ही केन्द्र से शासन का योग्यतापूर्वक चलाया जाना सम्भव नहीं है। केन्द्रीय सरकार इकाइयों से इतनी दूर होती है कि वह विभिन्न स्थानीय परिस्थितियों और आवयश्यकताओं से भली प्रकार परिचित नहीं मानी जा सकती। उसके पास न तो स्थानीय समस्याओं को समझने के लिए योग्यता ही होती है और न समय ही। यही नहीं, आधुनिक समय में राज्य का कार्यक्षेत्र इतना बढ़ गया है कि सरकार कार्य के भार से दब-सी गई है। फलस्वरूप कार्य होने तथा

नीतियों को लागू करने में बहुत देरी होती है। आधुनिक राज्यों के विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय शासन स्थानीय अधिकारियों द्वारा चलाया जाय जोकि स्थानीय परिस्थितियों से अधिक अच्छी तरह परिचित होते हैं। अगर यह किया जाय तो केन्द्रीय सरकार का भार भी बहुत हल्का हो जायगा और इससे शासन भी अच्छा हो जायगा। वास्तविकता यह है कि एकात्मक शासन केवल छोटे देशों के लिए ही उपयुक्त है जैसे इंग्लैंड तथा फ्रान्स लेकिन बड़े राज्यों, जैसे संयुक्तराज्य अमेरिका और भारत के लिए वह उपयोगी नहीं है।

(२) एकात्मक सरकार का अन्य दोष यह है कि स्थानीय जनता की मौलिकता को नष्ट कर देता है। जैसा कि गार्नर ने कहा है, वह जनता को स्थानीय मामलों में भाग लेने से हतोत्साहित करता है। परिणाम यह होता है कि स्थानीय शासन की शक्ति कमजोर हो जाती है और केन्द्रीय नौकरशाही की अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार एकात्मक सरकार नागरिक स्वतन्त्रता के विकास के लिए अनुपयुक्त है। अपने देश में ब्रिटिश शासनकाल में यह हम बिल्कुल प्रत्यक्ष रूप से देख चुके हैं।

१३—संघ सरकार

Q. 73. Describe the nature and characteristics of a Federal Union. what are the conditions that favour the formation of a Federal Union ?

(Punjab 1945, 40. Calcutta 1940, 37, 30, 35; Allahabad 1943; Bombay 1941; Agra 1941)

संघ-राज्य की प्रकृति और विशेषताओं का वर्णन कीजिए। संघ-राज्य के निर्माण के लिए कौन-सी परिस्थितियां उपयुक्त हैं ?

Ans.

(अ) संघ किसे कहते हैं ?

संघ के अंग्रेजी शब्द 'Federation' की उत्पत्ति लेटिन भाषा के 'Foedus' शब्द से हुई है जिसका अर्थ सन्धि अथवा समझौता होता है। अस्तु, वह एक समझौते द्वारा सरकार होती है। एक समझौते के लिए दो दलों का होना आवश्यक है। इसलिए संघ का निर्माण दो या उससे अधिक स्वतन्त्र राज्यों के समझौते द्वारा कुछ सामान्य विषयों के शासन के लिए जो कि राष्ट्रीय महत्त्व के होते हैं, किया जाता है। इस प्रकार संघ कुछ राज्यों का संयोग होता है जिसमें बहुत से राज्य अपने को कुछ राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों के शासन के लिए एकत्रित कर लेते हैं अथवा जिसमें बहुत से प्रान्तों अथवा राज्यों को उनकी एक सामान्य उच्च शक्ति द्वारा स्वायत्तशासन-प्राप्त इकाइयों में परिवर्तित कर दिया जाता है और जिनकी एक सामान्य केन्द्रीय सत्ता होती है जो राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों की देखभाल करती है।

लेकिन इस राज्य में राज्य का निर्माण कैसे किया जाता है ? यह प्रश्न भी ऐसा है जिसका समझाया जाना यहां आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है दो या दो से अधिक स्वतन्त्र राज्य आपस में कुछ सामान्य उद्देश्यों अथवा लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समझौता करके संघ बना लेते हैं। इस प्रकार वे एक में मिल जाते हैं। इसे संयोग का क्रम (process of integration) कहते हैं। लेकिन जब एक एकात्मक सरकार को संघ-सरकार में परिवर्तित किया जाता है तो यह क्रम ठीक विपरीत होता है। इस बार राज्यों को पहले भिन्न अथवा पृथक् किया जाता है और फिर एक सामान्य केन्द्र के अन्तर्गत उन्हें जोड़ दिया जाता है। अस्तु संघ-राज्य की स्थापना इन दो रीतियों द्वारा होती है—संगठन और विघटन (integration and disintegration) की प्रणालियों द्वारा।

(ब) संघात्मक सरकार के आवश्यक तत्त्व—

संघ प्रणाली का अध्ययन करने से उसके तीन तत्त्व मिलते हैं। ये तत्त्व निम्नलिखित हैं—

१—संविधान की सर्वोच्चता तथा उसका लिखित और कठोर स्वरूप—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि संघ-राज्य एक ओर तो अनेक संघटक राज्यों और दूसरी ओर नवनिर्मित संघीय सरकार के बीच का समझौता होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि समझौते की शर्तें एक संविधान के रूप में निश्चित तौर से लिपिबद्ध कर दी जावें और ये शर्तें स्थिर होनी चाहियें। संविधान सर्वोच्च होना चाहिए और उसका स्वरूप लिखित तथा कठोर होना चाहिए। प्रत्येक बात स्पष्ट रूप से लिख दी जानी चाहिए। कठोर स्वरूप से यह अर्थ है कि संविधान ऐसा होना चाहिए जो बिना विशेष संशोधक प्रणाली के आसानी से न परिवर्तित किया जा सके।

२—शक्ति का वितरण अथवा विभाजन—संघात्मक प्रणाली में संघीय सरकार और स्थानीय इकाइयों के बीच शक्ति का विभाजन अथवा वितरण उपलक्षित रहता है। शक्ति के वितरण अथवा विभाजन का सिद्धान्त

यह है कि वे शक्तियां, जो सबके सामान्य सम्बन्ध की होती हैं और जिनके लिए विनियमन और नियन्त्रण की एकरूपता आवश्यक अथवा वांछनीय होती है, केन्द्रीय सरकार को दे दी जाती हैं और शेष शक्तियां इकाइयों के लिए छोड़ दी जाती हैं। लेकिन चूंकि इस पर मतभेद रहता है कि कौन से विषयों के लिए विनियमन की एकरूपता आवश्यक है और कौन से स्थानीय नियन्त्रण के लिए छोड़ दिए जायें इसलिए विभिन्न संघीय संविधानों में यह विभाजन की लाइन भिन्न प्रकार से खींची गई है। लेकिन फिर भी ऐसे विषय जैसे परराष्ट्र मामले, रक्षा, मुद्रा और सिक्के, पोस्ट, टेलिग्राफ़ और कस्टम, पेटेन्ट तथा कॉपीराइट आदि हर जगह केन्द्रीय सरकार को ही दिए जाते हैं। अन्य शक्तियां जैसे कानून और सुव्यवस्था, जेलें, न्याय, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग आदि राज्यों की सरकारों के लिए छोड़ दी जाती हैं। कुछ संविधानों, जैसे संयुक्तराज्य अमेरिका और स्विटज़रलैंड आदिमें, केन्द्रीय सरकार को कुछ निश्चित शक्तियां दे दी जाती हैं और बाकी, जिन्हें अवशेष शक्तियां (Residuary Powers) कहते हैं, स्थानीय सरकारों के लिए छोड़ दी जाती हैं। कुछ अन्य संविधानों में, जैसे कनाडा में, इससे उल्टे क्रम का अनुसरण किया जाता है—राज्यों की सरकारों को कुछ निश्चित शक्तियां दे दी जातीं हैं और शेष शक्तियां केन्द्रीय सरकार को। भारत में सामान्य विषयों (Concurrent Subjects) की एक तीसरी सूची निर्मित की गई है। इन विषयों पर केन्द्रीय तथा स्थानीय दोनों सरकारें कानून बना सकती हैं लेकिन संघर्ष की स्थिति में केन्द्रीय कानून लागू होता है।

(३) न्यायपालिका की प्रधानता—जिस प्रकार फुटबॉल के खेल में इस बात का निर्णय करने के लिए कि कानूनों का ठीक पालन किया जा रहा है एक निर्णायक की आवश्यकता होती है उसी तरह संघ-राज्य में एक सर्वोच्च न्यायालय अत्यन्त आवश्यक है जो यह देखे कि संघ के समझौते के दल संविधान की शर्तों का पालन ठीक तरह करें। यह न्यायालय जो सामान्यतः संघीय न्यायालय कहलाता है संविधान के संरक्षक का कार्य करता है और

केन्द्रीय सरकार तथा राज्यों की सरकारों के बीच झगड़ों का निबटारा करता है।

इस प्रकार संघ के लिए कुछ स्वतन्त्र राज्यों का अस्तित्व होना चाहिए जिनके निवासी आपस में एकता कायम करने के इच्छुक हों लेकिन साथ-साथ अपना पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्व भी बनाए रखें।

(स) संघ के लिए आवश्यक परिस्थितियां—

लेकिन संघ का निर्माण जिस किसी प्रकार के राज्यों के समूह से नहीं किया जा सकता जिनमें आपस में कुछ सामान्य बातें न हों। प्रो० डाइसी (Prof. A. V. Dicey) के अनुसार संघ के निर्माण के लिए आवश्यक परिस्थितियां निम्नलिखित हैं:—

(१) अनेक राज्य—कम-से-कम दो राज्य होने चाहियें जो संघ का निर्माण करना चाहते हों। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है संघ (federation) शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Foedus' शब्द से हुई है जिसका अर्थ समझौता होता है। इसलिए उसके लिए कम-से-कम दो दल आवश्यक हैं।

(२) सब राज्यों को भौगोलिक रूप से समीप और एक आकार का होना चाहिए—यह अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि अमेरिका के एक राज्य के लिए यह होना असम्भव है कि वह भारत के किसी राज्य से सम्बन्ध रखे। दूसरे, उन्हें समान आकार का होना चाहिए क्योंकि यदि वे असमान होंगे तो झगड़े खड़े होने की सम्भावना रहेगी।

(३) भाषा, संस्कृति और जाति की एकता—उन्हें भाषा, इतिहास जाति आदि से इतना निकटतया सम्बद्ध होना चाहिए कि उनके निवासियों की आंखों में एक सामान्य राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न कर सकें।

(Union) की भावना तो आवश्यक है पर एकता (Unity) की भावना नहीं।

इन परिस्थितियों अथवा शर्तों की पूर्ति के बिना एक संघ का निर्माण नहीं किया जा सकता। इन परिस्थितियों की उपस्थिति में ही यह कथन ठीक कहा जा सकता है कि "संघ-राज्य में राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने के साथ राज्यों के स्वायत्त शासन का मेल कराने की अद्‌भुत राजनैतिक युक्ति है।" ("Federation is a wonderful political contrivance for reconciling state autonomy with the maintenance of national unity.")

Q. 74. Distinguish a federal union from (a) a unitarian state, (b) a confederation and (c) an alliance.

(Bombay 1936; Calcutta 1940, 36, 31; Patna 1925; Punjab 1946)

संघ-राज्य का (अ) एकात्मक राज्य, (ब) प्रसंघ और (स) सन्धि से अन्तर स्पष्ट कीजिए।

Ans.

(अ) संघ राज्य और एकात्मक राज्य—

एकात्मक राज्य वह होता है जो केवल एक केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत संगठित होता है और जिसके अंग अथवा भाग शासकीय इकाइयां कहलाते हैं और उन्हें अपनी सत्ता केन्द्रीय सरकार से मिलती है। एकात्मक राज्य की विशेषतायें निम्नलिखित हैं:—

(१) केन्द्रीय सरकार—सर्वोच्च सत्ता एक केन्द्रीय सरकार में स्थित रहती है। १६१६ के भारत सरकार कानून के अनुसार सर्वोच्च सत्ता भारत सरकार में स्थित थी। इंग्लैंड में यह सत्ता King-in-Council में रहती है।

(२) केन्द्रीय स्थान—समस्त सत्ता का प्रयोग एक ही केन्द्रीय स्थल

से किया जाता है जिसमें एक सर्वोच्च व्यवस्थापिका, एक कार्यकारिणी तथा एक न्यायपालिका होती है।

(३) इकाइयां—केन्द्रीय सरकार की निर्माण—देश विभिन्न शासकीय इकाइयों में विभाजित हो सकता है जैसे १६१६ के कानून के अनुसार भारत में प्रान्त। ये इकाइयां केन्द्रीय सरकार की रचनायें होती हैं और उनकी समस्त सत्ता उसी शक्ति से मिलती है।

(४) इकाइयों की शक्तियां प्रदत्त—चूंकि प्रशासकीय इकाइयों की शक्तियां न मौलिक होती हैं न प्रभुत्वसम्पन्न, वरन् प्रदत्त (delegated) और अधिकृत होती हैं, वे केन्द्रीय सत्ता के विवेक पर वापिस ली जा सकती हैं। इस प्रकार केन्द्रीय सत्ता सम्पूर्ण प्रदेश में सब मामलों में सर्वोच्च होती है। वह अधिकृत अंगों को इस प्रकार प्रदत्त शक्तियों को वापिस ले सकती है, उन्हें समाप्त कर सकती है अथवा यदि वांछनीय समझे तो उनके कार्यों का निषेध कर सकती है।

(५) एक विधायी अंग—एकात्मक सरकार में केवल एक विधायी अंग होता है जैसे इंग्लैंड में पार्लियामेंट।

दूसरी ओर यदि किसी देश का शासन संविधान के अनुसार केन्द्र और इकाइयों में बंटा हो और प्रत्येक अपने अधिकार-क्षेत्र में स्वतन्त्र हो तो वह सरकार संघात्मक कहलाती है। डा० गार्नर के शब्दों में संघ-सरकार की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं :

"...a system of control and local government combined under a common sovereignty, both the central and local organizations being within definite spheres, marked out for them by general constitution." (Garner)

अब हम संघ-सरकार और एकात्मक शासन का अन्तर निम्न प्रकार कर सकते हैं :—

(१) संघ सरकार दोहरी सरकार होती है, एकात्मक सरकार केन्द्रित

होती है।

(२) संघ सरकार के दो भाग होते हैं—केन्द्र और संघ के संघटक भाग। दोनों अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में स्वतन्त्र शक्तियों का उपभोग करते हैं। एक एकात्मक सरकार में प्रशासकीय इकाइयों को वही कुछ शक्तियां प्राप्त होती हैं जो केन्द्रित सत्ता मंजूर करती है। वे स्वतन्त्र इकाइयां नहीं होतीं, वरन् केन्द्रीय सरकार की प्रतिनिधि की तरह काम करती हैं।

(३) संघ-राज्य में केन्द्र तथा इकाइयों की शक्तियां मौलिक होती हैं। एकात्मक राज्य में इकाइयों की शक्तियां मौलिक नहीं वरन् प्राप्त होती हैं।

(४) संघ में शक्तियों की प्राप्ति संविधान द्वारा होती है और उन्हें वापिस नहीं लिया जा सकता है। लेकिन एकात्मक सरकार में इकाइयों की शक्तियों को केन्द्र की इच्छानुसार वापिस लिया जा सकता है।

(५) एकात्मक सरकार में एक ही व्यवस्थापिका सभा की सर्वोच्चता होती है। संघ-राज्य में संघीय व्यवस्थापिका केवल संघीय विषयों पर ही कानून बना सकती है। इकाइयों की अपनी पृथक् व्यवस्थापिकायें होती हैं और वे अपने को दिए गए विषयों पर बिना केन्द्र के हस्तक्षेप के कानून बनाने को स्वतन्त्र हैं।

(६) संविधान की सर्वोच्चता संघ का एक मुख्य तत्त्व है। एकात्मक सरकार में संविधान का सर्वोच्च होना आवश्यक नहीं। केन्द्र को यह अधिकार हो सकता है कि वह बिना इकाइयों से सलाह किए ही उसको सपरिवर्तित अथवा संशोधित कर दे।

(७) संघ में एक सर्वोच्च अथवा संघीय न्यायालय का अस्तित्व परम आवश्यक है। वह दो महत्त्वपूर्ण कार्य करता है—(१) वह केन्द्र तथा इकाइयों और एक इकाई तथा अन्य इकाइयों के झगड़ों का निर्णय करता है; (२) वह यह देखता रहता है कि न केन्द्र और न ही इकाइयां अपने निश्चित अधिकार-क्षेत्र के बाहर जायें। तदनुसार संघ-राज्य में न्यायपालिका संविधान की संरक्षक होती है। एकात्मक सरकार में ऐसी किसी सत्ता की आवश्यकता नहीं है। उसमें केन्द्र तथा इकाइयों और इकाइयों में आपस

मे झगड़ा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। न ही वहां संविधान की व्यवस्था का अतिक्रमण करने का प्रश्न उठता है।

८—संघ का संविधान आवश्यक रूप से लिखित होना चाहिए लेकिन एकात्मक राज्य का संविधान लिखित अथवा अलिखित कैसा भी हो सकता है। साथ ही संघ-राज्य का संविधान कठोर भी होता है किन्तु एकात्मक सरकार के लिए यह जरूरी नहीं।

(ब) संघ-राज्य तथा प्रसंघ (Confederation)

प्रसंघ मे भी संघ राज्य की तरह अनेक राज्य कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आपस मे मिल जाते हैं। प्रसंघ में भी एक केन्द्रीय सरकार होती है जिसके पास उन उद्देश्यों का शासन होता है जिन्होंने प्रसंघ का निर्माण किया।

लेकिन इन समानताओं के अतिरिक्त संघ राज्य तथा प्रसंघ में कुछ आधारभूत अन्तर भी है जिन्हें निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:—

(१) स्वतन्त्र राज्यों का संघटन—सर्व प्रथम, प्रसंघ स्वतन्त्र राज्यों का संघटन (League) होता है जो प्रसंघ की स्थापना के बाद भी अपना प्रभुत्व बनाए रखते हैं। दूसरे एक संघ-राज्य में संघ के निर्माण के उपरान्त इकाइयां अपना प्रभुत्व खो देती हैं और केवल कुछ विशेष विषयों के शासन के लिए ही स्वतन्त्र रहती हैं।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय राज्य—दूसरे, एक प्रसंघ के अन्तर्गत प्रत्येक इकाई एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखती है। वह विदेशों से सन्धियां और व्यापारिक समझौते करने को स्वतन्त्र होती है। लेकिन संघ के अन्तर्गत संघटक इकाइयां साथ उद्देश्यों के लिए एक बन जाती हैं। वे पृथक् सन्धियां नहीं कर सकतीं।

(३) इकाइयों के बीच युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध होता है—तीसरे, यदि एक प्रसंघ में दो इकाइयों के बीच युद्ध छिड़ जाता है तो वह गृह-युद्ध नहीं होगा वरन् अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध होगा। लेकिन संघ में ठीक इसके विपरीत होता है।

(४) अलग हो जाने का अधिकार—चौथे, जिस मसौदे द्वारा प्रसंघ का निर्माण होता है वह अधिक-से-अधिक एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय समझौता होता है जिससे कोई भी दल किसी भी समय सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है। इस प्रकार प्रसंघ में संघटक इकाइयों को प्रसंघ से अलग हो जाने का अधिकार प्राप्त होता है। लेकिन जिस समझौते द्वारा संघ की स्थापना की जाती है वह एक लिखित और कठोर समझौता होता है जो कि संघ को एक बार स्थापित हो जाने बाद अटूट बना देता है।

(५) सामान्य नागरिकता नहीं—अन्त में, प्रसंघ के अन्तर्गत कोई सामान्य नागरिकता नहीं होती। वह राज्यों का संघ होता है जनता का नहीं। एक प्रसंघ में जब केन्द्रीय सत्ता अपने अधिकृत केन्द्रीय विषयों का शासन करती है तो वह संघटक इकाइयों को केवल सम्बोधित-भर कर सकती है और वे स्वयं अपने क्षेत्र में उसे लागू करेंगे। लेकिन एक संघ-राज्य में सामान्य नागरिकता हो सकती है। देश की जनता प्रत्यक्षतः सामने आती है और फलस्वरूप वह केन्द्रीय नियन्त्रण और निर्देशनों के अधीन होती है।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट हो गया होगा कि एक प्रसंघ अधिक-से-अधिक एक ढीला अथवा शिथिल संयोग है जब कि संघ एक ठोस एकीकृत संगठन है। इसलिए प्रसंघ स्वभावतः ही संघ की अपेक्षा कमजोर और कम योग्य होता है।

(ख) संघ तथा सन्धि (Alliance)—

सन्धि एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता है। साधारणतः एक सन्धि में कोई स्थिर केन्द्रीय अंग नहीं होता जो सन्धि की शर्तों का शासन करे। संघ के लिए संघटक इकाइयों में भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और ऐसे ही अन्य सम्पर्क आवश्यक हैं। सन्धि के लिए यह आवश्यक नहीं। सन्धि की प्रेरणा दो या अधिक राज्यों के कुछ अल्पकालीन महत्त्व के हितों से ही मिल सकती है। लेकिन संघ के बनाने के लिए कुछ स्थायी महत्त्व के सामान्य हितों का होना आवश्यक है। सन्धि में प्रत्येक राज्य पूर्ण प्रभुत्व कायम रखता है, वह किसी भी समय सन्धि से सम्बन्ध समाप्त कर

सकता है। लेकिन संघ में इकाइयों को संघ से अलग होने का अधिकार नहीं होता।

Q. 75. Discuss the strength and weaknesses of federations.

(Bombay 1931; Punjab 1943)

संघ राज्यों के गुणों तथा कमजोरियों की विवेचना कीजिए।

Ans.

(अ) संघ राज्य के गुण :

संघात्मक सरकार में अन्य सरकारों की तरह गुण तथा दोष दोनों ही होते हैं। उसकी प्रशंसा एवं निन्दा समान रूप से हुई है। उसके मुख्य गुण निम्नलिखित हैं :—

१—राष्ट्रीय सत्ता और स्थानीय स्वतन्त्रता का समन्वय करने के लिए वह अद्भुत राजनैतिक युक्ति है :—यह छोटे राज्यों को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने और अधिक शक्तिशाली पड़ोसियों के हमलों से बचाने के लिए आपस में मिल जाने की सुविधा प्रदान करता है। इस प्रकार मिलकर वे कम से कम बलिदान से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रहने में समर्थ होते हैं। संघ राज्य में केवल सामान्यहित के विषय ही केन्द्रीय सत्ता को हस्तान्तरित किए जाते हैं। स्थानीय महत्त्व के विषयों में संघटक राज्यों को स्वतन्त्र कार्य करने के अधिकार रहते हैं। इस प्रकार संघ राज्य में स्वायत्त शासन और राष्ट्रीय एकता दोनों के लाभ मिले रहते हैं।

स्थान राजधानी में होता है। यह आशा नहीं कि जा सकती कि वे विभिन्न स्थानीय क्षेत्रों की दशाओं और परिस्थितिओं से भली प्रकार परिचित होंगे। स्थानीय विषयों में स्वतन्त्रता नागरिकों को उन मामलों में भाग लेने का अवसर प्रदान करती है जिनसे उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।

३—विभिन्न परिस्थितियों के विशाल राज्यों के लिए उपयुक्त : संघ सरकार विभिन्नताओं के देश के लिए अत्यन्त उपयुक्त है जैसे भारत, सोवियत रूस, और संयुक्त राज्य अमेरिका जिनमें स्थानीय दशाओं की विभिन्नतायें भिन्न प्रकार का उपचार चाहतीं हैं। वह कानून निर्माण की एकरूपता को सम्भव बनाती है जहां कि विभिन्न परिस्थितियों के कारण वह वांछनीय है। देश के भिन्न स्तरों वाले भागों को वह एक स्तर पर लाने में समर्थ होता है।

४—वह राजनीति के संसार में अपेक्षाकृत अधिक सम्मान प्राप्त कराता है :—कहने का तात्पर्य यह है कि आज संयुक्तराज्य अमेरिका संसार का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र समझा जाता है क्योंकि वह ४८ राज्यों की एकता का प्रतिनिधित्व करता है।

५—वह शासन का खर्च कम करता है :—इसका कारण यह है कि बहुत से विभाग संगटक इकाइयों के लिए काम करते हैं जैसे सेना आदि।

६—वह विश्व संघ की सीढ़ी है : संघ राज्य समस्त संसार के स्वतन्त्र राष्ट्रों के स्वतन्त्र संघ के विचार का, जो कि सभी प्रजातन्त्रवादियों का लक्ष्य है, प्राथमिक स्वरूप है।

(ब) संघ सरकार के दोष :

अब हमें संघ सरकार के दोषों पर भी विचार करना चाहिए। लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने संघ सरकार के दोषों की रूप रेखा निम्न प्रकार दी है :—

१—विदेशी नीति के सम्बन्ध में उसकी कमजोरी : इस प्रकार की सरकार युद्ध काल के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि युद्ध के समय तेज कार्यवाही की आवश्यकता होती है। लेकिन इस प्रकार की सरकार में निर्णय

बहुत देर में होते हैं क्योंकि उनमें राज्यों के प्रधानों से भी सलाह लेनी पड़ती है।

२—गृह शासन में कमजोरी :—इसका अर्थ है संघटक राज्यों तथा व्यक्तिगत नागरिकों पर कमज़ोर अधिकार।

३—नाशवान प्रकृति : वह राज्यों के अलग हो जाने अथवा विद्रोह कर देने से नष्ट किया जा सकता है।

४—टुकड़े हो जाने का समय : इसमें समूह अथवा दल बन जाने की सम्भावना रहती है। थोड़े-थोड़े राज्य आपस में मिलकर गुट बना सकते हैं।

५—एकरूपता की कमी :—कानून निर्माण तथा शासन दोनों ही क्षेत्रों में एक रूपता का अभाव पाया जाता है।

६—जटिलता के कारण झंझट, खर्चा और देरी : कानून निर्माण और शासन की दोहरी व्यवस्था के कारण सरकार की जटिलता बढ़ जाती है। खर्च भी बढ़ जाता है और कार्य में भी अनावश्यक देर लगती है। इसका कारण यह है कि संघ राज्य में दो सरकारें कार्य करती हैं—एक केन्द्र पर और दूसरी इकाइयों में।

लार्ड ब्राइस द्वारा बताए गए इन दोषों के अतिरिक्त हम देखते हैं कि संघ सरकार स्थानीय विभिन्नताओं को प्रोत्साहन देती है क्योंकि वह इकाइयों को जैसा चाहें वैसा करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करती है। वे दूसरे राज्यों का ध्यान न करके अपनी ही इकाइयों के लिए सब कुछ करते रहते हैं। अपने राज्यों में अपने ही प्रदेश के नागरिकों को श्रेष्ठता देते हैं। वह प्रान्तीयता अथवा स्थानीयता की भावना को प्रोत्साहन देती है।

खर्चीली होती है। फिर, संघ-राज्य में कानूनों और नीतियों की सामान्यता नहीं होती और इससे औसत नागरिकों के मस्तिष्क में उलझन पैदा होती है। केन्द्रीय और स्थानीय अंगों के बीच शक्ति का विभाजन होने से निरन्तर झगड़े होते रहते हैं जिनके निर्णय के लिए संघीय न्यायालय के पास जाना आवश्यक होता है।

(स) संघवाद का भविष्य

अन्त में हमें कुछ शब्द संघवाद (Federalism) के भविष्य के सम्बन्ध में भी जोड़ देने चाहियें। संघात्मक सरकार के दोषों के बावजूद भी संघीय सिद्धान्त समस्याओं के सुलझाने में महत्त्वपूर्ण योग देता है। स्थानीय स्वतन्त्रता अथवा स्वराज्य और राष्ट्रीय एकता का समन्वय करके वह भावी अन्तर्राज्य सम्बन्धों की ओर संकेत करता है। विज्ञान की उन्नति तथा सामान्य सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक हितों के विकास ने संसार के लोगों में एकता की भावना उत्पन्न कर दी है और सभी राष्ट्रों के विचारशील मनुष्य एक सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संघटन की आवश्यकता के प्रति सजग हो गए हैं जो कि विशुद्ध राष्ट्रीय हित-सम्बन्धी विषयों में अपने सदस्यों की स्वतन्त्रता का सम्मान करते हुए उन समस्याओं का शान्तिपूर्ण हल प्रस्तुत करे जिनका महत्त्व केवल मात्र राष्ट्रीय ही नहीं है। संसार की समस्याओं के हल के लिए संघात्मक सिद्धान्त का प्रयोग मनुष्यमात्र के भावी संगटन की सम्भाव्यताओं से भरा हुआ है।

Q. 76, Explain how powers are distributed in federations. Account for the general tendency to vest larger powers in the Centre.

संघ-राज्यों में शक्तियों का विभाजन कैसे किया जाता है इसको समझाइए और इसके कारण बताइए कि केन्द्र को अधिकाधिक शक्तियां देने की प्रवृत्ति क्यों बन गई है?

Ans.

"A Federal Constitution is essentially a

treaty in which the contracting parties reduce their Conditions of union to writing. A Federal constitution is in fact a chaiter of rights and duties of the Federal and State authorities. These must be kept in their proper proportion—the rights asserted and duties specified must not be beyond the laid Scheduled Charter."

(Herman Finer)

संघ समझौते द्वारा सरकार होती है। इस समझौते में समझौता करने वाले दल केन्द्र तथा संघटक इकाइयां होती हैं। इस लिए स्वभावतः ही यह आवश्यक हो जाता है कि संविधान लिखित हो। समझौते की शर्तें लिपिबद्ध कर दी जाती हैं और शक्ति का विभाजन दोनों दलों के लिए सन्तोषजनक कर दिया जाता है। शक्तियों का विभाजन संघीय सरकार का प्राथमिक और आधारभूत सिद्धान्त है। सरकार की शक्तियों और कार्यों का केन्द्रीय (संघीय) और स्थानीय (प्रान्तीय) सरकारों में यह विभाजन संविधान में इस तरह वर्णित कर दिया जाता है कि केन्द्र और इकाइयों को अपने निश्चित कार्यक्षेत्रों में प्रायः स्वतन्त्र बना देता है।

विभाजन का सिद्धान्त—

शक्तियों के वितरण अथवा विभाजन का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वे विषय, जो राष्ट्रीय अथवा सामान्य हितों के होते हैं, अथवा वे जिन के शासन के एक एकरूप कानून-निर्माण की आवश्यकता होती है, केन्द्रीय अथवा संघीय सरकार को दे दिए जाते हैं जबकि वे विषय, जो स्थानीय हितों के होते हैं और जिनके शासन तथा कानून निर्माण के लिए एकरूपता की आवश्यकता नहीं होती, संघ की संघटक इकाइयों को दे दिए जाते हैं। परराष्ट्र विषय, रक्षा, आवागमन, मुद्रा, आयकर आदि कुछ महत्त्वपूर्ण विषय हैं जो केन्द्र के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं क्योंकि वे राष्ट्रीय महत्व के होते हैं और उनके लिए समस्त राष्ट्र-भर के लिए समान कानूनों की आवश्यकता

होती है। शिक्षा, स्थानीय स्वायत्तशासन, लोक-स्वास्थ्य आदि साधारणतः इकाइयों को दिए जाते हैं क्योंकि इन विषयों पर कानून-निर्माण की विभिन्नता अत्यन्त गड़बड़ और शासकीय कठिनाई उत्पन्न कर देगी।

शक्तियों के विभाजन करने के दो तरीके हैं—(१) केन्द्र की शक्तियों को निश्चित कर देना और अवशेष शक्तियों को इकाइयों के लिए छोड़ देना; (२) संघटक इकाइयों की सूची में शक्तियों को निर्धारित कर देना और शेष शक्तियों को केन्द्र के लिए छोड़ देना। इन दो तरीकों में एक तीसरा तरीका और भी जोड़ दिया गया है जिसमें तीन सूचियां होती हैं—(१) केन्द्रीय सूची; (२) संघटक इकाइयों की सूची; और (३) समानवर्ती (Concurrent) सूची। समानुवर्ती सूची के विषयों पर केन्द्र तथा स्थानीय सरकारें दोनों ही कानून बना सकते हैं, लेकिन विरोध की स्थिति में केन्द्र के बनाए गए कानून को प्रधानता मिलेगी। इन तीन तरीकों के उदाहरण क्रमशः संयुक्त-राज्य अमेरिका, कनाडा और भारत हैं।

केन्द्रीय सरकार की बढ़ती हुई शक्ति—

आजकल की प्रवृत्ति संघीय सरकार की शक्तियों को बढ़ाने की है न कि संघटक इकाइयों की। उदाहरणतः कनाडा और भारत दो केन्द्रीयकृत संघ-राज्य हैं। ऐसे संघों में केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बना दिया जाता है—उसे शेष शक्तियां देकर, समानुवर्ती विषयों में प्रधानता देकर तथा अनेकों अन्य प्रकार से। संयुक्त राज्य अमेरिका के संघ में भी केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

इसके कारण हैं। एक देश में संघ-राज्य के निर्माण के पूर्व जो केन्द्र के विरुद्ध जाने वाली (Centrifugal) शक्तियाँ होती हैं कालान्तर में एकता की भावना और संघ सरकार से मेल की भावना का अनुभव करने लगती हैं। प्रारम्भ में संघटक इकाइयां अपनी स्वतन्त्रता के लिए उत्सुक रहती हैं और अपने अधिकार से शक्तियों को छोड़ना नहीं चाहतीं। यह भावना धीरे-धीरे ठंडी पड़ जाती है और बाद में स्थानीय इकाइयाँ केन्द्रीय सरकार से समझौता कर लेती हैं। इसलिए केन्द्र को, यदि वह अधिक

शक्तियां प्राप्त करता है, इकाइयों के विरोध का सामना नहीं करना पड़ेगा क्योंकि उनका स्वतन्त्र रहने का जोश तो पहले ही ठंडा हो चुका था और अब वे जनता के सामान्य हितों के प्रति भी जागरूक हो चली हैं।

दूसरे, वर्तमान समय के समाज की आर्थिक जटिलतायें भी एक दृढ़तर केन्द्र के विकास में सहायक हुई हैं। संघ की स्थानीय इकाइयों ने यह महसूस करना प्रारम्भ कर दिया है कि आर्थिक समृद्धि केवल आर्थिक एकता द्वारा ही आ सकती है और आर्थिक एकता के लिए एक शक्तिशाली केन्द्र की आवश्यकता है जो राज्य-भर में आर्थिक समता (equilibrium) बनाए रखने में समर्थ हो।

तीसरे, युद्ध और अतिक्रमण के भय ने भी संघ-राज्यों की सुदृढ़ता सहायता दी है। समय की आवश्यकताओं का अनुभव करके संघटक इकाइयां केन्द्र को अधिकाधिक शक्तियां देने को राज़ी हो गई हैं ताकि संकट-कालों में वह आक्रमणकारी अथवा संकट से अच्छी तरह मुकाबला कर सके।

१४—संविधान

Q. 77. Define Constitution and examine the statement that the distinction between written and unwritten Constitution is really one of degree rather than kind.

(Calcutta 1936; Dacca 1935; Bombay 1936; Punjab 1936; Agra 1943)

संविधान की व्याख्या कीजिए और इस कथन की परीक्षा कीजिए कि लिखित और अलिखित संविधान का अन्तर वास्तव में मात्रा का है, प्रकार का नहीं।

Ans.

(अ) संविधान का अर्थ—

मनुष्य की प्रकृति उसके लिये अपने साथी मनुष्यों के साथ सहयोग करना आवश्यक कर देती है। इसलिए प्रत्येक संगठित राजनैतिक संस्था के कुछ आधारभूत सिद्धान्त अवश्य होने चाहियें जिन पर राज्य का संगठन आधारित हो सके। बिना किसी प्रकार के संविधान के राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती जिस प्रकार बिना नींव के कोई इमारत नहीं खड़ी हो सकती।

राज्य के संविधान से हमारा तात्पर्य कुछ नियमों से है—लिखित अथवा अलिखित—जो निम्न बातों का निर्धारण करते हैं :—

१—राज्य का संगठन

२—राज्य के विभिन्न अंगों में, जिनके द्वारा राज्य अपनी अभिव्यक्ति करता है, शक्तियों का वितरण अथवा विभाजन।

३—शासकों तथा शासितों का सम्बन्ध।

वूल्जे के अनुसार संविधान "उन सिद्धान्तों का संकलन है जिनके द्वारा सरकार की शक्तियों और शासितों के अधिकार और उन दोनों के सम्बन्धों की व्यवस्था होती है।" ("...the collection of the principles according to which the powers of the Government and the rights of the governed and the relations between the two are adjusted."—Woolsey) प्रो० डाइसी (Dicey) ने कहा कि संविधान उन सब नियमों की उत्पत्ति है जो प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः राज्यों में प्रभुत्व-शक्तियों का विभाजन अथवा प्रयोग कराते हैं। न्यायाधीश कूले ने संविधान की व्याख्या इस प्रकार की है: "राज्य का आधारभूत कानून जिस में वे सिद्धान्त हैं जिन पर सरकार आधारित है तथा जो प्रभुत्वशक्तियों के विभाजन का विनियमन करते हैं और इस बात का निर्देशन करते हैं कि इन शक्तियों का प्रयोग किन व्यक्तियों द्वारा किया जायगा।" ("....the fundamental law of the state containing the principles upon which Government is founded, regulating the division of sovereign powers and directing through what persons each of these powers is to be exercised".—Cooley)

(ब) संविधानों का वर्गीकरण—

प्रत्येक राज्य का आवश्यक रूप से अपना एक संविधान होना चाहिए। लेकिन कुछ राज्यों में तो संविधान स्पष्ट और निश्चित होता है जब कि अन्य में वह अनिश्चित होता है। अठारहवीं सदी के अन्त तक संविधानों का स्वरूप अनिश्चित, असम्बद्ध और ऐतिहासिक प्रकृति का हुआ करता था और वे सभी अलिखित थे। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान ने एक नये युग का श्रीगणेश किया, लिखित संविधानों के युग का।

(१) अलिखित संविधान—अलिखित संविधान वह होता है जिसमें यदि सब नहीं तो अधिकांश आधारभूत कानून कभी लिपिबद्ध नहीं

किए जाते। वह किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह का एक निश्चित समय पर सरकार के संगठन के स्थूल सिद्धान्तों को लिपिबद्ध करने के प्रयत्न का परिणाम नहीं होता। वह एक क्रमिक ऐतिहासिक विकास की उत्पत्ति होता है और सर जेम्स (Sir James Mc Intosh) के इस कथन का चित्रण है कि संविधान बनाए नहीं जाते वरन् विकसित होते हैं। चूंकि ये कालान्तर में विकसित होते हैं इसलिए अलिखित संविधानों में अधिकतर रीतियाँ (customs), प्रथायें (traditoin), रूढ़ियाँ (conventions), और न्यायिक निर्णय (judicial decisions) ही होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ थोड़े से बनाये गए कानून भी होते हैं जो भिन्न-भिन्न समयों के होते हैं। इस प्रकार के संविधानों के लिए 'विकसित' (Evolved) शब्द उसके अलिखित नाम की अपेक्षा अधिक उपयुक्त नहीं है। इस समय ग्रेट ब्रिटेन ही एक ऐसा देश है जिसका संविधान विकसित अथवा अलिखित है।

(२) **लिखित संविधान**—दूसरी ओर लिखित संविधान वह होता है जिसमें अधिकांश आधारभूत नियम एक अथवा अनेक प्रलेखों में लिपिबद्ध रहते हैं। यह सदा ही सरकार के संगठन के स्थूल सिद्धान्तों के ढंग से लिपिबद्ध कर देने के प्रयत्न का परिणाम होता है। वह या तो संविधान सभा द्वारा निर्मित किया जा सकता है, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत में अथवा एक देश की व्यवस्थापिका द्वारा दूसरे देश के लिए निर्मित किया जा सकता है जिस पर उसका प्रभुत्त्व होता है। १९३५ का भारत सरकार कानून एक ऐसा ही लिखित मसौदा है जिसे भारत के शासन के लिए इंग्लैंड की पार्लियामैन्ट ने जारी किया था। ऐसा संविधान एक राजा द्वारा भी प्रदान किया जा सकता है जो अपने लिए तथा अपने उत्तराधिकारियों के लिए वैधानिक रीति से शासन करने की शपथ ले। संघ-सरकार की यह एक पूर्व आवश्यकता थी कि उसका संविधान आवश्यक रूप से लिखित होना चाहिए। लिखित संविधान के मुख्य उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रान्स, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका संघ और भारत हैं।

(ख) इनका अन्तर वास्तविक नहीं—

एक निर्मित अथवा लिखित संविधान और विकसित अथवा अलिखित संविधान का अंतर किसी वैज्ञानिक महत्त्व का नहीं है। कोई भी संविधान ऐसा नहीं है जो पूर्णतः लिखित अथवा पूर्णतः अलिखित हो। प्रत्येक संविधान में लिखित और अलिखित तत्व पाये जाते हैं। इंग्लेंड में भी, जोकि अलिखित संविधान का महत्त्वपूर्ण उदाहरण माना जाता है, बहुत से लिखित कानून हैं। १२१५का चार्टर एक्ट, १८२८ का अधिकार पत्र, १६८८ का अधिकार बिल, आदि लिखित मसौदे हैं या जैसे १९३६ का सोवियत संविधान। इसी प्रकार समय की आवश्यकतायें कभी-कभी व्यवस्थापिका को ऐसे कानून बनाने पर विवश करती हैं जो देश के वैधानिक अभ्यासों में परिवर्तन करते हैं। इसके प्रमाण स्वरूप विभिन्न सुधार-कानून रखे जा सकते हैं। सच यह है कि जो पहले रीतियां और प्रथायें थीं वे अब लिपिबद्ध कर दी गई हैं और यह प्रवृत्ति समय की गति के साथ बढ़ती जा रही है।

संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान लिखित संविधान का आदर्श कहा जाता है लेकिन वहां का शासन-कार्य भी बहुत से ऐसे नियमों और सिद्धान्तों पर चलता है जिनका संविधान की धाराओं में कहीं नाम तक नहीं है। वास्तव में सभी लिखित संविधानों में, जो कुछ समय से चले आ रहे हैं, कुछ अलिखित तत्व प्रवेश पा गए हैं। ये तत्त्व-रीतियां, प्रथायें और न्यायिक व्याख्यायें हैं। यह कहा जाता है कि लिखित संविधान व्याख्या करने से विकसित, निर्णयों से सज्जित और रीतियों से विस्तृत हो जाते हैं और फल यह होता है कि कुछ समय बाद संविधान का लेख उसके पूर्ण प्रभाव को नहीं बताता।

अमेरिका की अनेक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक संस्थायें, जैसे राजनैतिक दल और मन्त्रिपरिषद् (Cabinet), ऐसी हैं जिनका कोई वैधानिक आधार नहीं। राष्ट्रपति तीसरी बार चुनाव के लिए खड़ा न हो यह नियम एक रीति का परिणाम था जो कि १९४० तक माना गया। राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के तीसरी तथा चौथी बार पुनः निर्वाचन ने पुरानी प्रथा को तोड़कर एक नई

रीति चला दी है। इसी प्रकार संविधान में राष्ट्रपति के निर्वाचन की कल्पना अप्रत्यक्ष विधि से की गई थी परन्तु व्यवहार में प्रत्यक्ष बन गई है। फिर इसी तरह राज्य के अफ़सरों को पदच्युत करने की शक्ति सर्वोच्च न्यायालय द्वारा राष्ट्रपति को दे दी गई है। न्यायिक व्याख्याओं ने ही केन्द्रीय सरकार की शक्तियों को भी—आवागमन तथा संवाहन के साधनों के सम्बन्ध में—बढ़ा दिया है।

फ्रान्स में एक अन्य प्रकार का लिखित संविधान है। लेकिन वहां भी राष्ट्रपति की शक्तियों का प्रयोग में न लाया जाना, Chamber of Deputies का विलयन, मन्त्रियों का दोनों सदनों के प्रति उत्तरदायित्व आदि बातें ऐसी हैं जो रीतियों के परिणामस्वरूप हैं, संविधान की व्यवस्था की नहीं।

वास्तव में लिखित और अलिखित संविधान का अन्तर भ्रामक है क्योंकि उनका अन्तर प्रकार का नहीं वरन् मात्रा का है।

Q, 78. Distinguish between the rigid and the flexible Constitution and give the merits and demerits of each.

(Allahabad 1941; Nagpur 1934; Dacca 1935; Punjab 1949, 48)

कठोर और लचीले विधान का अन्तर स्पष्ट कीजिए और प्रत्येक के गुण तथा दोष बताइए।

Ans.

(अ) लचीले और कठोर संविधानों का अर्थ—

लिखित और अलिखित संविधानों के अन्तर को जब भ्रामक ठहरा दिया गया तो लार्ड ब्राइस ने संविधानों को लचीले और कठोर में विभाजित किया। इस वर्गीकरण का आधार उनके संशोधन की विधि है। यदि संविधान के संशोधन की विधि वैसी ही है जैसी कि साधारण कानूनों के पास करने की तो वह संविधान लचीला कहा जाता है।

(१) लचीला संविधान—दूसरे शब्दों में, यदि संविधान का निर्माण, संशोधन और परिवर्तन वही सभा कर सके जो कि कानून बनाती, उनमें संशोधन करती तथा उन्हें समाप्त कर देती है तो वह संविधान लचीला कहा जाता है। कहने का अर्थ यह है कि वैधानिक कानून (Constitutional Law) और साधारण कानून एक ही समान होते हैं और एक ही स्रोत से तथा एक ही विधि द्वारा निकलते हैं। ऐसे संविधान में संविधान-निर्मात्री-सत्ता और साधारण कानून बनाने वाली सत्ता में कोई अन्तर नहीं होता। ब्रिटिश संविधान इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। पार्लियामैन्ट की सत्ता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है और वह वैधानिक तथा साधारण दोनों प्रकार के कानून बना सकती है।

(२) कठोर संविधान—यदि वैधानिक कानून और साधारण कानून के बीच निश्चित अन्तर होता है और दोनों भिन्न स्रोतों से निकलते हैं और उनके संशोधन के लिए भिन्न प्रणालियों की आवश्यकता होती है तो ऐसा संविधान कठोर, स्थिर अथवा अनानम्य कहा जाता है। ऐसे राज्य में देश की व्यवस्थापिका को, ब्रिटिश पार्लियामैन्ट की भांति, असीमित शक्तियां नहीं प्राप्त होतीं। उनकी शक्तियां स्वयं संविधान द्वारा सीमित रहती हैं। वह संविधान की किसी भी व्यवस्था को संशोधित अथवा भंग नहीं कर सकती। संविधान में परिवर्तन करने के लिए एक विशेष प्रणाली को अपनाना पड़ता है। न ऐसे देश की व्यवस्थापिका कोई ऐसा कानून ही बना सकती है जो संविधान की धाराओं के प्रतिकूल हो।

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रांस के उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। अमेरिका में समस्त संघीय कानून कांग्रेस (Congress) बनाती है। परन्तु वह कोई भी वैधानिक कानून नहीं बना सकती, न उसमें संशोधन कर सकती है न उसे तोड़ सकती है और न ही वह कोई ऐसा कानून बना सकती है जो संविधान की भावना के प्रतिकूल हो। यदि वह ऐसा करती है तो कांग्रेस का कानून अवैधानिक ठहराया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में संशोधन की दो विधियां दी हुई हैं।

एक यह है कि प्रत्येक संवैधानिक कानून पहले कांग्रेस के दो तिहाई बहुमत द्वारा पास होना चाहिए और फिर तीन चौथाई राज्यों द्वारा उसका सम्मोदन (ratification) होना चाहिए। फ्रांस में किसी भी वैधानिक संशोधन को पहले तो प्रथम सदन और द्वितीय सदन दोनों में अलग-अलग पास हो जाना चाहिए और फिर दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में।

(ब) कठोर और लचीले विधान की तुलना—

१—यदि किसी देश का संविधान उसी साधारण तरीके से संशोधित किया जा सकता है जो साधारण कानूनों के पास होने के लिए आवश्यक है तो वह लचीला कहा जाता है। यदि इस काम के लिए एक विशेष प्रणाली को काम में लाना पड़ता है तो वह कठोर कहा जाता है।

२—लचीले संविधान वाले देश की व्यवस्थापिका की सत्ता असीमित होती है जब कि कठोर संविधान वाले देशों में वह सीमित होती है।

३—कठोर संविधान सदा लिखित होता है लेकिन लचीले संविधान के लिए ऐसा होना आवश्यक नहीं।

४—कठोर संविधान में साधारण कानून और वैधानिक कानून में सदा अन्तर माना जाता है। लचीले संविधान में ऐसे अन्तर का अस्तित्व नहीं होता।

(स) कठोर संविधान के गुण दोष—

कठोर संविधान में निम्नलिखित गुण होते हैं—

(१) स्पष्टता—कठोर संविधान आवश्यक रूप से लिखित होता है। वह विचारपूर्ण वादविवाद, तर्क और सावधानी का फल होता है। इसलिए उसमें स्पष्टता और स्थिरता का गुण होता है।

(२) अधिकारों का उत्तम रक्षक—लिखित संविधान होने के कारण वह व्यक्ति के अधिकारों की पर्याप्त रूप से गारंटी एवं सुरक्षा करता है और उनके अतिक्रमण की सम्भावना बहुत कम हो जाती है।

(३) निश्चितता—उसमें निश्चितता का गुण होता है और जब कभी कोई शक हो तो उसकी धाराओं को पढ़कर उसे दूर किया जा सकता है।

४—स्थायित्व—संशोधन की प्रणाली कठिन होने के कारण उस पर क्षणिक जन-आवेगों के असर होने की कम सम्भावना रहती है। इसलिए वह अधिक समय तक स्थायी बना रहता है।

५—अनुदार—वह अनुदार होता है इस अर्थ में कि साधारण कानून निर्माण के लिए जनता सदा संविधान की ओर देखती है और इसलिए वह समय की चपलता के साथ घुमाया-फिराया अथवा मोड़ा नहीं जा सकता।

उपर्युक्त गुणों के साथ कठोर संविधान में कुछ दोष भी होते हैं जो कि निम्न प्रकार हैं:—

१—आवश्यक संशोधनों में देर लगती है—वैधानिक संशोधन की प्रणाली की कठिनाई के कारण कभी अनावश्यक देर हो जाती है जो राष्ट्रीय हित के लिए घातक हो सकती है। उदाहरणतः संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में समय की कोई सीमा नहीं है कि कब तक तीन चौथाई राज्य कांग्रेस के दो तिहाई बहुमत से पास किए गए संशोधन को स्वीकृति दे दें। इसके अतिरिक्त ४८ राज्यों में से १३ छोटे राज्य मिलकर किसी भी संशोधन को हरा सकते हैं चाहे वह कितना भी आवश्यक क्यों न हो।

२—क्रान्तियों का भय—कठोर संविधान में क्रान्तियों का सदा भय बना रहता है क्योंकि उसमें समयानुकूलता नहीं होती। लार्ड मैकाले के अनुसार सारी क्रान्तियों का कारण यही होता है कि जब राष्ट्र आगे को बढ़ते हैं तो संविधान एक ही स्थान पर स्थिर रहता है। अच्छा संविधान वही होता है जो समय की बदलती हुई आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के अनुरूप बना रहता है।

३—सब समयों के लिए उपयुक्त नहीं—चूंकि कठोर संविधान एक विशेष समय पर बनाया गया होता है इसलिए वह भावी उन्नति की सम्भावनाओं की पूर्व-कल्पना नहीं कर सकता। उसके निर्माताओं का दृष्टिकोण कितना भी दूरदर्शी क्यों न हो सीमित ही रहेगा। अधिकतर लिखित संविधान राज्य की वृद्धि को बिना ध्यान में रखे बनाए गए हैं।

Agra 1943, 39; Allahabad 1941; Calcutta 1943, 41, 32; Punjab 1951, 49, 46, 40, 38, 36; Nagpur 1943; Patna 1944; Bombay 1941, 38, 35)

मान्टेस्क्यू के शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।

Ans.

संसार में प्रत्येक सरकार के तीन मुख्य अंग होते हैं—व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी और न्यायपालिका। व्यवस्थापिका का कार्य कानून बनाना, कार्यकारिणी का उन्हें लागू करना और न्यायपालिका का उनका शासन करना है। सरकार के इन तीनों अंगों के बीच कैसा सम्बन्ध होना चाहिए यह राजनीतिक विचारकों के लिए एक सिरदर्द की समस्या रही है। इस विषय पर लिखने वाला आधुनिक लेखक मान्टेस्क्यू (Montesqieu) था जिसने इसका शास्त्रीय प्रतिपादन अपनी रचना "Spirit of Laws" में किया जो १७४८ में प्रकाशित हुई।

मान्टेस्क्यू का पूर्वपक्ष (thesis) यह था कि कार्यवाहक, व्यवस्थापक और न्यायिक कार्यों का एक ही अंग में केन्द्रित कर देने का परिणाम सत्ता का दुरुपयोग होता है। अस्तु, यह निर्दयता है। संक्षेप में यह सिद्धान्त, उसके रचयिता के अनुसार, यह है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह अत्यन्त वांछनीय है कि कार्यवाहक, व्यवस्थापक और न्याय-सम्बन्धी कार्य विभिन्न व्यक्ति-समूहों द्वारा किये जायें। प्रत्येक विभाग का कार्य अपने ही क्षेत्र तक सीमित होना चाहिए और किसी भी विभाग की दूसरे विभाग पर नियन्त्रणकारी शक्ति नहीं होनी चाहिए। अगर व्यवस्थापक और कार्यवाहक कार्य एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को दे दिये जायेंगे तो कोई स्वतन्त्रता नहीं रह सकती क्योंकि इस प्रकार बनाया गया कानून अत्यन्त स्वेच्छाचारी होगा जो कि कार्यकारिणी की चपलता के लिए सन्तोषजनक होगा न कि जनता की इच्छा और कल्याण के अनुकूल। इसी तरह तब भी कोई

स्वतन्त्रता नहीं होगी जब न्यायिक शक्ति व्यवस्थापिका अथवा कार्यकारिणी से पृथक् न की जाय। यदि उसे व्यवस्थापक शक्ति के साथ जोड़ दिया जायगा तो नागरिकों का जीवन और स्वतन्त्रता स्वेच्छाचारी नियन्त्रण के नीचे आ जायेंगे क्योंकि उस अवस्था में न्यायाधीश कानून निर्माता भी होगा। यदि वह कार्यवाहक शक्तियों के साथ जोड़ दी जायगी तो न्यायाधीश को एक सताने वाले का बल मिल जायगा।

इसी तरह अंग्रेज लेखक ब्लैकस्टन (Blackstone) ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी पुस्तक "Commentaries on the Law of England" में किया। उसने कहा कि जब कानून बनाने और उन्हें लागू करने के अधिकार एक में मिला दिए जाते हैं तो जनता को कोई स्वतन्त्रता नहीं रहती।

मान्टेस्क्यू का यह विचार फ्रांस की क्रान्ति के राजनैतिक दर्शन का अंग बन गया और इस सिद्धान्त की शिक्षा का पूरा-पूरा फायदा फ्रान्स के उन संविधानों में उठाया गया जो अठारहवीं सदी के अन्त के पूर्व बनाये गए। संयुक्तराज्य अमेरिका में जब राष्ट्रीय संविधान बनाया जा रहा था तो ब्लैकस्टन और मान्टेस्क्यू का प्रभाव बहुत अधिक था। शक्ति के पृथक्करण से सम्बन्धित उनके सिद्धान्त राजनैतिक धर्म के अंग अथवा भाग बन गए। वास्तव में सांसदीय सरकार के विपरीत अध्यक्षात्मक सरकार की उस देश में स्थापना उन शिक्षाओं का प्रत्यक्ष फल था।

शक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त की कमजोरियाँ—

यह दुर्भाग्य की बात है कि इस सिद्धान्त को शक्ति के पृथक्करण का नाम दिया जाय। यदि सरकार, जो कि राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति का साधन है, की विशेषता आज्ञा और बल है तो वह अपने वास्तविक उद्देश्य को पूर्ण नहीं करती। प्रत्येक सरकार का यह कर्तव्य है कि वह जनता के कल्याण का प्रयत्न करे। उसे कुछ कार्य करने होते हैं और कुछ कर्तव्यों का पालन करना होता है। ऐसी सरकार सेवा-सरकार होती है जो कि सदैव जनता के पीछे और आवाज पर रहती है। इसलिए यह राजनैतिक बुद्धि-

मता होगी कि इस सिद्धान्त को 'कार्यों के पृथक्करण' (separation of functions) का नाम दिया जाय न कि 'शक्तियों के पृथक्करण' (separation of powers) का।

(१) सांसदीय सरकार में पृथक्करण नहीं होता—मांटेस्क्यू और ब्लैकस्टन द्वारा बताया गया सिद्धान्त सीधा जमीन पर गिरता है। मान्टेस्क्यू ने अपना संकेत इंग्लैण्ड के संविधान से लिया और ब्लैकस्टन उत्तरदायी सरकार के वातावरण में पला था। एक उत्तरदायी अथवा सांसदीय सरकार में कार्यवाहक और व्यवस्थापक कार्य मिले रहते हैं। मन्त्रिमण्डल वह 'साधन' (hyphen) है जो कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका को मिलाता है। कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता। इंग्लैण्ड अभी भी ऐसा देश है जहाँ जनता को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता मिली हुई है।

(२) अप्रयोगात्मक—यह सिद्धान्त, जैसा कि उसके रचीयताओं ने वर्णित किया है, अप्रयोगात्मक अथवा अव्यावहारिक है। सरकार एक पूर्णता है यद्यपि वह तीन भिन्न विभागों में कार्य-कुशलता के कारण बँटी हुई है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम विभाजन द्वारा सरकार को तीन सर्वथा पृथक् अंगों में बाँट दें। एक विभाग के कार्यकरण की अन्य विभागों पर प्रतिक्रिया होती ही है।

(३) सरकार एक जीवधारी एकता है—राज्य एक 'जीवधारी एकता' (organic unity) है और जिस तरह एक जीवित शरीर के विभिन्न अंग एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं उसी तरह राज्य की मशीन के विभिन्न अंग भी एक-दूसरे से जुड़े अथवा अन्ततः सम्बन्धित हैं। व्यवहार में प्रत्येक विभाग को कुछ ऐसे कार्य करने होते हैं जो वास्तव में उसके नहीं होते। उदाहरणतः कार्यकारिणी का यह कार्य है कि वह अध्यादेश तथा घोषणाएं जारी करे जो कि वास्तव में व्यवस्थापक हैं। इसी तरह न्यायपालिका व्याख्या द्वारा कानून को खींचकर बड़ा कर देती है। न्याया-धीशों के निर्णय और उनकी नवीन खोजें भी कानून के महत्त्वपूर्ण अंग

होते हैं। इसी प्रकार व्यवस्थापिका, साधारणतः उच्च सदन, जैसे इंग्लैण्ड की लार्ड सभा और संयुक्तराज्य अमेरिका की सिनेट, कुछ न्यायिक कार्य करती है। व्यवस्थापिका कुछ अन्य काम भी करती है जो कानून बनाने के नहीं हैं जैसे निर्वाचन-सम्बन्धी, न्याय-सम्बन्धी और शासन-सम्बन्धी।

(४) स्वतन्त्रता पृथक्करण पर निर्भर नहीं—स्वतन्त्रता मूलतः जनता की भावना, उनके कानूनों और संस्थाओं पर निर्भर रहती है न कि संस्थाओं की अपनी यन्त्र-प्रणाली (mechanism) पर। इंग्लैण्ड में स्वतन्त्रता की प्राप्ति Rule of law द्वारा होती है और अमेरिका ने अपने पहले देश से बहुत से कानूनी सिद्धान्त ले लिए हैं।

(५) पूर्ण स्वतन्त्रता अवांछनीय—सरकार के विभागों की पूर्ण स्वतन्त्रता वांछनीय नहीं है क्योंकि उससे "compartmentalisation" की वृद्धि होती है और अन्त में परिणामस्वरूप दुखदायी गतिरोध (deadlocks) उत्पन्न हो जाते हैं। सरकार को व्यावहारिक लाइनों पर चलाने के लिए समन्वय और सहयोग आवश्यक है।

(६) निर्वाचित न्यायाधीश पक्षपाती सिद्ध होते हैं—फिर एक अन्य प्रकार से भी यह सिद्धान्त व्यवहार में हानिप्रद सिद्ध हो सकता है। संयुक्तराज्य अमेरिका में न्यायाधीशों के निर्वाचन का परिणाम बुरा हुआ है। इस तरह वास्तव में पृथक्करण का सिद्धान्त स्वतन्त्रता का विरोधी हो सकता है।

(७) सब विभाग समान नहीं होते—इस सिद्धान्त से हम यह सोचने लगते हैं कि सरकार के सब विभाग बराबर शक्तियों का उपभोग करते हैं। लेकिन सब विभाग समान नहीं हैं। व्यवस्थापिका आवश्यक रूप से श्रेष्ठ है क्योंकि वही सरकार की रूपरेखा बनाती है जिसमें समस्त शासकीय यन्त्र कार्य करता है। व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता इसलिए और बढ़ जाती है कि उसे राज्य के राजस्व पर नियन्त्रण प्राप्त होता है। इस नियन्त्रण से वह कार्यकारिणी पर प्रतिबन्ध रखती है।

निष्कर्ष—

सरकार का कोई भी विभाग व्यवहार रूप में अन्य विभागों से स्वतन्त्र नहीं है। उनके बीच में विभाजन की अधिक कठोर लाइन खींचना असम्भव है। इस सिद्धान्त का यह अर्थ कभी नहीं था कि समस्त व्यवस्थापक शक्तियों का प्रयोग एक ही विभाग द्वारा किया जायगा, किसी अन्य का उसमें बिल्कुल भी भाग नहीं होगा। कार्यकारिणी और न्यायपालिका के सम्बन्ध में यही बात सत्य है। उनके बीच में एक सामान्य सीमान्त प्रदेश है। इस सबके बावजूद भी यह स्वीकृत करना होगा कि सरकार का तीन भिन्न विभागों में बाँट देना अत्यन्त लाभकारी है क्योंकि वह प्रत्येक के कार्य के लिए एक निश्चित सीमा निर्धारित कर देता है। यह विभाजन शासन में कार्य-क्षमता लाता है क्योंकि प्रत्येक विभाग जानता है कि उसे क्या करना है। सामान्य समन्वय के अतिरिक्त अतिक्रमण और गड़बड़ी की कम सम्भावना रहती है। सही सिद्धान्त मैडीसन ने बताया था जब उसने कहा कि वे शक्तियाँ जो औचित्य के विचार से एक विभाग से सम्बन्धित हैं उनका प्रयोग अन्य विभागों को नहीं करना चाहिए। यह भी समान रूप से स्पष्ट है कि उनमें से किसी को भी दूसरों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उनकी शक्तियों के शासन के सम्बन्ध में नियन्त्रणकारी प्रभाव नहीं रखना चाहिए। ("The powers properly belonging to one department ought not to be directly administered by either of the other departments. It is equally evident that neither of them ought to possess, directly or indirectly, an overruling influence over the other in the administration of their respective powers."—Madison.)

Q. 80. How far is the theory of the Separation of Powers translated into practice in

Great Britain, France, and the United States of America ?

शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को इंग्लैण्ड, फ्रान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका में कहाँ तक प्रयोग में लाया गया है ?

Ans.

(अ) इंग्लैण्ड में—

इंग्लैण्ड में कार्यकारिणी व्यवस्थापिका की अभिन्न अंग है। वहाँ सांसदीय सरकार है। इस प्रकार की सरकार इस सिद्धान्त पर कार्य करती है कि राज्य की कार्यकारिणी के प्रधान की शक्तियाँ केवल नाममात्र की होती हैं। वास्तविक कार्यकारिणी मन्त्रिमण्डल होता है जो पार्लियामेण्ट के बहुमत दल का बनता है। इस प्रकार वह एक hyphen होता है जो कार्यकारक और व्यवस्थापक विभागों को मिलाता है। मन्त्रिमण्डल उस समय तक पद पर रहता है जब तक उसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त रहता है। दूसरे शब्दों में, व्यवस्थापिका (कामन्स सभा) को अविश्वास का प्रस्ताव पास करके अथवा धन की माँग को अस्वीकृत करके मन्त्रिमण्डल को हटा देने की शक्ति प्राप्त है।

इंग्लैण्ड में कार्यकारिणी को भी कुछ निश्चित न्यायिक शक्तियाँ प्राप्त हैं। न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यकारिणी द्वारा ही की जाती है। वह प्रशासकीय मामलों का निर्णय भी करती है। इंग्लैण्ड में Lord Chancellor शक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त की सबसे अधिक उपेक्षा करता है जिसके समान संसार में अन्य कोई व्यक्ति नहीं करता। वह कार्यकारिणी का एक मुख्य सदस्य होता है। वह लार्ड सभा का सभापति भी होता है। वह उच्च न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश भी होता है और Judicial Committee of the Privy Council का चेयरमैन भी। फिर वह मन्त्रिमण्डल का मुख्य कानूनी सलाहकार भी होता है। इसके अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र में भी उसका काफी महत्त्व है।

इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट को न्यायाधीशों को हटाने के लिए Crown

से प्रार्थना करने की शक्ति भी प्राप्त है। लार्ड सभा ब्रिटेन में अपील का सबसे बड़ा न्यायालय है।

लेकिन इसके बावजूद भी इंग्लैण्ड के संविधान में थोड़ा-सा शक्तियों का पृथक्करण है। कार्यकारिणी शक्तियाँ Crown में केन्द्रित हैं। व्यवस्थापक शक्तियों का प्रयोग पार्लियामेण्ट करती है और न्याय-सम्बन्धी कार्य सरकार के एक पृथक् विभाग के रूप में न्यायपालिका करती है। कार्यकारिणी द्वारा एक बार नियुक्त किये जाने पर न्यायाधीश अपने अच्छे व्यवहारकाल में पद पर बने रहते हैं और वे कार्यकारिणी अथवा व्यवस्थापिका किसी के भी द्वारा नहीं हटाए जा सकते। Willonghby ने कहा है कि इंग्लैण्ड के संविधान के व्यवहार रूप का सूक्ष्म अध्ययन यह बताता है कि सावयवतः (organically) शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त बड़ी कठोरता से माना गया है जैसा कि अन्य थोड़ी ही सरकारों में मिलता है।

(घ) फ्रान्स में:—

फ्रान्स का संविधान भी इंग्लैण्ड की तरह सांसदीय है और इसलिए वह शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का निषेध है। स्थूल रूप से फ्रान्स के संविधान का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है:

गणतन्त्र का राष्ट्रपति व्यवस्थापिका, अर्थात् दोनों सदनों की संयुक्त बैठक, द्वारा चुना जाता है। राष्ट्रपति को भी व्यवस्थापिका के पास सन्देश भेजने की शक्ति प्राप्त होती है तथा उसकी बैठकें बुलाने, उन्हें स्थगित करने और Chamber of Deputies को भंग करने की भी। व्यवस्थापिका को भी गणतन्त्र के राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने की शक्ति रहती है।

इंग्लैण्ड की तरह यहाँ भी शासन एक मन्त्रिमण्डल द्वारा चलाया जाता है और जिन सिद्धान्तों के अन्तर्गत वह कार्य करता है वे भी स्थूल रूप से वही हैं जो इंग्लैण्ड में हैं। गणतन्त्र के राष्ट्रपति को "suspensive veto" की शक्ति प्राप्त होती है यद्यपि उसका कभी प्रयोग नहीं किया गया जैसा कि सांसदीय सरकार में वैधानिक रूढ़ि होती है। राष्ट्रपति को न्यायाधीशों की नियुक्ति की शक्ति भी प्राप्त है। उसे क्षमा करने और मृत्युदण्ड

को कम करने अथवा समाप्त कर देने की शक्ति भी प्राप्त होती है।

लेकिन फिर भी एक तरह से फ्रान्स में शक्तियों का पृथक्करण रखा गया है। पृथक्करण इतना कठोर है कि सरकार के अफसरों का मुकदमा, इंग्लैंड के विपरीत, साधारण न्यायालयों द्वारा नहीं होता। उनकी शासकीय स्थिति में उनके मुकदमों के लिए पृथक प्रशासकीय न्यायालय (Administrative Courts) हैं। यही नहीं, साधारण न्यायालयों को व्यवस्थापिका को कानून की वैधता पर प्रश्न करने की शक्ति भी प्राप्त नहीं है। फ्रान्स की प्रणाली कार्यकारिणी और न्यायपालिका को व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से बचाती प्रतीत होती है।

(स) संयुक्तराज्य अमेरिका में :—

संयुक्तराज्य अमेरिका के संविधान के निर्माताओं ने शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को अपनी इच्छा से अपनाया। उसके रचयिता इससे इतने प्रेरित थे कि वे उसे बहुत दूर तक ले गए। यद्यपि संविधान ने शक्तियों के पृथक्करण की व्यवस्था की है फिर भी व्यवहार में पृथक्करण पूर्ण न हो सका। संविधान में 'प्रतिबन्ध और सन्तुलन' (checks and balances) की व्यवस्था है जिसके कारण कार्यकारिणी आंशिकरूप से व्यवस्थापक कार्य भी करने लगी है। उदाहरणतः—

(१) कार्यकारिणी का राष्ट्रपति के veto द्वारा कानून-निर्माण में हाथ है।

(२) राष्ट्रपति अपने "सन्देशों" द्वारा कानून-निर्माण पर प्रभाव डालता है।

(३) व्यवस्थापिका को कार्यवाहक शक्तियाँ प्राप्त हैं। सिनेट राष्ट्रपति की नियुक्तियाँ करने और सन्धियों की पुष्टि करने की शक्ति में हिस्सा बँटाती है।

(४) सिनेट की सलाह और अनुमति से राष्ट्रपति न्यायाधीशों को नियुक्त करता है और संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों का व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी दोनों पर बहुत प्रभाव है।

(५) वह सर्वोच्च न्यायालय ही है जो यह घोषित करता है कि कोई

विशेष कानून संविधान के विरुद्ध (ultra vires) है अथवा पक्ष में (contra vires) है।

(६) जब राष्ट्रपति अथवा उसके किसी सचिव पर महाभियोग चलाया जाता है तो सिनेट एक कानूनी न्यायालय की तरह कार्य करती है।

यह देखा जायगा कि संविधान में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को प्रयोग में लाने के लिए कानूनी व्यवस्था है। लेकिन वास्तव में तीनों विभाग अपना पृथक अस्तित्व रखते हुए—एक ही सरकार की स्वतन्त्र-शाखाओं के रूप में—एक-दूसरे के साथ समन्वय करते हैं। यथार्थतः बात यह है कि दलबन्दी प्रणाली, जिसे अमेरिकन संविधान के निर्माता नापसन्द करते थे, का विकास शक्तियों के कठोर पृथक्करण के विरुद्ध शिकायत के रूप में हुआ। कार्यकारिणी व्यवस्थापिका से सर्वथा अलग है। लेकिन दल का संगठन दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है और इस तरह व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी का कार्य भली भाँति चलता रहता है।

१५—सरकार के अंग

Q. 81. What do you understand by the term Executive ? Describe the different functions perfomed by the Executive.

'कार्यकारिणी' शब्द से तुम क्या समझते हो ? कार्यकारिणी के विभिन्न कार्यों का वर्णन करो ।

Ans.

सरकार के प्रमुख अंग तीन हैं : व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका । उन्हें क्रमशः (१) कानून बनाने और राज्य की नीतियों की रूपरेखा तैयार करने, (२) कानूनों और नीतियों द्वारा व्यक्त राज्य की इच्छा को लागू करने और (३) राज्य की इच्छा का उचित रूप से पालन हो रहा है अथवा नहीं यह देखने तथा कानूनों की व्याख्या करने और जनता के अधिकारों की रक्षा करने का कार्य दिया गया है। इन तीनों अंगों में से प्रत्येक का अपना विशेष महत्त्व है, लेकिन वर्तमान मन्त्रिमण्डल सरकारों की प्रवृत्ति के कारण कार्यकारिणी अधिकाधिक महत्त्व और शक्ति प्राप्त करती जा रही है ।

कार्यकारिणी की परिभाषा—

'कार्यकारिणी' शब्द से हमारा अर्थ है सरकार का वह भाग जो शासन अथवा व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गए कानूनों को लागू करने का कार्य करता है। दूसरे शब्दों में उसका अर्थ है सरकार का वह अंग जो राज्य की इच्छा को कार्यरूप में परिणत करता है—वह इच्छा जिसे राज्य की व्यवस्थापिका ने अभिव्यक्त किया है । कार्यकारिणी देश में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना के लिए भी उत्तरदायी होती है । लेकिन अपने पूर्ण अथवा

विस्तृत अर्थ में 'कार्यकारिणी' के अन्तर्गत वे सभी अफ़सर आ जाते हैं जो देश के कानून को लागू करने के लिए उत्तरदायी होते हैं—राज्य के सर्वोच्च अधिकारी से लेकर, चाहे वह राष्ट्रपति, राजा अथवा प्रधानमन्त्री कोई भी हो, निम्नतम पटवारी, सिपाही अथवा चौकीदार तक।

कार्यकारिणी के कार्य—

सबसे अधिक आधारभूत कार्यवाहक कार्य वे हैं जो सरकार की मुख्य अथवा आवश्यक कार्यवाहियों से सम्बन्धित होते हैं। इन आवश्यक कार्यवाहियों की हमारी धारणा सर्वथा भिन्न है। हम राज्य को एक 'आवश्यक बुराई' (necessary evil) नहीं मानते। आधुनिक राज्य एक जटिल संगठन है और उसका कार्यक्षेत्र निरन्तर विस्तृत होता जाता है। हम राज्य को केवल एक पुलिस राज्य नहीं मानते जिसका कार्य केवल-मात्र आन्तरिक शान्ति और बाह्य सुरक्षा स्थापित रखना है। हमारा राज्य मनुष्य के कल्याण की प्राप्ति का साधन है और उसका यह कार्य है कि वह ऐसा वातावरण उत्पन्न करे जिसमें मनुष्य अपना सर्वोत्तम स्वरूप प्राप्त कर सके। जब आधुनिक राज्य के अस्तित्व का यह उद्देश्य है तो राज्य के कार्यवाहक तथा अन्य कार्यों के बीच कोई विभाजन की रेखा नहीं खींची जा सकती। फिर भी कार्यकारिणी के मुख्य कार्यों का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(१) आन्तरिक शासन—

प्रत्येक राज्य राजनैतिक रूप से एक संगठित समाज है और कार्यकारिणी का यह सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह आन्तरिक शान्ति के लिए युक्तियां और साधन प्रस्तुत करे। वह विभाग जो यह कार्य करता है भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न नामों से जाना जाता है। अधिकतर वह 'गृह-विभाग' (Home Department) अथवा 'आन्तरिक विभाग' (Department of the Interior) कहलाता है। आन्तरिक शान्ति की सुरक्षा के लिए पुलिस की व्यवस्था करना आवश्यक होता है अस्तु यह कार्य गृह-विभाग के अधिकार में ही रहता है।

(२) बाह्य शासन—

इसी तरह बाह्य आक्रमण से सुरक्षा प्रत्येक राज्य की एक परम आवश्यकता है। इसके लिए प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों में अपने पारस्परिक भेद-भावों को विचार-विमर्श (negotiation) द्वारा दूर करने के लिए दूतावास खोलता है। वे विभाग जो रक्षा, युद्ध तथा अन्य राज्यों से सम्बन्धों की व्यवस्था से सम्बन्धित होते हैं एक श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। साधारणतः रक्षा और युद्ध को राज्य के सैनिक कार्यों के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। कार्यकारिणी का यह कर्तव्य है कि वह यह निर्णय करे कि सेना की शक्ति कितनी होनी चाहिए—स्थल-सेना, जल-सेना और वायु-सेना तीनों प्रकार की सेनाओं की। परराष्ट्रविभाग (Foreign Department) राजनीतिक कार्य (diplomatic functions) करता है। सभी सन्धियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय समझौते, आर्थिक गुटबन्दियां इसी विभाग द्वारा राज्य की सर्वोच्च कार्यकारिणी के नाम से की जाती हैं। कुछ देशों, जैसे संयुक्त-राज्य अमेरिका और फ्रांस में, कार्यकारिणी द्वारा की गई सन्धियों के लिए व्यवस्थापिका के सम्मोदन की आवश्यकता होती है।

(३) विधायी कार्य—

कार्यकारिणी के विधायी कार्य सरकार के स्वरूप के साथ भिन्न होते हैं। सांसदीय सरकार में मन्त्रिगण, जो देश की राजनैतिक कार्यकारिणी का निर्माण करते हैं, समस्त लोक विधेयकों (Public Bills) को प्रस्तुत करते, उनका समर्थन करते तथा उन्हें पास कराते हैं। व्यवस्थापिका द्वारा पास किए जाने पर कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता जब तक कि उसे राज्य की कार्यकारिणी के प्रधान की स्वीकृति न मिल जाय। वह (कार्यकारिणी का प्रधान) उसे प्रतिषेध भी कर सकता है और यह प्रतिषेध अल्पकालीन (Suspensive) अथवा पूर्ण कैसा भी हो सकता है। इंग्लैंड तथा फ्रांस जैसे देशों में प्रतिषेध शक्ति का प्रयोग किया जाना बन्द हो गया है। अध्यक्षात्मक सरकार में कार्यकारिणी को बहुत से विधायी कार्य प्राप्त नहीं होते। फिर भी प्रायः हर देश में कार्यकारिणी को कानून-निर्माण में, प्रत्यक्ष

अथवा अप्रत्यक्ष, भाग प्राप्त है ही।

कार्यकारिणी को अध्यादेश (ordinances) जारी करने की शक्ति भी प्राप्त होती है यद्यपि इन अध्यादेशों की प्रकृति और स्वरूप एक राज्य से दूसरे राज्य में भिन्न होता है। फिर वह कार्यकारिणी ही है जो व्यवस्थापिका सभाओं की बैठकें बुलाती, उन्हें स्थगित करती तथा उन्हें भंग करती है और नये चुनावों का आदेश देती है।

(४) न्यायिक कार्य—

दण्ड को कम करने तथा माफ़ करने का अधिकार सामान्यमत से कार्यकारिणी शक्ति का स्वाभाविक एवं आवश्यक भाग माना गया है। यह अर्ध-न्यायिक शक्ति है और अनेक कारणों से संगत है। क्षमा करने का मुख्य उद्देश्य निर्णय की गलतियों को सुधारना है जो कि अन्यथा नहीं किया जा सकता। इसी तरह बहुत से व्यक्ति राजनैतिक कारणों से भी दण्डित किए जा सकते हैं। जिस अपराध के कारण उन्हें दण्ड दिया गया है सम्भव है वह कुछ समय के उपरान्त लुप्त हो जाय। कार्यकारिणी को यह शक्ति दे देने से ऐसे व्यक्तियों की उन्मुक्ति सुरक्षित हो जाती है। इस शक्ति के प्रयोग के फलस्वरूप कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों ने सन् बयालीस की अशान्ति के अपराधियों को छोड़ दिया था।

(५) लोकोपकारी विभागों का शासन—

कार्यकारिणी के कार्यों में लोकोपकारी (beneficient) विभागों का शासन भी सम्मिलित किया जाना आवश्यक है जैसे शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, व्यापार, श्रम, कल्याण, स्वास्थ्य आदि। इन विभागों के बिना तथा उनके समुचित विकास के बिना वह वातावरण उत्पन्न करना असम्भव है जो मनुष्य के कल्याण में वृद्धि करने में सहायक होता है। महत्त्वपूर्ण राज्यों की सरकारों में ऐसे कार्यों की सूची काफी बड़ी होती है।

(६) लोकोपयोगी सेवाओं तथा अन्य आर्थिक कार्यों का शासन—

अब सब राज्यों का कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत हो गया है। राज्य के लिए रेलों, डाकखानों और तारघरों, बेतार, वायु-सेवा आदि लोकोपयोगी सेवाओं

का चलाना भी अच्छा समझा जाता है क्योंकि उनसे सामान्य हित की अधिकाधिक सुरक्षा होती है। इसी तरह कार्यकारिणी बहुत से आर्थिक धन्धों को भी अपने हाथ में ले लेती है जैसे hydro-electric योजनायें आदि। द्वितीय विश्वयुद्ध-काल में कार्यकारिणी के कार्यों में काफी वृद्धि हो गई थी। मूल्य-नियन्त्रण और राशनिंग की मशीनरी से हम सभी परिचित हैं। हम यह भी जानते हैं कि प्रान्तीय सरकारें किस तरह से नियन्त्रण और गल्ला जमा करने की योजनाओं की प्रणालियों द्वारा जनता को भुखमरी और अकाल से बचाने का प्रयत्न कर रही हैं।

Q. 82. What are the different kinds of Executive ? Give the relevant advantages and disadvantages of the plural Executive.

कार्यकारिणी के कौन-कौन से विभिन्न प्रकार होते हैं ? अनेक सदस्यों की कार्यपालिका के गुण तथा दोष बताइए।

Ans.

कार्यकारिणी के अनेक प्रकारों का वर्गीकरण निम्न प्रकार कर सकते हैं—

(१) यथार्थ अथवा नाममात्र की (२) एक सदस्य अथवा अनेक सदस्यों की (३) सांसदीय अथवा अध्यक्षात्मक और (४) राजनैतिक अथवा स्थायी।

(१) यथार्थ अथवा नाममात्र की कार्यकारिणी—एक राज्य की कार्यकारिणी वास्तविक अथवा नाममात्र की हो सकती है। पहली प्रकार में सत्ता का वास्तविक प्रयोग एवं नियन्त्रण संविधान में वर्णित कार्यकारिणी ही करती है। दूसरे शब्दों में नाम के लिए कार्यकारिणी और व्यावहारिक कार्यकारिणी में कोई अन्तर नहीं होता। वास्तविक कार्यकारिणी का उदाहरण संयुक्तराज्य अमेरिका का राष्ट्रपति है। दूसरी ओर नाममात्र की कार्यकारिणी वास्तविक सत्ता का प्रयोग नहीं करती। वह नाममात्र के लिए ही कार्यकारिणी होती है। कार्यकारिणी सत्ताओं का वास्तविक प्रयोग

संविधानिक अथवा नाममात्र की कार्यकारिणी के नाम से एक अन्य संस्था करती है। इसके उदाहरण इंग्लैण्ड का राजा तथा फ्रांस और भारत के राष्ट्रपति हैं।

(२) एक सदस्य अथवा अनेक सदस्यों की कार्यकारिणी—एक सदस्य की कार्यकारिणी का अर्थ यह है कि कार्यकारिणी सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित रहती है अनेक व्यक्तियों के हाथों में नहीं। इसके उदाहरण संयुक्तराज्य अमेरिका, फ्रान्स तथा भारत के राष्ट्रपति और इंग्लैण्ड का राजा है। अनेक सदस्यों की कार्यकारिणी का अर्थ है कि कार्यकारिणी सत्ता एक व्यक्ति में केन्द्रित नहीं होती वरन् समान रूप से अधिक व्यक्तियों में बंटी रहती है। ऐसी कार्यकारिणी का एकमात्र उदाहरण स्विटजरलैण्ड की कार्यकारिणी है।

(३) सांसदीय अथवा अध्यक्षात्मक—सांसदीय और अध्यक्षात्मक कार्यकारिणी का अन्तर उनके व्यवस्थापिका से सम्बन्ध के आधार पर किया जाता है। सांसदीय कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है और उसके द्वारा पद से हटाई भी जा सकती है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती और इसलिए वह उसके अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा हटाई नहीं जा सकती। इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा भारत की कार्यकारिणियां प्रथम प्रकार की हैं जब कि अमेरिका का राष्ट्रपति दूसरे प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

(४) राजनैतिक और स्थायी—राजनैतिक कार्यकारिणी का सम्बन्ध मूलतः नीति-निर्माण, अन्य बड़े कार्यों, जैसे अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण से है। उसमें प्रायः राजनीतिज्ञ और अफ़सर हुआ करते हैं जिनका पद स्थायी नहीं होता। राजनैतिक कार्यकारिणी या तो निर्वाचित होती है अथवा कुछ निश्चित समय के लिए नियुक्त होती है या वह व्यवस्थापिका के प्रसादकाल में पद पर बनी रहती है। उसमें न तो कोई आयु का प्रतिबन्ध होता है और न विभागीय अथवा विशेष योग्यता की परीक्षायें ही होती हैं जो कि स्थायी सेवा में लिए जाने के लिए सहायक होती हैं। स्थायी

कार्यकारिणी व्यवस्थापिका की इच्छा द्वारा हटाई नहीं जा सकती और न ही उस पर मन्त्रियों के आने अथवा जाने का असर होता है जो कि राजनैतिक कार्यकारिणी का निर्माण करते हैं। स्थायी कार्यकारिणी को नौकरी की सुरक्षा प्राप्त होती है तथा उसका कार्यकाल भी स्थायी होता है। ऐसे अफ़सर किसी राजनैतिक दल से सम्बन्धित नहीं होते। ऐसी कार्यकारिणी स्थायी नागरिक सेवा (Permanent Civil Service) कहलाती है। इस सेवा में नियुक्ति राजनैतिक आधार पर नहीं की जाती वरन् योग्यता अनुभव और कार्यक्षमता के आधार पर की जाती है। साधारणतः ऐसी सेवाओं में उच्चतम पदों को पाने के लिए विभागीय परीक्षायें निर्धारित रहती हैं। ५५ अथवा ६० वर्ष की आयु के उपरान्त अवकाश प्राप्त कर लेने पर इस प्रकार के अफ़सरों को पेन्शन, प्रॉवीडेण्ट फ़न्ड आदि की सुविधायें मिलती हैं। स्थायी नागरिक सेवक विभिन्न विभागों में संगठित होते हैं और प्रत्येक विभाग का प्रधान एक मन्त्री, राजनैतिक कार्यकारिणी, होता है।

अनेक सदस्यों की कार्यकारिणी के गुण-दोष :—

अनेक सदस्यों की कार्यकारिणी ने बहुत ध्यान आकर्षित नहीं किया है। उसके कुछ प्रत्यक्ष दोष हैं जो उसके गुणों से, यदि उसमें कोई गुण हैं तो, कहीं अधिक है। आधुनिक संसार कार्यकारिणी के सदस्यों की अनेकता के सिद्धान्त को अपनाना पसन्द नहीं करता। इस प्रकार की कार्यकारिणी का केवल-मात्र उदाहरण स्विटजरलैण्ड है जिसने अपने को अनेक सदस्यों की कार्यकारिणी के बहुत अनुकूल बना लिया है। यह कहा जाता है कि अनेक सदस्यों की कार्यकारिणी का एक गुण है कि "वह एक व्यक्ति की अधिनायकीय सत्ताओं का प्रदर्शन होती है।" चूंकि सत्ता विभाजित रहती है इसलिए एक व्यक्ति की अपने सहयोगियों पर प्रभुत्व जमाने की सम्भावना नहीं रहती। ऐसी कार्यकारिणी का प्रत्येक सदस्य अपने सुनिश्चित कार्यक्षेत्र के लिए उत्तरदायी होता है। किसी भी संयुक्त उत्तरदायित्व के अभाव में अनेक सदस्यों की कार्यकारिणी के एक सदस्य को अपने सहयोगियों तथा

व्यवस्थापिका से भय नहीं करना पड़ता। वह अपने पद पर सर्वथा सुरक्षित रहता है चाहे वह अपने अन्य सहयोगियों की संसद के अन्दर अथवा बाहर आलोचना भी क्यों न करे। इस प्रकार यह अनुभव किया जाता है कि ऐसी प्रणाली में कोई भी व्यक्ति एक मन्त्रिमण्डल के प्रधान मन्त्री की तरह अधिनायकीय सत्ता प्राप्त करने का साहस नहीं कर सकता।

इस प्रणाली का अत्यन्त गम्भीर दोष यह है कि विभाजित उत्तरदायित्व कार्यकारिणी के कार्यों के भली प्रकार होने में बाधक होता है। उसमें कार्य-शीघ्रता, एकरूपता, शक्ति और बल की कमी होती है। सच तो यह है कि ऐसी कार्यकारिणी में महत्त्वपूर्ण विषयों पर मतभेद उत्पन्न हो जाता है जो कि अन्त में समस्त राष्ट्र के लिए अहितकर सिद्ध होता है। विभाजित उत्तरदायित्व का अन्त प्रायः अनुत्तरदायित्व में ही होता है। कार्यकारिणी के सदस्यों की अनेकता की असफलता का यही कारण है।

Q. 83. Describe the functions of a legislature.

व्यवस्थापिका के कार्यों का वर्णन करो।

Ans.

सरकार का यन्त्र तीन विभागों में बटा हुआ है और इनमें से एक व्यवस्थापिका है। व्यवस्थापक विभाग का मुख्य कार्य कानून-निर्माण करना है। लेकिन कानून-निर्माण में उसका क्या हाथ होता है यह राज्य की सरकार के स्वरूप पर निर्भर करता है। रूस का ज़ार (Czar) एक निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी शासक व्यवस्थापिका को एक "सलाहकारी" संस्था ही रखना चाहेगा। कानून-निर्माण में उससे सलाह ली जा सकती है लेकिन उसकी सलाह अन्तिम अथवा निर्णायक न होगी। नौकरशाही (Bureaucratic) शासन में, जैसा कि १९३७ के पूर्व हमारे प्रान्तों में था और केन्द्र में अभी भी है, व्यवस्थापिका को कार्यकारिणी के नीचे स्थान दिया जाता है। एक अधिनायक चाहे तो व्यवस्थापिका पर कुछ भी ध्यान न दे। हिटलर तथा मुसोलिनी अपने प्रायः सभी कानून

घोषणाओं अथवा अध्यादेशों के जारी करने के द्वारा ही बनाया करते थे।

लेकिन सांसदीय सरकार में व्यवस्थापिका की सत्तायें वास्तविक एवं महत्त्वपूर्ण होती हैं। व्यवस्थापिका की इच्छा सभी मामलों में सर्वोच्च होती है और सरकार का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है जिसमें व्यवस्थापिका के रहस्यात्मक हाथों का प्रभाव अथवा नियन्त्रण न हो। कार्यकारिणी अपने कार्यकाल के लिए व्यवस्थापिका पर निर्भर रहती है और कानून उसके हाथ की प्रथम रचना होते हैं।

तीसरे, व्यवस्थापिका एक सन्तुलन सत्ता के रूप में भी कार्य कर सकती है जैसी परिस्थितियों का अस्तित्व संयुक्त राज्य अमेरिका में पाया जाता है। एक सत्ता की स्थापना दूसरी पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए की जा सकती है।

इसलिए व्यवस्थापिका द्वारा किए जाने वाले कार्यों के सम्बन्ध में कोई एकरूपता नहीं है। लेकिन आधुनिक समय में व्यवस्थापिकायें साधारणतः निम्नलिखित मुख्य कार्य करती हैं :—

१—व्यवस्थात्मक

२—राजस्व सम्बन्धी

३—विचारात्मक

४—न्यायिक

व्यवस्थापक—व्यवस्थापक कार्य का अर्थ देश के कानून-निर्माण करने से है। पुराने कानूनों के बेकार भागों को हटाया जाता है तथा आधुनिक समय की बदलती हुई दशाओं के अनुकूल नये कानून अपनाए जाते हैं। व्यवस्थापिका के सदस्यों को जो कानून वे बनाना चाहते हैं उनके सभी सम्भावित प्रभावों पर विचार कर लेना चाहिए। सांसदीय अथवा मन्त्रि-मण्डल सरकार के अन्तर्गत कार्यकारिणी का कानून-निर्माण में प्रत्यक्ष भाग होता है। सब लोक-विधेयक सरकार की ओर से ही प्रस्तुत किये जाते हैं। अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के प्रत्यक्ष सम्पर्क में नहीं होती लेकिन वह राष्ट्रपति के सन्देशों द्वारा अथवा राष्ट्रपति के दल के कांग्रेस

के सदस्यों द्वारा प्रभाव डालती है।

राजस्व-सम्बन्धी कार्य—इतिहास के विद्यार्थी स्टुअर्ट राजाओं और उनकी पार्लियामेण्टों के संघर्ष से भली प्रकार परिचित हैं। वह सब राजस्व अथवा धन-सम्बन्धी मामलों का कारण था। अन्त में यह स्वीकृत किया गया कि कर लगाने और खर्च करने के मामले में पार्लियामेण्ट ही सर्वोच्च संस्था है। इसके विपरीत किया गया कोई भी कार्य गैरकानूनी था। अब प्रायः प्रत्येक प्रजातान्त्रिक देश में व्यवस्थापिका राज्य के राजस्व पर नियन्त्रण करती है। व्यवस्थापिका ही वह संस्था है जो यह निश्चित करती है कि धन किन उपायों द्वारा एकत्रित किया जाय, कितना धन एकत्रित किया जाय तथा उसे किस प्रकार खर्च किया जाय। कुछ देशों में युद्ध की घोषणा व्यवस्थापिका को छोड़कर अन्य किसी सत्ताधारी संस्था द्वारा नहीं की जा सकती। इस प्रकार वह देश की गृह तथा वैदेशिक दोनों नीतियों का नियन्त्रण भी करती है।

विचारात्मक कार्य—विचारात्मक और व्यवस्थात्मक कार्य एक-दूसरे से बड़ी कठिनता से पृथक् किये जा सकते हैं। समस्त व्यवस्थात्मक कार्यों के मूल में यह सिद्धान्त होता है कि उनका प्रयोग देश के सर्वोत्तम हित के लिए किया जाना चाहिए और ऐसी सभा द्वारा किया जाना चाहिए जो कि जनता का पूरी तरह से प्रतिनिधित्व करती हो। इसलिए कानून को बनाने के पहले उसके हर पहलू पर अच्छी तरह सोच-विचार कर लेना चाहिए। व्यवस्थापिका ही वह स्थल है जहाँ विचार किया जाता है और उस पर भली प्रकार वादविवाद किया जाता है।

इसमें निरीक्षण सम्बन्धित व्यवस्थापिका का एक कार्य भी होता है। प्रश्न एवं प्रतिप्रश्न (interpellations) पूछकर, प्रस्ताव प्रस्तुत करके और धन की स्वीकृति देते समय सरकार के विभिन्न विभागों के कार्यों की विवेचना की जाती है और उनसे आवश्यक जानकारी प्राप्त की जाती है। प्रजातान्त्रिक सरकार को आलोचना द्वारा सरकार कहा जाता है। इन सदस्यों द्वारा की गई आलोचना के द्वारा ही सरकार की समस्त नीति का

पर्दाफाश किया जाता है। यदि उस नीति की अपेक्षा अथवा अस्वीकृति की जाती है तो संसदीय सरकार में एक अविश्वास का प्रस्ताव रखा जाता है और यदि वह प्रस्ताव पास हो जाता है तो कार्यकारिणी को पद से हटा दिया जाता है।

न्याय-सम्बन्धी कार्य—साधारणतः प्रत्येक देश में व्यवस्थापिका दो सदनों की होती है। एक उच्च-सदन कहलाता है और दूसरा निम्न सदन। अधिकांश राज्यों में न्याय-सम्बन्धी कार्य उच्च सदनों द्वारा किये जाते हैं। इंग्लैंड में लार्ड सभा अपील का सर्वोच्च न्यायालय है। संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति पर सिनेट के समक्ष महाभियोग चलाया जा सकता है। इसी तरह फ्रान्स में सिनेट न्याय के सर्वोच्च न्यायालय (High Court of Justice) के रूप में राष्ट्रपति और मन्त्रियों के बड़े अपराधों का निर्णय करने के लिए बैठती है।

कार्यवाहक सत्ताएँ—संयुक्त राज्य अमेरिका-जैसे देशों में उच्च सदन को कुछ कार्यवाहक अथवा कार्यकारिणी सत्ताएँ भी प्रदान की गई है। संयुक्तराज्य अमेरिका में सिनेट राष्ट्रपति के साथ संघीय नियुक्तियाँ करने की सत्ता का भोग करती है। इसी तरह राष्ट्रपति द्वारा की गई समस्त सन्धियों के लिए सिनेट के संमोदन की आवश्यकता है।

Q. 84. What should be the relation between the Executive and the Legislature in a Government?

सरकार में कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका के बीच कैसा सम्बन्ध होना चाहिए?

Ans.

कार्यकारिणी सरकार का एक महत्त्वपूर्ण अंग होती है। सिडविक (Sidgwick) का कथन है कि "संवैधानिक निर्माण में कार्यकारिणी का व्यवस्थापिका से सम्बन्ध एक अत्यन्त जटिल समस्याओं में से है।" फ्रान्स में मान्टस्क्यू (Montesqieu) तथा इंग्लैंड में ब्लैकस्टन (Black-

stone) ने यह बताया कि सरकार के तीन कार्य पृथक्-पृथक् हैं और उन्हें तीन पृथक् अंगों द्वारा ही किया जाना चाहिए तथा किसी भी अंग को अन्य अंगों पर नियन्त्रणकारी सत्ता नहीं प्राप्त होनी चाहिए। लेकिन व्यवहार में ऐसा कोई भी राज्य नहीं है जिसमें कार्यकारिणी सत्ता का क्षेत्र व्यवस्थापिका से सर्वथा पृथक् एवं स्वतन्त्र हो। प्रत्येक राज्य में कार्यकारिणी को व्यवस्थापिका के कार्य पर थोड़ा-बहुत नियन्त्रण प्राप्त है और वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थात्मक कार्यों में भाग लेती है। दूसरी ओर, प्रत्येक राज्य में व्यवस्थापिका भी अपनी धन की सत्ता द्वारा कार्यकारिणी पर कुछ नियन्त्रण का प्रयोग करती है। व्यवस्थापिका को नये-नये लोक-पदों के निर्माण करने और उनके कार्यों तथा कर्तव्यों का निर्धारण करने की सत्ता भी प्राप्त होती है। इन दोनों अंगों के बीच का यह सम्बन्ध एवं सहयोग संसदीय सरकार में अध्यक्षात्मक सरकार की अपेक्षा अधिक घनिष्ट होता है।

कार्यकारिणी के व्यवस्थापिका से सम्बन्ध पर दो पहलुओं से विचार किया जा सकता है:—

(१) कार्य-कारिणी की व्यवस्थात्मक सत्ताएँ और उसका व्यवस्थापिका पर नियन्त्रण; तथा

(२) व्यवस्थापिका की प्रशासकीय सत्ताएँ और उसका कार्यकारिणी पर नियन्त्रण।

(अ) कार्यकारिणी की व्यवस्थात्मक सत्ताएं—

कार्यकारिणी व्यवस्थात्मक कार्यों में अनेक प्रकार से भाग लेती है :—

(१) **व्यवस्थापिका की बैठक बुलाती, स्थगित करती और समावसित करती है**—सभी जगह कार्यकारिणी का यह अधिकार है कि वह व्यवस्थापिका की बैठकें आमन्त्रित करे, उसके कार्य प्रारम्भ होने की घोषणा करे, उसके अधिवेशनों को स्थगित (adjourn) अथवा समावसित (prorogue) करे। इंग्लैंड जैसे देशों में, जहाँ कि संसदीय सरकार है, कार्यकारिणी निम्न सदन को भंग भी करती है और नए चुनावों का आदेश देती है। जब कभी आवश्यक हो वह विशेष अधिवेशन भी आमन्त्रित कर

सकती है।

(२) **आवश्यक सूचना प्रदान करती है**—वह अधिवेशनों के प्रारम्भ के समय अथवा उनके अधिवेशन काल में समय-समय पर व्यवस्थापिका को देश की आवश्यक सूचनायें—उसकी आवश्यकताओं से सम्बन्धित-प्रदान करती है। इंग्लैंड में पार्लियामेन्ट के प्रारम्भ होने के समय जो राजगद्दी से भाषण दिया जाता है वह साधारणतः उस नीति की अभिव्यक्ति होती है जिसका सरकार अनुसरण करना चाहती है। संयुक्तराज्य अमेरिका में राष्ट्रपति को कांग्रेस (Congress) के पास "सन्देश" (messages) भेजने का अधिकार प्राप्त है।

(३) **व्यवस्थात्मक नायकत्त्व**—सांसदीय शासन-प्रणाली में कार्यकारिणी व्यवस्थापिका को अत्यन्त आवश्यक नायकत्त्व एवं पथ प्रदर्शन का तत्त्व प्रदान करती है। कार्यकारिणी का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्यक्षतः समस्त आवश्यक कानूनों के विधेयक प्रस्तुत करे और गैर-सरकारी सदस्य द्वारा प्रस्तुत किया गया कोई भी विधेयक उस समय तक पास होने की सम्भावना नहीं रखता जब तक कि उसे बहुमत दल का समर्थन न प्राप्त हो जाय जिस में से कि देश की वास्तविक कार्यकारिणी का निर्माण होता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में न तो राष्ट्रपति और न उसके मन्त्रियों का ही व्यवस्थापिका तथा उसके विचार-कार्य से कोई सम्बन्ध होता है। राष्ट्रपति केवल अपने सन्देशों के माध्यम द्वारा ही कांग्रेस का ध्यान राज्य की आवश्यकताओं की ओर आकर्षित कर सकता है। लेकिन व्यवस्थापिका ऐसे सुझावों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। वह चाहे तो उन पर तनिक भी ध्यान न दे।

(४) **प्रतिषेध की सत्ता**—कार्यकारिणी की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सत्ता प्रत्येक विधेयक को स्वीकृति देने की होती है। कोई भी विधेयक कानून नहीं बन सकता जब तक कि उसे कार्यकारिणी के प्रधान की स्वीकृति न प्राप्त हो जाय। वह उसका प्रतिषेध (veto) भी कर सकता है। सांसदीय सरकारों वाले अधिकांश देशों में प्रतिषेध की सत्ता का प्रयोग किया जाना समाप्त हो गया है जैसे कि इंग्लैंड में। असांसदीय सरकार में प्रतिषेध की

इस प्रकार निर्णय क्रम द्वारा कानून की पूर्ति भी होती है और वर्तमान कानून का बहुत-सा भाग न्यायाधीशों द्वारा निर्मित बताया जाता है। इस तरह कानून को लचीलापन देना एक महत्त्वपूर्ण गुण है ताकि वह बदलती हुई सामाजिक दशाओं के अनुकूल बना सके।

(४) संघीय देशों में साधारणतः न्यायालयों को संविधान की व्याख्या करने तथा यह देखने का अधिकार दिया जाता है कि न केन्द्रीय सरकार और न ही संघ की इकाइयां कोई ऐसा कानून पास करें जो संविधान की धाराओं के प्रतिकूल हो। ऐसी परिस्थितियों में उसे संविधान का संरक्षक कहा जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत में सर्वोच्च न्यायालय को यह कार्य सौंपा गया है।

(५) न्यायालय कुछ ऐसे कार्य भी करते हैं जो वस्तुतः न्यायिक प्रकृति के नहीं होते, जैसे मृतलेख का प्रमाण देना, मृत व्यक्तियों की जायदादों का प्रबन्ध करना (रक्षकों का निर्माण करके), कर वसूल करने वाले अफ़सरों (Receivers) की नियुक्ति करना, आदि।

Q. 88. What are the advantages claimed for the bicameral system of legislature? Do you agree that inspite of defects bicameralism is a necessity?

(Punjab 1950, 47)

द्विसदन व्यवस्थापिका के पक्ष में कौन-कौन से गुणों का होना बताया जाता है? क्या तुम इस विचार से सहमत हो कि अपने दोषों के बावजूद भी द्विसदन प्रणाली आवश्यक है?

Ans.

(अ) पक्ष में तर्क—

अधिकतर आधुनिक संविधान दो सदनों वाली व्यवस्थापिका की व्यवस्था करते हैं। इंग्लैंड में द्विसदन प्रणाली का विकास ऐतिहासिक घटना के परिणामस्वरूप हुआ है। वह जानबूझ नहीं बनाई गई और फ्रान्सिस

लाइबर (Francis Leiber) कहता है कि "उसने अंग्रेज जाति का साथ उसी तरह दिया जिस तरह सामान्य कानून (Common Law) ने और हर जगह वह सफल होती है।" एक सदन वाली सरकार को यदि भ्रष्ट और तीखी नहीं तो कम-से-कम काल्पनिक ठहराया गया है जिसका अन्त निरंकुशता में होता है। एक सदन को उसी प्रकार स्वेच्छाचारी और अनुत्तरदायी सत्ता का प्रयोग करने वाला समझा गया है जिस तरह एक व्यक्तिगत निरंकुश शासक। अस्तु; द्विसदन प्रणाली का समर्थन निम्नलिखित आधारों पर किया जाता है—

(१) **एक सदन निरंकुशता के विरुद्ध सुरक्षा है**—द्वितीय सदन को एक सदन के घृणित, अत्याचारी एवं भ्रष्ट कार्यों के विरुद्ध एक आवश्यक सुरक्षा अथवा आश्वासन कहा जाता है। लार्ड एक्टन (Lord Acton) के मतानुसार द्वितीय सदन राज्य में सत्ता का आवश्यक सन्तुलन प्रदान करते हैं, अल्पमतों की समुचित रक्षा करते हैं और स्वतन्त्रता की आवश्यक सुरक्षा करते हैं।

(२) **द्विसदन प्रणाली जल्दबाजी में बिना अच्छी तरह सोचे-विचारे कानून-निर्माण कार्य में आवश्यक रुकावट लगाती है**—लैकी (Lecky) के शब्दों में द्वितीय सदन "कानून-निर्माण कार्य में नियन्त्रणकारी, संशोधनकारी, तथा रुकावट लगाने तथा दृढ़ता लाने वाले प्रभाव का प्रयोग करता है।" एक अकेला सदन, विशेषकर जब वह सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्मित किया गया हो, क्रान्तिकारी है। इसको परिपक्व निर्णय एवं अनुदारता से रोकने के लिए द्वितीय सदन का होना आवश्यक है। किसी विषय का दूसरे सदन द्वारा विचार किए जाने से प्रथम सदन के सदस्यों तथा जनता दोनों को ही उस पर शान्तिपूर्वक सोचने और क्षणिक भावना में बह जाने से रुक जाने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है।

(३) **वह राज्य के विभिन्न वर्गों एवं हितों को प्रतिनिधित्व देने का सरल साधन प्रदान करता है**—वह अनुदार तथा प्रगतिशील

दोनों प्रकार के तत्त्वों का मिलन-स्थल होता है। उसे ज्ञान और बुद्धि का सरोवर बनाया जा सकता है।

(४) **अपेक्षाकृत अधिक सम्मान पाता है**— द्वितीय सदन, लोक विषयों में अधिक अनुभव-प्राप्त व्यक्तियों से बना होने के कारण विदेशी राज्यों की आंखों में अपेक्षाकृत अधिक सम्मान पाता है और देश के अन्दर तथा बाहर नीति की स्थिरता प्रदान करता है।

(५) **संघीय राज्यों के लिए द्वितीय सदन अपरिहार्य है**—एक-संघ राज्य में निम्न सदन संघ का एक राष्ट्र के रूप में प्रतिनिधित्व करता है जबकि उच्च सदन इकाइयों को प्रतिनिधित्व देता है। अनेक संघों में इकाइयों को उच्च सदन में समान प्रतिनिधित्व दिया गया है जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका की सिनेट में।

(६) **कार्यकारिणी को शक्तिशाली बनाता है**—कुछ लेखक यह भी दावा करते हैं कि द्वितीय सदन कार्यकारिणी की शक्ति बढ़ा देता है। यह कहा जाता है कि कार्यकारिणी एक सदन से दूसरे सदन में अपील कर सकती है। यह तर्क ठीक नहीं। सांसदीय सरकार वाले अधिकांश देशों में कार्यकारिणी केवल निम्न सदन के प्रति ही उत्तरदायी होती है।

(ब) विपक्ष में तर्क—

इन अनेक गुणों के बावजूद भी द्विसदन व्यवस्थापिका की अनेक स्थलों पर कटु आलोचना की जाती है। मुख्य तर्क निम्नलिखित हैं—

(१) **वह अप्रजातान्त्रिक है**—चूंकि द्वितीय सदन की प्रणाली लोकप्रिय सदन द्वारा अभिव्यक्त जनता की आवाज का गला घोंटती है इसलिए वह प्रजातन्त्र के विरुद्ध है। यह कहा जाता है कि प्रजातन्त्र को दो आवाजों में नहीं बोलना चाहिए।

(२) **दो सदनों के बीच गति-अवरोध**— यदि दोनों सदनों की समान सत्तायें होती हैं तो महत्त्वपूर्ण विषयों पर दोनों के बीच गत्यावरोध होना अनिवार्य है जो कि कानून-निर्माण कार्य में बाधक है और कभी-कभी उसे निष्क्रिय बना देता है।

(३) अनावश्यक अथवा दुष्टतापूर्ण—यदि द्वितीय सदन को केवल निलम्बनकारी प्रतिषेध ही प्राप्त है तो वह किसी लाभ का नहीं क्योंकि यदि द्वितीय सदन प्रथम सदन से भिन्न मत रखता है तो वह दुष्टतापूर्ण है और यदि वह एकमत रहता है तो वह अनावश्यक है।

(४) खर्चीला—वह कार्य को दोहरा कर देता है और अनावश्यक खर्च बढ़ा देता है।

(५) एक सदन की निरंकुशता को रोकने का एकमात्र साधन नहीं—यह कहा जाता है कि एक सदन की निरंकुशता को रोकने के लिए बहुत सी अन्य सुरक्षायें भी हैं, जैसे कार्यकारिणी की निलम्बनकारी प्रतिबंध सत्ता, एक ही सदन में कुछ समय बाद दूसरी बार मतदान।

(६) द्वितीय सदन के निर्माण की कोई सन्तोपजनक विधि नहीं—द्वितीय सदन के संगठन की किसी सन्तोपजनक विधि का अभाव एक अन्य तर्क है जो इस प्रणाली के विरुद्ध रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए लार्ड सभा के संगठन को ले लीजिए। पैतृक प्रणाली के, जिस पर लार्ड सभा का निर्माण है, बहुत से आलोचक हैं क्योंकि वह, उन थोड़े से लोगों को छोड़कर जो जन्म के कारण अमीरों के कुल में उत्पन्न हुए हैं, अन्य किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करती। नाम-निर्देशन (nomination) की प्रणाली, जिस पर कनाडा तथा इटली की सिनेटें तथा जापान की लार्ड सभा निर्मित है, की भी बहुत आलोचना की जाती है।

(७) संघ के लिए आवश्यक नहीं—संघ-राज्य में द्वितीय सदन की आवश्यकता को भी हटाया जा सकता है। यह सामान्य अनुभव है कि द्वितीय सदन के प्रतिनिधि दल की लाइन पर वोट देते हैं न कि राज्यों के आधार पर।

(स) निष्कर्ष—

द्विसदन प्रणाली की उपयोगिता का सन्तुलन करते हुए यह स्वीकार करना होगा कि विलम्बकारी सभा के रूप में द्वितीय सदन एक लाभप्रद प्रतिबन्ध का कार्य करता है। लार्ड सभा की किसी भी विधेयक को एक

साल तक विलम्ब करने की सत्ता लोकमत पर प्रभाव डालने के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करती है। वह जनता के क्रान्तिकारी विचारों पर भी एक उत्तम ब्रेक का कार्य करती है। वह बुद्धिमत्ता, अनुभव और ज्ञान का सरोवर है। अस्तु द्वितीय सदन के अनेक गुणों को मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता। वे देश भी जो पिछले कुछ समय से एकसदन प्रणाली पर आ गए हैं अब पुनः द्विसदन प्रणाली पर वापिस हो रहे हैं।

Q. 89. How should the Upper Chamber be constituted and what powers would you assign to it ?

उच्च सदन का संगठन किस प्रकार किया जाना चाहिए और तुम उसे कौन कौन सी शक्तियां प्रदान करोगे ?

Ans.

प्रायः सभी आधुनिक राज्यों में व्यवस्थापिका का संगठन द्विसदन प्रणाली के आधार पर किया गया है। लेकिन दोनों सदनों का संगठन एक-समान नहीं होना चाहिए और न उनके कार्य ही। वह मुख्य सिद्धान्त जिस पर कि उच्च सदन कार्य करता है यह है कि उसका निर्माण प्रथम सदन से भिन्न प्रकार का होना चाहिए ताकि प्रत्येक विधेयक पर एक भिन्न प्रकृति वाले व्यक्तियों द्वारा एक बार पुनः विचार कर लिया जाय।

निम्न सदन साधारणतः प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित सभा होती है। द्वितीय सदन मुख्यतः या तो एक पैतृक (hereditary) सभा होती है जैसे इंग्लैण्ड में, या एक मनोनीत (nominated) सभा होती है जैसे कनाडा में अथवा एक अप्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित भवन होता है जैसा कि फ्रांस में अथवा एक आंशिक रूप में निर्वाचित और आंशिक रूप में मनोनीत भवन होता है जैसे भारत की राज्य-परिषद्। लेकिन एक बात निश्चित है और वह यह है कि उच्च सदन में सभी जगह अपने सदस्यों के लिए उच्चतम योग्यताओं की आवश्यकता है और उनका कार्य-काल भी निम्न सदन की अपेक्षा लम्बा होता है और वह राज्य के विभिन्न हितों

का प्रतिनिधित्व करता ।

विभिन्न हितों तथा वर्गों और विशेषकर समाज के कुलीन भाग को प्रतिनिधित्व देने के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। ब्लन्श्ली (Bluntschli) कहता है कि "हम राज्य के कुलीन तथा प्रजातान्त्रिक तत्वों के अन्तर की उपेक्षा नहीं कर सकते और इनमें से एक को प्रतिनिधित्व देकर दूसरे के प्रति अन्याय नहीं कर सकते।" जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने राजनैतिक अनुभव एवं शिक्षा के सिद्धान्त पर निर्मित द्वितीय सदन का प्रतिपादन किया था। उसने कहा कि अगर एक सदन लोकप्रिय भावना का प्रतिनिधित्व करता है तो दूसरे को वैयक्तिक योग्यता का प्रतिनिधित्व करना चाहिए जिसकी वास्तविक लोक सेवा द्वारा परीक्षा की जा चुकी हो। मिल का यह तर्क था कि ऐसा सदन केवल विचारों की गर्मी को रोकने वाला भवन अथवा एक साधारण प्रतिबन्ध ही नहीं होगा वरन् एक प्रभावपूर्ण बल भी होगा। सिडनी वैब (Sydney Webb) अपनी लार्ड सभा की पुनर्निर्माण की योजना में द्वितीय सदन में व्यावसायिक (vocational) प्रतिनिधित्व का प्रतिपादन करता है। उसका कहना है कि अगर कामन्स सभा जनता का प्रतिनिधि भवन है और प्रदेशीय आधार पर निर्वाचित है तो लार्ड सभा को विभिन्न व्यवसायों का प्रतिनिधि होना चाहिए।

लेकिन द्विसदन प्रणाली की सफलता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि समाज के प्रत्येक वर्ग एवं हित को प्रतिनिधित्व मिल जाय। द्विसदन प्रणाली के पूर्ण लाभ को प्राप्त करने के लिए जो बात आवश्यक है वह यह है कि दोनों सदनों की रचना भिन्न प्रकार की होनी चाहिए और उन्हें असमान आधारों पर अवलम्बित होना चाहिए। एक के सदस्यों को अपेक्षाकृत लम्बा कार्यकाल प्राप्त होना चाहिए, उन्हें अपेक्षाकृत बड़े निर्वाचनक्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए, उनकी योग्यतायें ऊंची होनी चाहिएं और उनका चुनाव एक भिन्न प्रणाली एवं भिन्न प्रकार से निर्मित निर्वाचक-मण्डलों द्वारा किया जाना चाहिए। जहां ये बातें होंगी वहां उच्च सदन एक अपेक्षा-

(२) स्त्रियों की रक्षा के लिए विशेष कानून निर्माण आवश्यक—स्त्रियों को अपनी सुरक्षा के लिए भी मताधिकार की आवश्यकता है ताकि वे अपने को पुरुषों के हाथों द्वारा बनाये गए अन्यायी कानूनों से बचा सकें। जब औरतें जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों की प्रतियोगिता करती हैं—सार्वजनिक एवं निजी दोनों प्रकार के—तो उनका केवल पुरुषों द्वारा ही शासित होना किसी भी तरह न्याय्य नहीं।

(३) प्रजातन्त्र को इसकी जरूरत है—लिंग-भेद के कारण मताधिकार का नियन्त्रण प्रजातन्त्र की भावना के प्रतिकूल है। प्रजातन्त्र जनता द्वारा और जनता की इच्छा से शासन है।

(४) नागरिक अधिकार और राजनैतिक अधिकार साथ साथ चलने चाहिएँ—जब स्त्रियाँ प्रत्येक देश में समस्त नागरिक अधिकारों का भोग करती हैं तो उन्हें राजनैतिक अधिकारों से इन्कार करने का कोई कारण नहीं है। नागरिक अधिकार मिल जाने के बाद उन्हें राजनैतिक अधिकार भी मिलने चाहिएँ। यह भी कहा जाता है कि यह अयोग्यता बहुत से देशों में लाखों के भाग्य पर शासन करने के लिए स्त्रियों के गद्दी पर बैटने के प्रतिकूल है।

(५) पवित्रकारी एवं उत्तम बनाने वाला प्रभाव—यह भी कहा जाता है कि स्त्रियों का मताधिकार सार्वजनिक जीवन में एक पवित्रकारी, उत्तम तथा शिष्ट बनाने वाले प्रभाव का संचार करेगा। उन देशों में, जहाँ वे मताधिकार प्राप्त कर चुकी हैं, लोकोपकारी सामाजिक कानून प्रस्तुत करने में समर्थ हुई हैं जैसे बाल-श्रम (child labour), स्त्रियों के कारखानों तथा खानों में काम करने और लोक-स्वास्थ्य के सम्बन्ध में।

(ब) स्त्रियों के मताधिकार के विरुद्ध तर्क—

(१) स्त्रियोचित गुण नष्ट हो जाते हैं—जो लोग स्त्रियों को राजनैतिक अधिकार दिये जाने का विरोध करते हैं वे कहते हैं कि यदि वे देश के राजनैतिक जीवन में भाग लेंगी तो उससे उनके स्त्रियोचित गुण नष्ट हो जाएँगे। स्त्री घर का कार्य करने वाली देवी होती है और मातृत्व का कार्य

ही उसका उचित उत्तरदायित्व है। यदि वह अपने को राजनैतिक क्षेत्र में लगाती है तो उससे घर की पवित्रता नष्ट हो जायगी और कौटुम्बिक जीवन का स्तर गिर जायगा।

(२) **कौटुम्बिक जीवन में कलह**—यह तर्क भी किया जाता है कि स्त्रियों को मताधिकार प्रदान करने से घरेलू जीवन में पति और पत्नी के बीच तथा माता और पुत्र के बीच कलह उत्पन्न हो जायगा।

(३) **सक्रिय सेवा के अयोग्य**—स्त्रियों के मताधिकार के कुछ विरोधियों द्वारा यह कहा जाता है कि अपनी भौतिक कमजोरी के कारण वे नागरिकता के समस्त कर्त्तव्यों और अनुबन्धताओं को पूर्ण करने में असमर्थ हैं। वे सैनिक-सेवा में अनुचित भाग नहीं ले सकती तथा ऐसे ही अन्य कर्त्तव्यों में जिनमें शारीरिक शक्ति की आवश्यकता होती है। इसलिए उन्हें राजनैतिक मताधिकार की माँग करने का कोई अधिकार नहीं है। लेकिन यह तर्क उचित नहीं प्रतीत होता। गत महायुद्ध में स्त्रियों ने अपने देश की रक्षा में अमूल्य सेवा की है और युद्ध के प्रयत्नों में उनका योग पुरुषों से किसी भी तरह कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है।

(४) **स्त्रियाँ मताधिकार के प्रति उदासीन**—यह भी कहा जाता है कि स्त्रियों में मताधिकार के प्रयोग के सम्बन्ध में एक सामान्य उदासीनता पाई जाती है। जिन देशों में उन्हें यह अधिकार दिया गया है वहाँ उन्होंने अधिक संख्या में इसके प्रयोग में भाग नहीं लिया है जिससे कि इस प्रयोग को सफल कहा जा सके। लेकिन उनको राजनैतिक अधिकार से वंचित रखने का कोई कारण नहीं है जो उसका लाभ उठाने को उत्सुक हों।

(५) **स्त्रियाँ पुरुषों का अनुसरण करती हैं**—अन्त में, यह भी कहा जाता है कि स्त्रियों को मताधिकार देने से मत देने वालों की संख्या बढ़ जायगी किन्तु उसके गुण में कोई अन्तर नहीं आयगा। स्त्रियाँ साधारणतः अपने पुरुष पथ-प्रदर्शकों का अनुसरण करती हैं चाहे वे पिता, पति अथवा पुत्र ही क्यों न हो। इसलिए वोटरों की हैसियत में वे केवल-मात्र 'हाँ' करने वाली साधन होती हैं।

(२) **आधारभूत सिद्धान्तों पर एकमत**—कुछ सिद्धान्तों में सामान्य विश्वास ही व्यक्तियों को एक-दूसरे से मिलाता है। कार्यक्रम की छोटी-छोटी बातों के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। लेकिन आधारभूत सिद्धान्तों पर उन सबका एकमत होना आवश्यक है। जब तक आधारभूत सिद्धान्तों पर समझौता नहीं होगा तो वे उस पथ के सम्बन्ध में सहयोग नहीं कर सकते जिसका वे समर्थन करते हैं।

(३) **वैधानिक साधन**—राजनैतिक दल अपने सिद्धान्तों को सरकार पर अधिकार करके वैधानिक साधनों द्वारा प्राप्त करना चाहता है। इस तरह उन्हें मत-पत्र की पेटी (Ballot Box) शक्ति प्रदान करती है।

(४) **राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि**—बर्क (Burke) ने इस बात पर जोर दिया था कि राजनैतिक दल का अस्तित्व वर्गीय अथवा साम्प्रदायिक हितों से भिन्न राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिए होता है। उसकी राजनैतिक दल की परिभाषा इस प्रकार है : "अपने संयुक्त प्रयत्नों द्वारा एक विशेष सिद्धान्त के आधार पर, जिससे वे सभी सहमत हैं, राष्ट्रीय हितों की वृद्धि करने के लिए एकत्रित व्यक्तियों का समूह।"

(स) राजनैतिक दल के कर्त्तव्य—

प्रजातन्त्र और राजनैतिक दल साथ-साथ चलते हैं। प्रतिनिधि सरकार वाले राज्य में वे लोकमत की अभिव्यक्ति के सर्वोत्तम माध्यम हैं और इस सम्बन्ध में वे कुछ अपरिहार्य कार्य करते हैं :—

(१) **सामान्य इच्छा का निर्माण**—राजनैतिक दल सामान्य इच्छा के निर्माण एवं उसकी अभिव्यक्ति में सहायता करते हैं—निर्वाचनों का संगठन करके तथा उन्हें जीतकर। वे मतदाताओं के आगे उनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के लिए दल का कार्यक्रम रखकर व्यवस्था उत्पन्न करते हैं।

(२) **जनता की राजनैतिक शिक्षा**—राजनैतिक दल जनता को शिक्षित बनाते हैं तथा लोकमत का निर्माण करते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य चुनाव जीतने के लिए जनता की सद्भावना प्राप्त करना है ताकि उनके वोट मिल सकें और यह कार्य वे छापेखाने, रंगमंच तथा अन्य साधनों द्वारा करते हैं।

१८—राज्य का कार्यक्षेत्र

Q. 105. What do you think should be the proper sphere of state activity ?

(Punjab 1940, 38; Calcutta 1938, 36)

तुम्हारे विचार से राज्य का उचित कार्यक्षेत्र क्या है ?

Ans.

राज्य के उचित कार्यक्षेत्र की समस्या ने आज बहुत महत्त्व प्राप्त कर लिया है यद्यपि उसका जन्म अभी हाल ही में हुआ था। निश्चय ही यह राजनीति विज्ञान की आधारभूत समस्या है। यही नहीं वरन् वह सबसे अधिक विवादास्पद समस्या भी है। उसके सम्बन्ध में व्यक्तिवाद से लेकर समाजवाद तक विभिन्न प्रकार के मत हैं। अस्तु, राज्य के उचित कार्यक्षेत्र का निर्णय करने के लिए हमें इन विभिन्न मतों की जांच करनी चाहिए और उसके पश्चात् अपना मत निर्धारित करना चाहिए।

(१) व्यक्तिवादी मत—

व्यक्तिवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई (necessary evil) समझते हैं और इसलिए वे राज्य के कार्यों को अधिक-से-अधिक सीमित कर देना चाहते हैं। उनके मतानुसार राज्य को व्यक्ति की सुरक्षा के लिए अपना अविभक्त विचार और ध्यान लगाना चाहिए लेकिन उसके कल्याण की अभिवृद्धि उसके कार्यक्षेत्र के परे है। उसका मुख्य कार्य अपराध और छल का दमन करके सामाजिक शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करना है। व्यक्तिवादी का पथप्रदर्शक सिद्धान्त, जैसा कि डा० आशीर्वादम (Dr. Ashirvadam) ने संकेत किया है, "अधिकाधिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और कम-से-कम राज्य का हस्तक्षेप" है। उसका मत है कि जब राज्य

के सामने बड़ी कठिनाई उपस्थित कर देती है तथा उनका पंथ अन्धकारमय कर देती है। अन्त में दलों का सुसंगठित होना भी आवश्यक है। उनका संगठन देशव्यापी होना चाहिए। तभी वे जनता पर प्रभाव डाल सकते हैं और लोकमत का निर्माण कर सकते हैं।

(५) हितों का सामंजस्य तथा सद्भावना—अन्त में, स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए देश के निवासियों में हितों का सामंजस्य होना भी आवश्यक है। अपने देश के हित के लिए जनता में सहयोग से काम करने की इच्छा होनी चाहिए। लेकिन यह तभी सम्भव है जब सामाजिक संगठन में तीव्र विषमतायें न हों। सामाजिक एकता जितनी ही अधिक होगी लोकमत का निर्माण उतना ही सरल तथा उत्तम हो जायगा।

१८—राज्य का कार्यक्षेत्र

Q. 105. What do you think should be the proper sphere of state activity ?

(Punjab 1940, 38; Calcutta 1938, 36)

तुम्हारे विचार से राज्य का उचित कार्यक्षेत्र क्या है ?

Ans.

राज्य के उचित कार्यक्षेत्र की समस्या ने आज बहुत महत्त्व प्राप्त कर लिया है यद्यपि उसका जन्म अभी हाल ही में हुआ था। निश्चय ही यह राजनीति विज्ञान की आधारभूत समस्या है। यही नहीं वरन् वह सबसे अधिक विवादास्पद समस्या भी है। उसके सम्बन्ध में व्यक्तिवाद से लेकर समाजवाद तक विभिन्न प्रकार के मत हैं। अस्तु, राज्य के उचित कार्यक्षेत्र का निर्णय करने के लिए हमें इन विभिन्न मतों की जांच करनी चाहिए और उसके पश्चात् अपना मत निर्धारित करना चाहिए।

(१) व्यक्तिवादी मत—

व्यक्तिवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई (necessary evil) समझते हैं और इसलिए वे राज्य के कार्यों को अधिक-से-अधिक सीमित कर देना चाहते हैं। उनके मतानुसार राज्य को व्यक्ति की सुरक्षा के लिए अपना अविभक्त विचार और ध्यान लगाना चाहिए लेकिन उसके कल्याण की अभिवृद्धि उसके कार्यक्षेत्र के परे है। उसका मुख्य कार्य अपराध और छल का दमन करके सामाजिक शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करना है। व्यक्तिवादी का पथप्रदर्शक सिद्धान्त, जैसा कि डा० आशीर्वादम् Ashirvadam) ने संकेत किया है, "अधिकाधिक [illegible] और कम-से-कम राज्य का हस्तक्षेप" है। उनका मत

व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अपने हित की सुरक्षा के लिए हस्तक्षेप करता है तो वह अपनी सीमा के अन्दर ही है। लेकिन जब व्यक्ति के हित और केवल-मात्र उसी के हित का प्रश्न है तो उसे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। जॉन स्टुअर्ट मिल के शब्दों में "अपने ऊपर, अपने ही शरीर और मस्तिष्क पर व्यक्ति प्रभु है।" ("Over himself, own his own body and mind the individual is sovereign."—J. S. Mill) व्यक्तिवादियों का विश्वास है कि व्यक्ति का अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य पर निर्भर होना बहुत हानिकर है। अस्तु, वे 'लैसे फेयर' (Laissez Faire) अथवा 'अकेला छोड़ दो' के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। इस प्रकार, फ्रीमैन (Freeman) के शब्दों में, व्यक्तिवादियों के मतानुसार वह सरकार सर्वश्रेष्ठ है जो कम-से-कम शासन करती है। उसके कार्य केवल पुलिस-सम्बन्धी हैं अर्थात् शान्ति और व्यवस्था कायम रखना, व्यक्ति की आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं से रक्षा करना, सम्पत्ति की रक्षा करना तथा जाली समझौतों और उनके भंग से व्यक्ति की रक्षा करना।

राज्य के कार्यों का यह दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण है और आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है। हम राज्य को आवश्यक बुराई नहीं मानते वरन् हम उसे एक कल्याणकारी संस्था मानते हैं जिसका अस्तित्व व्यक्तियों के हित के लिए है। इस प्रकार उसका कार्य-क्षेत्र केवल पुलिस-कार्यों तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। वास्तविक व्यवहारिक रूप में भी व्यक्तिवादी जो कहते हैं उससे कहीं अधिक कार्य राज्य करते हैं। अस्तु, राज्य के कार्य-क्षेत्र का यह दृष्टिकोण स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

(२) समाजवादी मत—

राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में समाजवादी मत व्यक्तिवादी मत के ठीक विपरीत है। व्यक्तिवादी की तरह राज्य को एक आवश्यक बुराई न मानकर समाजवादी उसे एक विध्यात्मक भलाई (positive good) मानता है। फलस्वरूप राज्य के कम-से-कम कार्यों के स्थान पर वह उन्हें अधिकाधिक

देखना चाहता है। वह उसके कार्यों को बहुत व्यापक क्षेत्र में बढ़ा देने की चेष्टा करता है। वह कहता है कि राज्य को अपने को केवल पुलिस-कार्यों तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। इसके विपरीत उसे सब वर्गों के व्यक्तियों के सामान्य हितों की वृद्धि करनी चाहिए। उसे जीवन के आर्थिक पहलुओं का भी विनियमन तथा नियन्त्रण करना चाहिए। संक्षेप में समाजवादी का लक्ष्य "एक सहकारी कॉमनवेल्थ (common wealth) है जो उत्पादन के समस्त साधनों का नियन्त्रण करता हो और संयुक्त नियन्त्रण की किसी विधि द्वारा विभाजन अथवा वितरण का विनियमन करता हो।"

राज्य के कार्यों का यह मत भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता। वह अत्यन्त सैद्धान्तिक तथा अव्यावहारिक है। मानव-प्रगति की वर्तमान अवस्था में राज्य इतने विस्तृत कार्यों को सम्भालने योग्य नहीं है। यह प्रतीत होता है कि समाजवादी सरकार की कार्यक्षमता के सम्बन्ध में अत्यन्त आशावादी है। डा० आशीर्वादम के शब्दों में "मनुष्य की नैतिक प्रगति की वर्तमान अवस्था में समाजवाद का अर्थ होगा भ्रष्टाचार, षड्यन्त्र और वैयक्तिक ईर्ष्या के अवसरों में अप्रत्याशित अभिवृद्धि।" (Dr. Ashirvadam)

(३) आदर्शवादी मत—

राज्य के कार्यक्षेत्र का आदर्शवादी मत व्यक्तिवाद और समाजवाद के बीच का है। वह न अत्यन्त संकीर्ण है न विस्तृत अपितु काल्पनिक ही है। वास्तव में वह इन दो अन्तिम सीमाओं के बीच एक समन्वय है।

आदर्शवादी राज्यके सम्बन्ध में बहुत ऊंचा विचार रखता है। वह उसे प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में जो सर्वोत्तम वस्तु है उसका प्रत्यक्ष रूप मानता है। उसकी दृष्टि में राज्य एक नैतिक संस्था है और उसकी आज्ञा मानने में हम अपनी ही आज्ञाओं का पालन करते हैं। राज्य के इतने ऊंचे दृष्टिकोण से ऐसा लगता है कि आदर्शवादी उसको अत्यन्त विस्तृत या व्यापक कार्य देना चाहेंगे। लेकिन वास्तविकता यह है कि वे उसके क्षेत्र को अत्यन्त सीमित कर देते हैं। राज्य का कार्य केवल-मात्र "बाधाओं को बाधित करना" (hin-

drance of hindrances) है। सीधे शब्दों में राज्य उन बाधाओं को दूर कर सकता है जो व्यक्ति के नैतिक विकास में रुकावट डालते हैं। अशिक्षा, निर्धनता और मद्यपान वे बाधायें हैं जो नैतिक-विकास के मार्ग में आती हैं। अस्तु, राज्य शिक्षा की व्यवस्था कर सकता है, आर्थिक समानता स्थापित कर सकता है और मद्यपान बन्द करा सकता है। लेकिन आदर्शवादी इससे अधिक रियायतें नहीं देना चाहते।

राज्य के कार्यों का यह दृष्टिकोण पर्याप्त रूप से व्यापक है। लेकिन फिर भी इसे निषेधात्मक कहा जाता है और इस आधार पर उसकी आलोचना भी की जाती है। वास्तव में तथ्य यह है कि राज्य के कार्यक्षेत्र का यह मत यद्यपि वह पर्याप्त रूप से विध्यात्मक है, निषेधात्मक भाषा में व्यक्त किया गया है जिसे आजकल पसन्द नहीं किया जाता।

उचित कार्यक्षेत्र—

इस प्रकार ऊपर वर्णित मतों में से एक भी राज्य के कार्यक्षेत्र की समस्या का सन्तोषप्रद हल नहीं प्रदान करता। वास्तविकता यह है कि राज्य के उचित कार्य एक निश्चित वस्तु नहीं हो सकते, वरन् समाज की विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न होते हैं। वे किसी पूर्वनिर्धारित सिद्धान्त के आधार पर ठीक तरह निश्चित नहीं किए जा सकते। आधुनिक जटिल सामाजिक संगठन में राज्य के कार्यक्षेत्र पर कोई सीमा लगाना कठिन है अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि "राज्य यहां तक कार्य करे, इसके आगे नहीं।"

डा० गार्नर (Dr. Garner) ने अपनी पुस्तक "Political Science and Government" में राज्य के कार्यक्षेत्र की समस्या पर कुछ अत्यन्त सुन्दर विचार प्रकट किए हैं। विभिन्न दृष्टिकोणों अथवा मतों की परीक्षा करने के उपरान्त वह लिखते हैं कि राज्य के उचित कार्यक्षेत्र की सीमा अंकित करना असम्भव है क्योंकि समाज की बदलती हुई दशाओं और आवश्यकताओं के अनुसार उसे भी बदलना चाहिए। आज के जटिल समाज में इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं बनाए जा सकते। राज्य को कहां हस्तक्षेप करना चाहिए और कहां नहीं करना चाहिए इस प्रश्न

का निर्णय हर विषय में पृथक रूप से किया जाना चाहिए। यदि कोई नियम बनाना है तो वह निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तरों पर निर्मित किया जाना चाहिए : (१) क्या किसी विषय में राज्य कर हस्तक्षेप सामान्यहित में है ? (२) क्या प्रस्तावित कार्य सफल होगा ? और (३) क्या वह कार्य भलाई की अपेक्षा अधिक हानि न किए बिना किया जा सकता है ? यदि राज्य का कोई कार्य इन शर्तों को पूर्ण करता है तो उसके विरुद्ध इस आधार पर कुछ नहीं कहा जा सकता कि वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अथवा प्राकृतिक अधिकारों को भंग करता है। गार्नर का यह मत सामान्य कल्याण का सिद्धान्त कहा जा सकता है और प्रायः सभी राज्य इसी के अनुसार कार्य करते हैं। हम भी इस दृष्टिकोण से सहमत हैं।

Q. 106. Should there be any limits to state action ? How would you determine the limits, if any ?

क्या राज्य के कार्य-क्षेत्र पर कोई प्रतिबन्ध होने चाहियें ? यदि हां, तो आप कौन से प्रतिबन्ध लगावेंगे ?

Ans.

राज्य का कार्य-क्षेत्र क्या होना चाहिए इस सम्बन्ध में कोई एकमत नहीं है। व्यक्तिवादी तथा समाजवादी दो भिन्न मतों का प्रतिपादन तथा समर्थन करते हैं। व्यक्तिवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई समझते हैं। राज्य का अस्तित्व इसलिए है कि समाज में अपराधों का अस्तित्व है और यदि उन्हें समाज से निकाला जा सकता तो राज्य की कोई आवश्यकता ही न रह जाती। व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य के उचित कार्य हैं : शान्ति कायम रखना, अपराधों को दण्डित करना, हर तरह की चालबाजियों और मारकाट को रोकना, और बाह्य अतिक्रमण के विरुद्ध सभी सम्भव सुरक्षायें करना। इस तरह उसका कार्य केवल प्रतिबन्ध करना है आदेश देना अथवा अभिवृद्धि करना नहीं है। यदि राज्य इन कार्यों के परे जाना चाहता है तो व्यक्तिवादी कहते हैं कि वह व्यक्ति के कार्य करने की स्वतन्त्रता में बाधा

पहुँचाता है, उसके कार्य करने की शक्ति का दमन करता है और समाज के जीवन-शास्त्रीय विकास को रोकता है। संक्षेप में, व्यक्तिवादी केवल एक 'पुलिस राज्य' का समर्थन करते हैं।

दूसरी ओर समाजवादी दूसरे अन्त पर जाते हैं। वे राज्य को एक विध्यात्मक भलाई मानते हैं इसलिए राज्य के लिए अधिकतम सत्ताओं का प्रतिपादन करते हैं। वे आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक सभी बुराइयों के लिए 'लैसे फेयर' (Laissez Faire) नीति को ज़िम्मेदार ठहराते हैं जिसका अनुसरण अभी तक राज्य करते रहे हैं। तदनुसार समाजवादी कहते हैं कि उत्पादन के समस्त उपकरणों पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिए और उसे नागरिकों के जीवन का निर्देशन तथा उसकी अभिवृद्धि करनी चाहिए। यह सत्य है कि उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के सम्बन्ध में समाजवादी आपस में एकमत नहीं हैं। लेकिन फिर भी वे सब इस बात पर एकमत हैं कि व्यक्तिवाद आर्थिक एवं राजनैतिक शोषण है और मनुष्य का कल्याण केवल एक समाजवादी राज्य में ही सम्भव हो सकता है।

साथ ही यह भी नोट कर लेना चाहिए कि व्यक्तिवाद तथा समाजवाद दोनों का ही लक्ष्य मनुष्य का कल्याण है, लेकिन उसको प्राप्त करने के तरीकों के सम्बन्ध में उनका मतभेद है। राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में आधुनिक मत न तो व्यक्तिवादी है न समाजवादी ही। राज्य को केवल-मात्र पुलिस-राज्य नहीं होना है। राज्य को कुछ नैतिक हितों की अभिवृद्धि करनी है। उसका लक्ष्य मनुष्य का कल्याण होने के कारण उसे वे सब बातें करनी चाहियें जो सामान्य कल्याण में सहायक होती हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह समाजवाद के सिद्धान्त को पूर्णतया स्वीकार कर ले। राज्य द्वारा अत्यधिक हस्तक्षेप की भी आलोचना की गई है और यह कहा गया है कि जब राज्य प्रत्येक कार्य करता है तो उसका अर्थ सब की खराबी होता है क्योंकि राज्य की सर्व-क्षमता का अर्थ उसकी अयोग्यता होता है।

यह कहना अत्यन्त कठिन है कि राज्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए क्योंकि एक राज्य के कार्यों की सीमा उसकी परि-

स्थितियों और आवश्यकताओं पर निर्भर रहती है। एक पिछड़े हुए समाज में, जैसा कि अफ़ग़ानिस्तान का है, राज्य को ऐसे अनेक कार्य करने पड़ सकते हैं जो सभ्य-समाज में राज्य न करे। फिर, जैसे-जैसे समाज की जटिलता बढ़ती जाती है उसी के अनुरूप राज्य का कार्य-क्षेत्र स्वयमेव बढ़ जाता है। शान्ति और सुव्यवस्था कायम नहीं की जा सकती यदि राज्य आज की असमानताओं अथवा विषमताओं को बने रहने की आज्ञा दे देता है—आर्थिक तथा राजनैतिक दोनों तरह की—और निर्धनों की दशा सुधारने के लिए कोई कदम नहीं उठाता। राज्य को राष्ट्र की सभ्यता की अभिवृद्धि भी करनी चाहिए और इस तरह राज्य को कला, विज्ञान और साहित्य की अभिवृद्धि करनी चाहिये और आर्थिक तथा सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप करना है। लेकिन साथ ही राज्य को पर्याप्त सचेत भी होना चाहिए ताकि वह यह देख सके कि उसका हस्तक्षेप बिना उनकी स्वतन्त्रताओं को अनावश्यक रूप से प्रतिबन्धित किये हुए नागरिकों के कल्याण की वृद्धि करता है। नागरिकों के कल्याण के लिए हिटलर तथा मुसोलनी ने अपने राज्य सर्वक्षम बना दिए थे। वास्तव में उन्होंने राज्य को एक लक्ष्य बना दिया था और व्यक्ति जो कुछ भी हो सकता था वह राज्य के द्वारा ही।

राज्य को क्या करना चाहिए इसका निर्धारण जनता के मनोविज्ञान तथा स्वभाव से भी होता है। उदाहरणतः कोई भी चीज जो राज्य द्वारा की जाती है अथवा उसके द्वारा प्रस्तुत और समर्थन की जाती है उसके साथ व्यक्तिगत कार्य की अपेक्षा जनता का विश्वास अधिक रहता है। हमारी रेलें राज्य की हैं। संचित कोष (Reserve Bank) का राष्ट्रीयकरण होना है। फ्रान्स में भी जो कुछ भी राज्य करता है उसमें जनता का अधिक विश्वास और समर्थन रहता है।

जब राज्य के कार्यों का निर्धारण करने के लिए एक निश्चित लकीर नहीं खींची जा सकती तो हम कह सकते हैं कि साधारण नियम के तौर पर यदि किसी विषय में राज्य के हस्तक्षेप का उद्देश्य सामान्य हित के लिए है, यदि राज्य का प्रस्तावित कार्य प्रभावपूर्ण होने की सम्भावना रखता है और

जैसे शिक्षा, निर्धनों की सहायता, बेकारी दूर करना, जन-स्वास्थ्य की देख-भाल, कृषि, उद्योग आदि। यह कहा जाता है कि राज्य का कार्य 'निषेधात्मक रूप से विनियामक' (negatively regulative) है। उसका अस्तित्व "रक्षा करने और रोकने के लिए है, पोषण करने और अभिवृद्धि करने के लिए नहीं।" इस सिद्धान्त का समर्थन निम्न आधारों पर किया जाता है—

(ब) पक्षीय तर्क—

(१) नैतिक तर्क—यह तर्क रूसो (Rousseau) कान्ट (Kant) फिक्टे (Fichte) (Mills) जैसे दार्शनिकों ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा कि अकेला छोड़ दिया जाना प्रत्येक व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है। वह अपने व्यक्तित्व का विकास तभी कर सकता है और तभी उसका जीवन सर्वोत्तम हो सकता है जब कि उसके जीवन की दशा के साथ सरकारी हस्तक्षेप कम-से-कम कर दिया जाय। केवल स्वतन्त्रता के वातावरण में ही व्यक्ति की शक्तियां अच्छी तरह विकास कर सकती हैं। 'लैसे फेयर' की नीति का अर्थ है प्रतियोगिता अथवा स्पर्धा का स्वच्छन्द खेल। यह कहा जाता है कि आत्मा मानव-प्रकृति का सार्वलौकिक सिद्धान्त है और अन्ततः व्यक्ति स्वयं ही अपने हितों की सर्वश्रेष्ठ जानकारी रखता है। जीवन के लिए संघर्ष में उसका स्वयं कार्य करना उसके मस्तिष्क को तेज़ कर देगा, उसकी शक्तियों को दृढ़ कर देगा और उसके आत्म-निर्भरता के भाव को बढ़ा देगा। दूसरी ओर सरकारी कार्यवाही आत्म-विकास की प्रेरणा का नाश कर देती है और इसलिए न्याय के नियमों की यह मांग है कि व्यक्ति को अकेला रहने का अधिकार है।

(२) आर्थिक तर्क—यह सिद्धान्त एक स्वस्थ आर्थिक सिद्धान्त पर भी आधारित है। यह कहा जाता है कि अनुभव यह बताता है कि व्यापार और धन्धे तभी फूलते-फलते हैं जब उन्हें निजी व्यक्तियों के हाथ में छोड़ दिया जाता है। एक खुली प्रतियोगिता के बाजार में सभी तत्त्व आवश्यकता और रसद (demand and supply) के अनुरूप अपने को बैठा

लेंगे। स्वतन्त्र प्रतियोगिता सस्ते उत्पादन को प्रोत्साहन देती है, मूल्य का विनियमन करती है और पूंजी के स्वच्छन्द प्रवाह को सम्भव बनाती है। प्रत्येक व्यक्ति की जैसा चाहे करने की स्वतन्त्रता—अपनी पूंजी और श्रम के साथ—सबके सामान्य हित में है। सरकार के प्रतिबन्ध केवल आर्थिक ढांचे को खराब कर देते हैं। एडम स्मिथ (Adam Smith) इसका बहुत समर्थन करते हैं क्योंकि सरकार के द्वारा हस्तक्षेप न किया जाना सम्पत्ति की अधिकाधिक उत्पत्ति में सहायक होता है।

(३) वैज्ञानिक तर्क—यह दिखाया गया है कि यह सिद्धान्त विकासवादी कानून (Law of evolution) के अनुकूल है। हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने जीवशास्त्रीय सादृश्य के आधार पर यह कहा कि पशु के जीवन की तरह मनुष्य जाति में भी व्यक्ति को अपने लिए संघर्ष करना चाहिए और उसमें विजित अथवा नष्ट होना चाहिए, क्योंकि योग्यतम ही जीवित रहता है और केवल उसे ही जीवित रहना भी चाहिए। कमजोरों तथा असमर्थों को नष्ट हो जाना चाहिए, क्योंकि योग्यतम का जीवित रहना ही प्राकृतिक नियम है। अन्त में यदि शक्तिशाली और समर्थ व्यक्ति जीवित रहते हैं और अयोग्य अंश नष्ट हो जाते हैं तो समाज का हित होता है। स्पेन्सर ने निर्धनों, असहायों और असमर्थों को राज्य की किसी भी तरह की सहायता दिये जाने से इनकार कर दिया था।

(४) अनुभव के आधार पर तर्क—व्यक्तिवादी इतिहास से भी अपने सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं जहां सरकार आर्थिक कार्यों में अपने हस्तक्षेप में असफल रही है। गत-महायुद्ध के संकटों ने राशनिंग और नियन्त्रण को जन्म दिया है। व्यक्तिवादी कहते हैं कि काला बाजार (black market) प्रतियोगी शक्तियों के स्वतन्त्र कार्यकरण में बाधाओं का परिणाम है।

(५) राज्य की अयोग्यता का तर्क—यह कहा जाता है कि राज्य समाज की आर्थिक उन्नति का विनियमन और निर्देशन करने के अयोग्य है।

एक व्यावसायिक कार्यकर्ता और उद्योग के नियन्त्रक के रूप में सरकार के लिए अयोग्य होना अनिवार्य है। जो लोग जोखिम उठाते हैं वे राज्य के अधिकारियों की अपेक्षा अधिक कार्यक्षमता और मितव्ययता से कार्य करते हैं जिन्हें कोई खतरा नहीं होता।

(स) विपक्षी तर्क—

उन्नीसवीं सदी में 'लैसे फेयर' (Laissez Faire) के सिद्धान्त का बहुत समर्थन किया गया और वह प्रायः प्रत्येक सभ्य सरकार का राजनैतिक धर्म बन गया। लेकिन शीघ्र ही उसके दोष दिखाई देने लगे और व्यक्तिवाद के विरुद्ध भारी प्रतिक्रिया हुई। इस सिद्धान्त के आलोचकों ने कहा कि :—

(१) **राज्य उत्तम जीवन के लिए है**—यह धारणा कि राज्य का अस्तित्व अपराधों के कारण है उचित अथवा मान्य नहीं। यह विश्वास करना गलत है कि राज्य की उत्पति केवलमात्र मनुष्य की स्वार्थी और बुरी प्रवृत्तियों को रोकने के उद्देश्य से हुई। राज्य की उत्पत्ति का यह मत, जिस पर इस सिद्धान्त पर विश्वास करता है, इतिहास द्वारा सत्य नहीं सिद्ध होता। राज्य की उत्पत्ति जीवन के लिए हुई और अच्छे जीवन के लिए वह कायम हैं यह कथन अरस्तू का है जो कि सत्य के अत्यन्त निकट है।

(२) **स्वतन्त्रता राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव है**—यह धारणा कि राज्य के कार्यों का विस्तार स्वतन्त्रता का विरोधी है, गलत है। सच्ची स्वतन्त्रता का अर्थ सही बात चुनने और करने में है। ऐसी स्वतन्त्रता केवल राज्य के कार्य द्वारा ही सम्भव बनाई जाती है।

(३) **राज्य मनुष्य की कार्यवाहियों के विनियमन के लिए आवश्यक है**—अपना स्वार्थ सचमुच ही प्रत्येक व्यक्ति का उद्देश्य रहता है परन्तु मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते हुए उसे अपने को ऐसा बना लेना चाहिए कि उसके हित दूसरों के हितों से टकरायें नहीं। वह समाज में पैदा होता है और उसके सदस्य की हैसियत में ही जीवित रहता है और मर जाता है। इसलिए वह समाज के कल्याण के प्रति उदा-

सीन नहीं हो सकता। समाज के कल्याण के निक्षेपधारी के रूप में राज्य को व्यक्ति के कार्यों का विनियमन करने का अधिकार है।

(४) मनुष्य अपने हितों का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक नहीं—यह तक कि मनुष्य अपने हितों का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक होता है केवल एक अत्यन्त सीमित क्षेत्र तक ही सत्य है। समाज मनुष्य की अपेक्षा उसकी मानसिक, नैतिक और शारीरिक आवश्यकताओं तक का श्रेष्ठतर निर्णायक है। व्यक्ति को सदा अपने हितों का निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देना, विशेषकर शिक्षा, सफ़ाई, श्रम, कानूनों आदि के सम्बन्ध में, स्पष्टतः अवांछनीय है। इसमें शक नहीं कि आर्थिक स्वतन्त्रता होती है लेकिन उसके साथ कुछ प्रतिबन्ध भी होते हैं।

(५) व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य आवश्यक—सरकार के सभी कार्य व्यक्ति की प्रकृति के विकास पर हानिकारक असर नहीं डालते। दूसरी ओर अनुभव हमें यह बताता है कि राज्य ही वह वातावरण प्रदान करता है जो कि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है।

(६) स्वतन्त्र प्रतियोगिता समस्त बुराइयों का कारण—स्वतन्त्र प्रतियोगिता को महत्त्व प्रदान करने वाला आर्थिक तर्क अनिर्णायक सिद्ध किया जा सकता है। आज समाज में जो आर्थिक बुराइयां हैं वे प्रत्यक्षतः स्वतन्त्र प्रतियोगिता की परिणामस्वरूप हैं। यह उनके लिए अच्छी हो सकती है जो आर्थिक दृष्टि से मज़बूत हैं, लेकिन कमज़ोर के लिए यह एक यथार्थ बाधा है। प्रतियोगिता को खर्चीला बताया गया है जो कि भौतिकवाद, अनौचित्य, बेईमानी है और व्यक्ति के चरित्र के स्तर को सामान्यतः नीचा कर देती है।

(७) समर्थों के जीवित रहने का सिद्धान्त मनुष्य-मात्र के सम्बन्ध में लागू नहीं होता—मनुष्य-मात्र के सम्बन्ध में शारीरिक दृष्टि से समर्थ जीवित नहीं रहते वरन् नैतिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ट व्यक्ति जीवित रहते हैं। यदि समर्थों के जीवन को समाज का आधार स्वीकृत कर लिया जाय तो स्वभावतः शक्ति का ही बोलबाला रहेगा और इसका अर्थ बर्बरता को लौट

जाना होगा।

(८) राज्य के कार्य अधिक अच्छे होते हैं—यह तर्क कि सरकार आर्थिक कार्य करने के अयोग्य है वास्तविकताओं द्वारा गलत सिद्ध होता है। भारत में रेलों, डाक और तारघरों ने राज्य के नियन्त्रण में सफलतापूर्वक कार्य किया है।

उन्नीसवीं सदी के व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और समाजवाद के उदय ने इस सिद्धान्त की भ्रान्ति को सिद्ध कर दिया है। यह मान्य सिद्धान्त नहीं है क्योंकि वह झूठी धारणाओं पर आधारित है। अस्तु, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सरकार के चालन में शुद्ध व्यक्तिवाद सम्भव नहीं है। वास्तव में वह वैयक्तिक और सामाजिक अधिकारों को पृथक् करने के प्रयत्न पर निर्भर है। आर्थिक आधार पर वह सहयोग विनियमित प्रयत्नों के लाभों की उपेक्षा करता है। वैज्ञानिक मत के रूप में वह परीक्षा में ठहर नहीं सकता। इस कथन का सत्य स्पष्ट है और आज हम कोई भी राज्य ऐसा नहीं पाते जो केवल पुलिस-कार्य करता हो। प्रत्येक राज्य का कार्यक्षेत्र काफ़ी विस्तृत हो गया है और सभ्यता की जटिलता के साथ वह और भी अधिक विस्तृत होगा।

Q. 109. Discuss the socialists' case for the extension of the functions of the State.

(Punjab 1937; Nagpur 1942)

समाजवादियों द्वारा राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ाए जाने के विषय की विवेचना कीजिए।

Ans.

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में समाजवादी मत "लैसे फेयर" (Laissez Faire) सिद्धान्त के ठीक विपरीत है। वास्तव में समाजवाद के सिद्धान्त का उदय उन्नीसवीं सदी के व्यक्तिवाद की ज़्यादतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। जबकि व्यक्तिवाद राज्य के कार्यक्षेत्र को पुलिस-कार्यों तक ही सीमित करना चाहता था, समाजवाद सरकार के कार्यों के विस्तार का प्रयत्न

करने लगा। नीचे हम सरकार के कार्यों के समर्थन में समाजवादी सिद्धान्त की परीक्षा तनिक विस्तारपूर्वक करेंगे।

समाजवादी राज्य को एक विध्यात्मक अच्छाई मानता है, आवश्यक बुराई नहीं जैसा कि व्यक्तिवादी मानता है। उसके लिए राज्य विध्यात्मक अच्छाई का सर्वोच्च प्रतिरूप है जिसके द्वारा अधिकांश मनुष्यों के लिए सामान्य आर्थिक, नैतिक और मानसिक हितों की अभिवृद्धि सम्भव होती है। इसलिए अल्पतम राज्य के कार्य के स्थान पर वह अधिकतम कार्य चाहता है। उसका उद्देश्य अथवा लक्ष्य "एक सहकारी राज्य" (cooperative commonwealth) है जो उत्पादन के समस्त साधनों पर नियन्त्रण करता हो और किसी प्रकार के संयुक्त नियन्त्रण के अनुसार विभाजन का विनियमन करता हो। दूसरे शब्दों में समाजवादी विभिन्न उद्योगों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित करना चाहता है।

अपने मत के समर्थन में समाजवादी जो तर्क देता है उन्हें हम निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :—

(१) सर्वप्रथम वह कहता है कि जिन उद्योगों में एकाधिकार स्वाभाविक है उनको अपने नियन्त्रण में ले लेना राज्य के लिए आवश्यक रूप से श्रेष्ठ-कर है ताकि जनता के हितों की सुरक्षा रहे। ऐसे उद्योगो में, जिनमें बहुत अधिक मूल्य की आवश्यकता होती है जिनका क्षेत्र बहुत व्यापक होता है, अन-एकाधिकार के आधार पर निजी प्रतियोगिता असम्भव है और इसलिए जल्दी ही या कुछ काल में एकाधिकारी संगठन का जन्म हो जाता है जो कि जनता के हित के विरुद्ध है। यदि समस्त जनता को विभिन्न प्रकार के लाभों और करों का उपयोग करना है तो यह आवश्यक है कि राज्य उत्पादक साधनों पर स्वामित्व कर ले।

(२) दूसरे, उन उद्योगों में भी, जो कि प्रतियोगिता के आधार पर चलाए जा सकते हैं—बिना एकाधिकारी स्वरूप धारण किए—राज्य का स्वामित्व उस व्यर्थ बरबादी को दूर कर देगा जो प्रतियोगी प्रबन्ध में होती है।

(३) अन्त में, राज्य के स्वामित्व के विस्तार से मानवीय और प्राकृतिक

of production, but when we come to a large-scale production which effects the lives of many people, state ownership and control might well be the order of the day." Dr. Ashirvadam)

Q. 110. The State has no positive function of making its members better; it has the negative moral function of removing the obstacles which prevent them from making themselves better." Examine this statement critically.

(Agra 1952)

Or

"The function of the State is the hinderance of hinderances." Is this a suitable criterion of State activity ?

(Agra 1943, 39, 34)

"राज्य को अपने सदस्यों को अच्छा बनाने का कोई यथार्थ कार्य प्राप्त नहीं है; उसको उन बाधाओं को हटाने का निषेधात्मक कार्य प्राप्त है जो उनको अच्छा बनने से रोकती हैं।" इस कथन की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।

अथवा

"राज्य का कार्य रुकावटों को रोकना है।" क्या राज्य के कार्य क्षेत्र का यह उचित मापदण्ड है ?

Ans.

राज्य के कार्य-क्षेत्र का निर्णय करने के सम्बन्ध में राजनैतिक विचारकों में बहुत मतभेद है। व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य अधिक-से-अधिक एक आवश्यक बुराई है और उसका अस्तित्व केवल पुलिस-कार्यों के लिए है।

समाजवादियों के अनुसार राज्य अच्छाई का मूर्तरूप है और इसलिए उसे देश के वाणिज्य और व्यापार का भी संरक्षक बना देना चाहिए ताकि पूंजीपति मजदूरों का शोषण न कर सकें। ग्रीन जैसे आदर्शवादी राज्य के कार्यों का एक सर्वथा नया मापदण्ड रखते हैं। उनके मतानुसार राज्य को केवल उत्तम जीवन की बाधाओं को ही बाधित करना चाहिए।

ग्रीन का विश्वास है कि इस पृथ्वी पर मानव-जीवन का लक्ष्य मनुष्य में नैतिकता के विकास के द्वारा उच्चतर सत्व (Self) प्राप्त करना है। अपने जन्म से ही मनुष्य अपने अस्तित्व के इस नैतिक उद्देश्य से परिचित होता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उसे स्वतन्त्रता की आवश्यकता होती है जो उसे केवल अधिकारों की प्रणाली द्वारा ही मिल सकती है जिसे समाज ने स्वीकार कर लिया हो और राज्य लागू करता हो। इस प्रकार राज्य का लक्ष्य नैतिक है। उसका अस्तित्व उस लक्ष्य (उच्चतर सत्व की प्राप्ति) के साधन के रूप में है जिसके लिए मनुष्य उत्पन्न हुआ है और प्रयत्न करता है। इस प्रकार राज्य एक नैतिक साधन है और उसका केवल-मात्र उद्देश्य मनुष्य की अच्छाई में वृद्धि करना है ताकि वह उच्चतर सत्व को प्राप्त करने में समर्थ हो सके।

लेकिन राज्य के लिए यह कार्य करना सरल नहीं है। राज्य प्रत्यक्षतः मनुष्य को नैतिक नहीं बना सकता क्योंकि नैतिकता उसके अन्दर की चीज है। उसका उदय तब होता है जब मनुष्य जीवन के कार्य-कर्तव्य को भावना से करता है। इस प्रकार राज्य की नैतिकता अच्छे जीवन की बाधाओं को दूर करने तक ही सीमित लगती है।

अस्तु, ग्रीन तर्क करता है कि सरकार का कार्य उन दशाओं को कायम रखना है जो उत्तम तथा नैतिक जीवन में योग देती हैं। उसे प्रत्यक्षतः नैतिक कल्याण की वृद्धि करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए क्योंकि वह वैसा कर नहीं सकता। उसे केवल उन दशाओं को उत्पन्न करना चाहिए जिनमें नैतिकता सम्भव हो। इसके लिए उसे मनुष्य की अच्छाई की वृद्धि के मार्ग की रुकावटों को हटाना चाहिए। मद्यपान मनुष्य के उत्तम जीवन

समाजवाद का मूलमन्त्र समानता है।

लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि समाजवाद पूर्ण समानता लाने की इच्छा नहीं करता जो कि अवांछनीय है और प्राप्त भी नहीं की जा सकती वरन् सब के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करना चाहता है।

Q. 114. "The aims of the Socialist and the Individualist do not in the long run differ : each aims at giving to the individual the maximum amount of liberty."

Comment. (Agra 1946)

"समाजवादी और व्यक्तिवादी के उद्देश्य अन्ततः भिन्न नहीं हैं : प्रत्येक का उद्देश्य व्यक्ति को अधिक-से-अधिक सम्भव स्वतन्त्रता प्रदान करना है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

Ans.

समाजवाद का सिद्धान्त व्यक्तिवाद और राज्य के कार्यों के 'लैसे फेयर' (Laissez Faire) सिद्धान्त के प्रत्यक्षतः विरुद्ध है। वह राज्य को एक आवश्यक बुराई नहीं वरन् विध्यात्मक भलाई मानता है और अधिक-से-अधिक सरकारी हस्तक्षेप का समर्थन करता है। इस प्रकार ऐसा लगता है कि ये दो विचारधारायें एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं और उनमें कुछ भी सामान्य नहीं है। लेकिन वास्तविकता यह है कि जहां तक अन्तिम उद्देश्यों (लक्ष्यों) का सम्बन्ध है समाजवाद और व्यक्तिवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों का उद्देश्य व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता देना है।

यह बात स्पष्ट ही है कि व्यक्तिवाद का अन्तिम उद्देश्य व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता देना है। जैसा कि नाम से ही आभास होता है व्यक्तिवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है। वह व्यक्ति के लिए अधिकाधिक सम्भव स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करता है और राज्य के कार्यक्षेत्र को यथासम्भव संकीर्ण बना देता है। वह राज्य को एक आवश्यक बुराई सम-

भता है। राज्य को आवश्यक मानव-प्रकृति के अहंकार और उसकी अपने स्वार्थ के लिए अपने साथियों के अधिकारों को भंग करने की प्रवृत्ति के कारण माना गया है। राज्य का अस्तित्व मनुष्य की अपूर्णताओं के कारण है तथा उसकी अपराधी प्रवृत्तियों के कारण है। फ्रीमैन (Freeman) के शब्दों में "किसी भी रूप में सरकार का अस्तित्व मनुष्य की अपूर्णता का प्रतीक है।" इस प्रकार यद्यपि राज्य आवश्यक है फिर भी वह एक बुराई है क्योंकि वह मनुष्य की अपराधी और स्वार्थी प्रवृत्तियों के कारण होता है। और चूंकि वह एक बुराई है यद्यपि आवश्यक, इसलिये उसके कार्य यथा-सम्भव सीमित होने चाहियें। सरकार के कार्यों में कोई भी वृद्धि आवश्यक रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कम करने वाली होगी।

इस प्रकार व्यक्तिवाद के अनुसार स्वतन्त्रता सर्वोत्तम अच्छाई है। जब वह राज्य के कार्यों को शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा रखने के पुलिस-कार्यों तक सीमित करता है तो ऐसा वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर करता है क्योंकि अरक्षा और अव्यवस्था स्वतन्त्रता के लिए बाधक हैं। पुनश्च जब व्यक्तिवादी यह कहते हैं कि राज्य को व्यापार और उद्योग में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए तो ऐसा वे इसलिए कहते हैं कि ऐसा हस्तक्षेप व्यक्ति की कार्य करने की स्वतन्त्रता पर अतिक्रमण होता है। इसी कारण से व्यक्तिवादी यह कहते हैं कि राज्य को सफ़ाई रखने और जन-स्वास्थ्य की उन्नति करने के लिए कानून नहीं बनाने चाहियें। संक्षेप में उनका मुख्य उद्देश्य यह है कि राज्य को ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कम करे। अस्तु, स्वतन्त्रता को व्यक्तिवाद का मूलमन्त्र कहा जा सकता है।

परन्तु यह इतना स्पष्ट नहीं है कि समाजवाद का अन्तिम उद्देश्य भी व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करना है या नहीं। यही नहीं, कुछ विचारकों का मत तो यह है कि समाजवाद व्यक्ति को राज्य के नीचे दबा देता है। यह कहा जाता है कि समाजवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अत्यन्त कम कर देगा और उसे केवल-मात्र राज्य के संकेत पर चलने वाली मशीन बना

देगा। यह आरोप गलत है और पूंजीवादी व्यवस्था के समर्थकों द्वारा समाजवाद पर लगाया जाता है। वास्तविकता यह है कि समाजवाद का अन्तिम उद्देश्य भी व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता प्रदान करना है जैसा कि निम्न विवेचन से स्पष्ट हो जायगा। लेकिन इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो तरीके वह अपनाता है वे सर्वथा भिन्न हैं। व्यक्तिवादी सोचता है कि व्यक्ति तभी स्वतन्त्र तथा प्रसन्न हो सकता है जब कि मनुष्य और मनुष्य के सम्बन्धों पर समस्त प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए जायें जब कि समाजवादी का विचार है कि यह तभी अच्छी तरह प्राप्त किया जा सकता है यदि मनुष्य समाज में एक-दूसरे के साथ ऐसा जीवन प्राप्त करने के लिए सहयोग करें जो पूर्ण तथा स्वतन्त्र हो। इस उद्देश्य के लिए समाजवादी समाज का पुनर्संगठन करना चाहता है।

"वह उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व को तथा प्रतियोगिता को समाप्त कर देना चाहता है और उनके स्थान पर सामाजिक स्वामित्व और पारस्परिक सहायता और सहयोग लाना चाहता है क्योंकि जैसा कि एक लेखक ने संकेत किया है कि 'यह समझा जाता है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में कमजोर व्यक्ति नष्ट हो जाता है और उसके लिए पूर्ण तथा स्वतन्त्र जीवन बिताना प्रायः असम्भव हो जाता है। व्यक्तित्व के पूर्ण और स्वतन्त्र विकास की भावना के अर्थ में स्वतन्त्रता पूंजीवादी शासन में केवल थोड़े-से धनिकों को ही प्राप्त हैं; मजदूरों के समूह को वह प्राप्त नहीं है जो कि जीवन के कठिन संघर्ष में नष्ट हो जाते हैं। उन्हें जीवन के उच्च कार्यों के करने के साधन प्राप्त नहीं हैं। न उनके पास शिक्षा है, न समय और न सम्पत्ति-सम्बन्धी योग्यता ही है। जब तक व्यक्ति को जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के भार से मुक्त नहीं किया जायगा वह वास्तविक स्वतन्त्रता को उपभोग करने की स्थिति में नहीं होगा। इसलिए समाजवादी समाज का पुनर्संगठन इस प्रकार करना चाहता है कि अच्छे जीवन की आवश्यकतायें सभी नागरिकों की पहुँच में आ जायें, व्यक्ति जीवन के संघर्ष में सफल हो सके और इस तरह जीवन की ऊंची चीजों के लिए समय और योग्यता पा सके।

उनका अन्तिम उद्देश्य ऐसे अवसर प्रदान करना है जो व्यक्तियों को पूर्ण और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने में समर्थ बना सकें।"

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'समाजवादी और व्यक्तिवादी का उद्देश्य अन्ततः भिन्न नहीं है : प्रत्येक का उद्देश्य व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता प्रदान करना है।"

Q. 115. "Marx is the first social writer whose work can be called scientific. He not only sketched the kind of society which he desired, but he spoke in the details of the stages through which it must evolve." (Joad) Discuss. (Punjab 1946, 49, 51)

"मार्क्स प्रथम सामाजिक लेखक है जिसकी रचना वैज्ञानिक कही जा सकती है। उसने केवल अपने इच्छित समाज का ही चित्र नहीं खींचा वरन् उन स्थितियों का भी वर्णन किया, जिनके द्वारा उसका विकास होना चाहिए।" जोड के इस कथन की विवेचना कीजिए।

Ans.

समाजवाद शब्द का प्रयोग बहुत-से सिद्धान्तों और एक राजनैतिक आन्दोलन का ज्ञान कराने के लिए किया जाता है। अपनी प्रकृति में समाजवादी सिद्धान्त राजनैतिक की अपेक्षा आर्थिक अधिक है। लेकिन आर्थिक समस्यायें तथा राजनैतिक प्रश्न एक-दूसरे से इतने मिले हुए हैं कि समाजवाद जैसे आर्थिक सिद्धान्त को राजनैतिक विचारधारा भी माना जाता है।

कार्ल मार्क्स (Karl Marx) को वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता माना जाता है और समाजवाद के जितने रूप आज हम देखते हैं उन सबको कार्ल मार्क्स से ही प्रेरणा मिली है। मार्क्स के पहले भी कुछ लेखकों ने समाजवाद पर लिखा था। उन्होंने अपने समय के सामाजिक संगठन की आलोचना की थी और एक आदर्श-समाज का चित्र अंकित किया था

जिसमें सम्पत्ति सामूहिक रूप में होगी। प्लेटो (Plato) प्रथम व्यक्ति था जिसने इस प्रकार के समाज का अंकन किया। उसके बाद ओवन (Robert Owen) तथा अन्य विचारक हुए जिन्होंने आदर्श समाजों द्वारा अपनाए जाने वाले उपायों और साधनों का वर्णन करके अपने आदर्श-समाज को अधिक ठोस रूप प्रदान किया। लेकिन ये सब योजनायें अव्यवहारिक मानी गईं क्योंकि उनमें एक भी कार्य-रूप में परिणत किए जाने योग्य न थी। उनके प्रतिपादकों के प्रयत्न का केवल इतना ही परिणाम हुआ कि मनुष्य का ध्यान समाज की अपूर्णताओं की ओर आकर्षित हुआ। समाजवाद के सिद्धान्त का वास्तविक प्रतिपादन करने का कार्य कार्लमार्क्स का रहा। उसने तत्कालीन समाज की आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था की अत्यन्त कटु-आलोचना की और अपने मत को इतिहास के सत्यों से सिद्ध करके उसने अनेक रचनाओं में—Communist Manifesto (1848) और The Capital (1867-94)—समाजवाद के दर्शन का वर्णन किया।

मार्क्स का मुख्य सिद्धान्त नया नहीं था। लेकिन उसने सब विचारों को बहुत संपरिवर्तित और क्रमबद्ध कर दिया। समाजवाद के सिद्धान्त में उसकी मौलिकता आंशिक रूप में श्रमिक-वर्ग से अपील में तथा आंशिक रूप में मालिकों के विरुद्ध मजदूरों से संगठित राजनैतिक कार्यवाही करने के सुझाव में पाई जाती है। उसका एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी है कि उसने इतिहास का वर्णन आर्थिक घटनाओं के आधार पर किया और समाजवादी कार्यवाही के विकासवादी और क्रान्तिकारी परिणामों का वर्णन किया। उसने यह सिद्ध किया कि समाजवादी कार्यक्रम चाहे वह कैसा भी क्रान्तिकारी क्यों न हो उसका आधार सामाजिक विकास की यथाक्रम व्याख्या तथा उत्पादन और विनियमन की वर्तमान प्रणाली के आलोचनात्मक विश्लेषण में ही होना चाहिए। उसने पूंजीवादी ढांचे पर समाजवादी समाज निर्मित करने की विधि का भी संकेत किया।

(१) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त—

मार्क्स के पूर्वपक्ष (thesis) में मुख्य वस्तु उसका अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (theory of surplus value) है। इसमें उसे मूल्य के प्राचीन श्रम-सिद्धान्त (labour theory of value) से प्रेरणा मिली है। इस सिद्धान्त के अनुसार सब मूल्यों का स्रोत श्रम है। मार्क्स के मतानुसार एक वस्तु का मूल्य उसमें लगे श्रम के अनुसार निर्धारित किया जाना चाहिए। उसने यह स्वीकार किया कि कुछ समय के लिए मूल्यों पर "demand" और "supply" का भी प्रभाव पड़ सकता है लेकिन अन्त में मूल्य का निर्धारण वस्तु के उत्पादन में लगा श्रम ही करता है। मार्क्स ने वस्तुओं (commodities) की परिभाषा श्रम का एकत्रीकरण की है। वह मूल्य को "जमा हुआ" (crystallised) श्रम मानता था। लेकिन मार्क्स संकेत करता है कि पूंजीवादी समाज में उत्पादन के सभी साधनों पर उत्पादकों के एक छोटे से वर्ग की निजी मिल्कियत होती है। मजदूर उत्पादक-वर्ग के हाथ अपना श्रम बेच देता है। उत्पादक इस श्रम की सहायता से उसमें मशीन और कच्चा माल लगाकर वस्तुएं निर्मित करते हैं जिनमें विनिमय मूल्य (exchange value) होता है। मजदूर को जो मजदूरी दी जाती है उसका वस्तु के मूल्य से कोई अनुपात नहीं होता। मालिक मजदूरों की मजबूरियों का अनुचित लाभ उठाता है। लेकिन मजदूर को उचित मजदूरी से कम देकर उत्पादक अपना लाभ बढ़ा लेता है। वस्तु के विनिमय मूल्य और मजदूर को दी गई मजदूरी के बीच जो अन्तर है उसे मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य (surplus value) का नाम दिया है। यह अतिरिक्त मूल्य पूंजीपति की जेब में जाता है जो कि मार्क्स के मतानुसार मजदूरों को मिलना चाहिए था। यह सीधा-साधा शोषण है और पूंजीपति द्वारा इस अतिरिक्त मूल्य का हड़प कर लेना ही आधारभूत अन्याय है और इसी अन्याय को मार्क्स दूर करना चाहता था। मार्क्स के मत में आधुनिक राज्य केवल-मात्र पूंजीपति वर्ग के हाथ की कठपुतली है और वह उसका प्रयोग अपने विशेष हितों की रक्षा के लिए करता है।

२—इतिहास की भौतिकवादी धारणा :

मार्क्स के विचार में मजदूर-वर्ग का यह शोषण इतिहास का विषय है। उसने वैज्ञानिक ढंग से यह दिखाया कि पूंजीवादी समाज का संगठन किस तरह हुआ जिसमें कुछ थोड़े-से विशेषाधिकार-प्राप्त व्यक्तियों का प्रभुत्व रहता है। इसको वह इतिहास की भौतिकवादी (materialistic) धारणा का नाम देता है। वास्तव में मार्क्स का दर्शन इतिहास का सिद्धान्त है जो विकास की स्वाभाविक प्रगति को हमारे आगे रखता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन देश की आर्थिक दशाओं और राजनैतिक संस्थाओं के कारण होते हैं—सामाजिक ढांचा, रीतियां, कानून और स्वयं धर्म पर भी आर्थिक प्रणाली का असर पड़ता है। उसका मत था कि किसी भी युग में जिन्दा रहने के विभिन्न साधन समाज को अनेक समूहों में विभाजित कर देते हैं और प्रत्येक समूह में वर्गीय चेतना उत्पन्न कर देते हैं। और यहां मार्क्स के वर्ग-संघर्ष की धारणा का उदय होता है।

वर्ग-संघर्ष : यह वर्ग-चेतना, जिसका जन्म आर्थिक हितों की एकता के कारण होता है, वर्ग-संघर्ष को जन्म देती है। इतिहासज्ञ के लिए इतिहास राष्ट्रों का संघर्ष है, लेकिन मार्क्स के लिए वह वर्गों के बीच क्रान्तिकारी संघर्ष है। उसने कहा कि समस्त सामाजिक परिवर्तन आर्थिक वर्ग-संघर्ष द्वारा ही निर्धारित किये गए हैं। मानवता का इतिहास उसे वर्ग-संघर्ष का इतिहास लगता था। प्रत्येक प्रकार के समाज ने दो भिन्न वर्गों को जन्म दिया है—शोषक और शोषित, मालिक और मजदूर। इन दोनों वर्गों के हित एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के पूर्व ये विषमतायें इतनी गम्भीर नहीं थीं।

औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन और वितरण की प्रणाली में अनेक परिवर्तन ला दिए। इस समाज की मुख्य विशेषता एक वर्ग के रूप में पूंजीपति का प्रभुत्व है। मार्क्स के मत में यह वर्ग ही सरकार के मुख्य पदों पर कब्जा रखता है। वास्तव में सरकार की सारी मशीन पूंजीपति के लाभ

के लिए ही कार्य करती है। Communist Manifesto में मार्क्स इस सिद्धान्त (वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त) का उपयोग समाज के संगठन को भली प्रकार समझने के लिए करता है। प्रारम्भ में तो मजदूर पूंजीपति वर्ग की अधीनता में काम करते रहते हैं लेकिन अन्त में वे निराश हो जाते हैं और उससे छुटकारा पाने के लिए संगठन बना लेते हैं।

३—क्रान्ति :

पूंजीपति और पूंजीवादी प्रणाली स्वयं अपने नाश के बीज बोते हैं। जिन साधनों का प्रयोग पूंजीपति मजदूरों को लूटने और अपने लाभ को बढ़ाने के लिए करते हैं वे मजदूरों के हाथ में आ जाते हैं और उनका प्रयोग पूंजीवादी प्रणाली को समाप्त करने के लिए किया जाता है। यह निम्न विधि से होता है:—

(१) बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले छोटे-छोटे उत्पादकों को समाप्त कर देना चाहते हैं। छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले शोषित बन जाते हैं और वह अन्य शोषित मजदूरों के साथ मिल जाते हैं।

(२) उद्योग का स्थानीयकरण, जो कि आधुनिक उत्पादन की सामान्य विशेषता है, वर्गचेतना उत्पन्न करता है। सामान्य शिकायतों की चेतना वर्गचेतना को और भी दृढ़ बना देती है। मालिकों और मजदूरों की शत्रुता एक नाजुक स्थिति तक पहुँच जाती है, जहां उसके किसी भी समय भड़क जाने की सम्भावना रहती है।

(३) बड़े पैमाने पर उत्पादन का अर्थ है विस्तृत विक्रय-क्षेत्र। विक्रय-क्षेत्र में वृद्धि तभी सम्भव है जब आवागमन और संवाहन के साधन पूरी तरह उन्नत हो जायें। इससे विभिन्न देशों की सीमायें समाप्त हो जाती हैं। इससे समस्त आर्थिक संसार में बिखरे हुए मजदूरों में मेल-मिलाप सहज हो जाता है। इससे मजदूरों के सामान्य सम्बन्ध दृढ़ हो जाते हैं तथा वे उनकी पूर्ति के लिए सामान्य प्रयत्न करते हैं।

(४) आधुनिक उत्पादन की एक सामान्य विशेषता सामयिक संकट है। यह आवश्यकता से अधिक उत्पादन के कारण भी हो सकता है। इससे

Ans.

(अ) राज्य-समाजवाद क्या है ?

व्यक्तिवाद के ठीक विपरीत समाजवाद का सिद्धान्त है। लेकिन समाजवाद शब्द की कोई निश्चित परिभाषा नहीं की जा सकती। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए उसका अर्थ भिन्न-भिन्न है। विस्तृत अर्थ में उन सिद्धान्तों और उस राजनैतिक आन्दोलन के लिए उसका प्रयोग किया जाता है जिनका उद्देश्य एक नई सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था स्थापित करना है जिसमें उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य का स्वामित्व होगा। इस परिभाषा के अन्दर साम्यवाद, सिन्डीकैलिज़्म, समष्टिवाद और गिल्ड समाजवाद सभी का दर्शन आ जाता है चाहे नई सामाजिक व्यवस्था के रूप के सम्बन्ध में, तथा उसको लाने के साधनों के सम्बन्ध में उनमें कैसा भी मतभेद क्यों न हो। संकीर्ण अर्थ में, जिसमें समाजवाद राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में व्यक्तिवाद का विरोधी माना जाता है, उसे समष्टिवाद के साथ मिलाया जा सकता है।

समष्टिवाद (Collectivism) अथवा राज्य समाजवाद (State Socialism) 'राज्य को एक आवश्यक बुराई न मानकर विध्यात्मक अच्छाई मानता है और अधिक-से-अधिक सरकारी कार्यों का समर्थन करता है। साम्यवाद और सिन्डीकैलिज़्म (Syndicalism) के विपरीत समष्टिवाद प्रजातान्त्रिक तरीकों में विश्वास करता है और इन्हीं के द्वारा समाजवादी उद्देश्य को प्राप्त करना चाहता है। इसकी परिभाषा इस तरह की जाती है कि वह नीति अथवा सिद्धान्त जिसका उद्देश्य केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक सत्ता की कार्यवाही द्वारा श्रेष्ठतम विभाजन और उसके अधीन श्रेष्ठतम उत्पादन प्राप्त करना है। समष्टिवाद राज्य को सर्वोत्तम साधन मानता है क्योंकि केवल उसी के हस्तक्षेप द्वारा मजदूर को पूंजीपति के शोषण और नियन्त्रण से मुक्त किया जा सकता है और राज्य ही वह साधन है जो व्यक्ति को पूर्ण और स्वतन्त्र विकास करने में समर्थ बनाता है। समाजवाद के अन्य स्वरूप राज्य के अस्तित्व के विरुद्ध हैं।

राज्य-समाजवादियों के अनुसार वर्तमान सामाजिक संगठन में अनेक दोष हैं। यह कहा जाता है कि वर्तमान व्यवस्था का फल अनेकों पीड़ितों के मूल्य पर थोड़े से व्यक्तियों की प्रसन्नता और सुख है। दूसरे, यह सत्य है कि वह अनेकों के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कराता है लेकिन यह राजनैतिक स्वतन्त्रता उनको आर्थिक सुरक्षा नहीं प्रदान करती। जनता की कहानी धन के बाहुल्य में गरीबी की कहानी है। समाज की इसी व्यवस्था को बदलना ही उनका कार्यक्रम है। लेकिन जिस नये समाज की वे कल्पना करते हैं उसकी स्थापना क्रान्तिकारी तरीकों से नहीं होगी। समाज का परिवर्तन मन्द, क्रमिक और शान्तिपूर्ण होगा।

क्रमिक परिवर्तन ही समष्टिवाद का उद्देश्य है। शिक्षा और प्रचार द्वारा समाज को समाजवादी विचारों से भर देना चाहिए। जो इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं उन्हें संसद में चुना जाना चाहिए और लोकमत को समाजवादी उद्देश्यों वाले विधायी और प्रशासकीय कार्यों पर जोर देना चाहिए। वर्तमान संस्थाओं का उपयोग नई प्रवृत्तियों का विकास करने तथा उनके पनपने के लिए किया जायगा। इस प्रकार यह तरीका समाज के एक सामाजिक जीवधारी (Organism) की धारणा के सर्वथा अनुकूल है।

राज्य-समाजवादी उत्पादन के समस्त साधन केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक सरकार के हाथ में दे देने का प्रस्ताव रखते हैं। उद्योगों का नियन्त्रण न तो पूंजीवादी द्वारा होगा जैसा कि आज होता है और न मजदूर द्वारा ही जैसा कि सिन्डीकैलिस्ट और गिल्ड समाजवादी प्रतिपादित करते हैं। उद्योग पर सरकार का स्वामित्व होगा और वही उसे चलायेगी—समस्त जनता की ओर से। यहां यह बात जरूर नोट कर लेनी चाहिए कि जब समष्टिवादी राज्य के उद्योग पर स्वामित्व और उसके प्रबन्ध की बात करता है तो उसका अर्थ केवल केन्द्रीय सरकार से ही नहीं होता। उसमें स्थानीय अथवा म्युनिसिपल नियन्त्रण भी सम्मिलित रहता है। उन्होंने सदा से स्थानीय संस्थाओं के क्षेत्र के विस्तार पर जोर दिया है और उनका कार्यक्रम सदा का

विभाजन अथवा विकेन्द्रीकरण है न कि केन्द्रीकरण। केन्द्रीय सरकार केवल राष्ट्रीय उद्योगों का ही नियन्त्रण करेगी जैसे रेलें, खानें आदि। स्थानीय उपयोगी सेवाओं, जैसे गैस और पानी का प्रबन्ध, शिक्षा, गृह-निर्माण, सफ़ाई आदि का म्युनिसिपलकरण किया जायगा। इसलिए उनका सिद्धान्त राष्ट्रीयकरण और म्युनिसिपलकरण (nationalisation and municipalisation) का है।

(ब) सामूहिक नियन्त्रण के पक्ष में तर्क—

(१) उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करता है—यह कहा जाता है कि उद्योग का समाजवादीकरण ही वर्तमान प्रणाली को हटा देने का एकमात्र उत्तम तरीका है क्योंकि वह प्रतियोगिता को रोक देगा जिसमें अनावश्यक बरबादी होती है। वह राज्य को अतिरिक्त मूल्य तथा समाज द्वारा निर्मित मूल्यों को भी प्राप्त करायेगा। एकाधिकार के अन्तर्गत उद्योगों पर राज्य का नियन्त्रण उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

(२) खानों का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए—प्रकृति का मुफ्त दान भी व्यक्ति के अधिकार में नहीं होना चाहिए जैसे ज़मीन और खानें। वे मात्रा अथवा परिमाण में सीमित होती हैं और Law of Diminishing Returns के अधीन होती हैं। यदि व्यक्तिगत स्वामित्व में छोड़ दी जायेंगी तो वह तुरन्त उनको अपने लाभ के लिए ख़तम कर डालेगा। इसके अतिरिक्त प्रकृति के ये मुफ्त-दान थोड़े से व्यक्तियों द्वारा ही नहीं हड़प कर लिए जाने चाहियें क्योंकि उनके पास उनका शोषण करने के साधन होते हैं।

(३) सब उपयोगी वस्तुयें पैदा की जाती हैं—राज्य का प्रबन्ध समाज को वे वस्तुयें और सेवायें प्राप्य बनाता है जो आवश्यक होती हैं लेकिन जिनकी काफ़ी मांग नहीं होती।

(४) राज्य का प्रबन्ध धीरे-धीरे समाज का नैतिक और आध्यात्मिक सुधार करेगा—पूंजीवादी समाज में व्यक्ति अपने ही

स्वार्थी हितों में लिप्त रहता है और वह दूसरे के हितों की ओर बहुत कम ध्यान देता है। इसका परिणाम समाज का नैतिक और आध्यात्मिक अधः-पतन होता है। प्रतियोगिता और निजी लाभ की समाप्ति के साथ वह जनता के मनोविज्ञान को भी बदल देगा और उनका लक्ष्य सामाजिक सेवा और सामाजिक कल्याण का हो जायगा। अनुचित तरीकों को प्रयोग में लाने का कोई प्रयत्न नहीं किया जायगा जिससे अपना धन बढ़ाया जा सके। मानव स्वभाव का उत्तम-श्रेष्ठतम पहलू जागृत होगा और मनुष्य का सर्वोत्तम तत्त्व सामने आ जायगा और वही मानव-जीवन का लक्ष्य है।

संक्षेप में प्रजातान्त्रिक राज्य वह साधन है जिसके द्वारा राज्यसमाजवादी सामाजिक परिवर्तन प्राप्त करना चाहता है। समष्टिवादी समाज में यह प्रजातान्त्रिक राज्य समाज के प्रतिनिधि के रूप में कायम रखा जायगा जिससे उसका कल्याण प्राप्त होगा और जो पूंजी पर मिल्कियत करेगा और उत्पादन और वितरण का विनियमन करेगा। चूंकि राज्य समाज के कल्याण का संरक्षक है इसलिए वह सर्वोच्च और सर्वोत्तम साधन है। इस सम्बन्ध में समष्टिवाद और साम्यवाद का अन्तर सावधानी से नोट कर लेना चाहिए।

(स) साम्यवाद और समष्टिवाद में अन्तर—

(१) साम्यवाद अपने सिद्धान्तों में क्रान्तिकारी है जबकि समष्टिवाद अपने उपदेशों में विकासवादी है।

(२) **राज्य व्यर्थ**—साम्यवाद का विचार है कि राज्य पर पूंजीपतियों का आधिपत्य रहता है इसलिए पूंजीवाद को नष्ट करने के साधन के रूप में वह उपयोगी नहीं है। दूसरी ओर राज्य-समाजवादी राज्य को सामाजिक कल्याण का एकमात्र साधन मानते हैं।

(३) **जनता के वर्ग की तानाशाही**—अन्तवर्ती काल में साम्यवादी राज्य की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। लेकिन वह अन्तःकालीन राज्य जनता के वर्ग की तानाशाही होगी। राज्य-समाजवादी एक सतत प्रजातान्त्रिक राज्य का समर्थन करते हैं।

(४) साम्यवादी यह सुझाव रखते हैं कि अन्त में राज्य स्वयं ही समाप्त हो जायगा जबकि समष्टिवादियों का विचार है कि समय की गति के साथ राज्य के कार्य बढ़ जायेंगे।

Q. 118. Explain the philosophy underlying Syndicalism : Syndicalism is an organized anarchy. Is this opinion justifiable ? Discuss.

(Agra 1938; Punjab 1949)

सिन्डीकैलिज़्म के आधार में जो राजनैतिक दर्शन है उसकी व्याख्या कीजिए। सिन्डीकैलिज़्म संगठित अराजकता है। क्या यह विचार सही है ? विवेचना कीजिए।

Ans.

(अ) सिन्डीकैलिज्म (Syndicalism) क्या है ?

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दिनों में फ्रांस के मजदूर आन्दोलन से एक नवीन सामाजिक सिद्धान्त का उदय हुआ जो कि आंशिक रूप में अराजकतावादियों की शिक्षाओं पर आधारित थी और आंशिक रूप में मार्क्स की शिक्षाओं पर। लेकिन उसकी कुछ विचित्र विशेषतायें भी हैं जो उसे सर्वथा भिन्न रूप प्रदान करती हैं।

यह सिद्धान्त सिन्डीकैलिज़्म (Syndicalism) कहा जाता है। इस शब्द की उत्पत्ति 'Syndicate' शब्द से हुई है जो कि मजदूर-संगठन (Labour Union) का फ्रेंच पर्याय है और इसके अन्तर्गत जो दर्शन है वह समाज की पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति अविश्वास से भरा हुआ है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है : "That form of social theory which regards the trade union organization as at once the foundation of the new society and the instrument whereby it is to be brought into being." (अर्थात् सामाजिक सिद्धान्त का वह रूप जो ट्रेड यूनियन संगठन को नये समाज का आधार

तथा उसकी स्थापना का साधन—दोनों मानता है) सिन्डीकैलिस्ट विचारक, जिन्हें Sorel और Pelloutier से प्रेरणा मिली है, इस सामान्य समाजवादी तथ्य को स्वीकृत करते हैं कि समाज दो वर्गों में विभाजित है—पूंजीपति और मजदूर-वर्ग और इन दोनों वर्गों के हित परस्पर विरोधी हैं जिनका समन्वय नहीं किया जा सकता। वर्ग-संघर्ष के इस सिद्धान्त में वे मार्क्स से सहमत हैं।

सिन्डीकैलिस्ट विचारकों का यह भी मत है कि आधुनिक राज्य वर्ग-राज्य है जिसमें थोड़े से पूंजीपतियों का आधिपत्य है और इसलिए सिन्डीकैलिज़्म केन्द्रित सरकार को नष्ट कर देने के पक्ष में है। किसी भी प्रकार की केन्द्रीय बाधक सत्ता का विरोध और राजनैतिक तरीके का उपयोग करने से घृणा—ये सिन्डीकैलिस्ट सिद्धान्त की आधारभूत विशेषताएं हैं। उनका विश्वास है कि:—

(१) राज्य एक शोषण का साधन है:—राज्य मूलतः एक धनिक-वर्गीय अथवा मध्यवर्गीय संस्था है जिसका मुख्य कार्य पूंजीपति की रक्षा करना है। इस तरह वे मार्क्स द्वारा की गई राज्य की निन्दा का समर्थन करते हैं कि राज्य पूंजीवादी शोषण का साधन है और स्वभाव से ही मजदूर-वर्ग के हितों के प्रति उदासीन और उनका विरोधी है। राज्य अपने इस स्वभाव को बनाए रखेगा चाहे सामाजिक संगठन का स्वरूप, जिसमें उसका अस्तित्व होता है, कुछ भी हो।

(२) सत्ता मजदूरों के हाथ में रहेगी:—सिन्डीकैलिस्ट विचारकों के मतानुसार राज्य उपभोक्ता का प्रतिनिधित्व करता है उत्पादक का नहीं। राज्य को दी गई कोई भी शक्ति अथवा सत्ता उपभोक्ता की सत्ता होती है जो कि उत्पादकों का ध्यान नहीं रखती जो कि वस्तु को मूल्य प्रदान करते हैं। सिन्डीकैलिज़्म का विचार है कि जो राज्य केवल उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करता है वह मजदूरों के हितों की रक्षा का आश्वासन नहीं दे सकता। सिन्डीकैलिज़्म सत्ता मजदूरों को देने के पक्ष में है।

(३) समाज बहुवादी है:—सिन्डीकैलिस्ट कहते हैं कि सैद्धान्तिक

Cole तथा अन्य सम्मिलित हो गए। बेशक उनका आधारभूत विचार मध्यकालीन गिल्ड प्रणाली को पुनः जीवित करना था लेकिन साथ में यह भी महसूस किया गया कि आधुनिक परिस्थितियां उसमें कुछ परिवर्तन भी चाहती हैं ताकि वह सिद्धान्त बड़े पैमाने पर उत्पादन की प्रणाली में ठीक बैठ सके।

वर्तमान सामाजिक संगठन की बुराइयों के सम्बन्ध में गिल्ड समाजवादी समाजवादियों से सहमत हैं। वे निर्धनता, बीमारी, धन के वितरण और अवसर की असमानता तथा रोजगार की गारण्टी की अनुपस्थिति आदि के प्रति क्षोभप्रकट करते हैं जो कि पूंजीवाद के भयंकर दोष हैं। गिल्ड समाजवादी दो अन्य दोषों पर भी जोर देते हैं जिनकी प्रकृति आर्थिक और राजनैतिक है। वे मजदूरी-प्रणाली की घोर निन्दा करते हैं। यह कहा जाता है कि मजदूरी के बदले में मजदूरों से उत्पादन पर समस्त नियन्त्रण अपने मालिकों के लिए छुड़वा लिया जाता है। इसके अपने आर्थिक और मनोवैज्ञानिक प्रतिघात होते हैं। इस बुराई के विरुद्ध जो औषधि बताई गई है वह है उद्योगों का शासन मजदूरों को दे देना—शारीरिक तथा मानसिक दोनों तरह का परिश्रम करने वाले मजदूरों को—जो वास्तव में उद्योग चलाते हैं।

गिल्ड समाजवादियों ने ट्रेड यूनियनों में इस नियन्त्रण के बीज पाए। इस सम्बन्ध में गिल्ड समाजवादी और सिन्डीकैलिस्ट दोनों सहमत हैं। ट्रेड यूनियनों को दो कारणों से स्थिति की कुंजी माना गया है। प्रथम, यह विश्वास किया जाता है कि आज का ट्रेड यूनियन कल का गिल्ड होगा। दूसरे, वांछित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ट्रेड यूनियनों को बहुत उपयुक्त साधन माना गया है।

कार्य को व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। यह कहा जाता है कि सच्चा प्रतिनिधित्व व्यावसायिक आधार पर होना चाहिए, भौगोलिक आधार पर नहीं। समाज तभी सच्ची तरह प्रजातान्त्रिक होता है जब व्यावसायिक प्रतिनिधि सभाओं का जाल बन जाता है और प्रत्येक सभा एक विशेष प्रकार की इच्छाओं अथवा उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व करती है जो उसके सदस्यों में सामान्य होते हैं। व्यावसायिक प्रजातन्त्र (Functional Democracy) की भावना का विस्तृत प्रतिपादन G. D. H. Cole ने किया है और वह गिल्ड समाजवाद की मुख्य विशेषता है।

सिन्डीकैलिस्टों की अपेक्षा गिल्ड समाजवादी अपने समाज के भावी-संगठन के सम्बन्ध में अधिक निश्चित हैं। गिल्ड समाजवाद और सिन्डीकैलिज़म में एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर है। सिन्डीकैलिस्ट उद्योग का नियन्त्रण उत्पादकों और उपभोक्ताओं के हाथ में देता है। तदनुसार समाज की यह धारणा अधिक तर्कसंगत है।

गिल्ड समाजवादियों का विचार है कि औद्योगिक मशीन का वास्तविक चालन प्रत्येक उद्योग के "guilds" में संगठित मज़दूरों द्वारा होना चाहिए। गिल्ड-समाजवादी समाज का ढांचा कुछ-कुछ निम्न प्रकार है :—

(१) प्रत्येक उद्योग के लिए एक गिल्ड (guild)—प्रत्येक उद्योग के लिए एक गिल्ड होगा जो कि उद्योग का शासन और नियन्त्रण करेगा। गिल्ड में वे सभी मज़दूर सम्मिलित होंगे जो उस उद्योग में काम करते हैं। प्रत्येक फैक्टरी अपना प्रबन्धक चुनने को स्वतन्त्र होगी जो उसके उत्पादन के तरीकों का नियन्त्रण राष्ट्रीय गिल्ड की नीति के अनुसार करेगा।

(२) राष्ट्रीय गिल्ड—स्थानीय गिल्ड अपने प्रतिनिधि चुनेंगे और उन्हें राष्ट्रीय गिल्ड में भेजेंगे। इन गिल्डों तथा राष्ट्रीय-गिल्ड का निर्माण प्रजातान्त्रिक होगा। राष्ट्रीय-गिल्ड का सम्बन्ध कर्मचारी और उद्योगों के सामान्य हितों से होगा।

(३) उपभोक्ताओं की सभायें—इसके अतिरिक्त उपभोक्ताओं की

सभायें (Consumers' Councils) भी होंगी जो मूल्यों का निर्णय करने में उत्पादकों के साथ सहयोग करेंगी। Cole तीन प्रकार की उपभोक्ता सभायें प्रस्वीकृत करता है जिन्हें उसके मतानुसार तीन विभिन्न प्रकार के गिल्ड होना चाहिए :—

(अ) प्रथम कुछ राष्ट्रीय उद्योग और सेवायें हैं जैसे खानें, रेलें, कोयला आदि। इन पर राज्य का स्वामित्व होगा जो कि एतदर्थ (ad hoc) राष्ट्रीय सभायें नियुक्त करेगा जो कि उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करेंगी तथा जिनका कार्य राष्ट्रीय-गिल्डों से सलाह करना होगा जिसमें इन उद्योगों के मजदूर संगठित होंगे।

(ब) फिर लोकोपयोगी सेवायें हैं जैसे पानी, गैस, बिजली। उनका नियन्त्रण म्युनिसिपल संस्थाओं के हाथ में रहेगा। उपभोक्ता उनके साथ सहयोग करेंगे जिनके हाथ में इन सेवाओं का प्रबन्ध होगा।

(स) अन्त में विभिन्न प्रकृति के छोटे-छोटे उद्योग हैं जिनमें उत्पादित वस्तुयें नित्य के घरेलू काम की होती हैं। Cole का मत है कि सहकारी आन्दोलन उनका स्वामित्व धारण कर लेगा।

राज्य के स्थायित्व के सम्बन्ध में गिल्ड समाजवादियों का सिन्डीकैलिस्टों से मत-भेद है पर समष्टिवादियों से मतैक्य है। उन उद्योगों को छोड़कर जिनका राष्ट्रीयकरण होगा और जिनका स्वामित्व राज्य के हाथ में रहेगा यह कहा जाता है कि कुछ और भी समस्यायें हैं, जैसे रक्षा, कानून और व्यवस्था रखना, सिक्कों और विनिमय का नियन्त्रण, जो कि प्रत्येक राज्य के उचित अधिकार-क्षेत्र में हैं। लेकिन गिल्ड समाजवादी राज्य का सम्बन्ध केवल राजनैतिक कार्यों से है। राष्ट्रीय प्रकृति के औद्योगिक कार्यों का सम्बन्ध National Guild Congress से होगा। राज्य तथा राष्ट्रीय गिल्ड कांग्रेस के सम्बन्ध के बारे में मत भेद है। Hobon के मतानुसार राज्य का सबके ऊपर प्रभुत्व होगा क्योंकि राज्य विभिन्न समूहों के बीच झगड़ों का निर्णायक होगा। हाब्सन का विचार था कि इस सम्बन्ध में उसका राज्य समाजवादियों से मतैक्य था।

Cob का विचार इसके विपरीत है। वह बहुवादी है और राज्य को अन्य समुदायों की तरह ही एक समुदाय मानता है न कि ऐसा संघ जिसका दूसरे संघों पर प्रभुत्व हो जैसा कि हाब्सन ने कहा था।

(ब) गिल्ड समाजवाद की विधियां :

ट्रेड यूनियन गिल्ड समाजवादियों की विधियों की कुंजी है। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, सांसदीय तरीकों से उन्हें सन्तोष नहीं है। वे वर्तमान ट्रेड यूनियनों को लम्ब आधार पर संगठित करना चाहते हैं। दूसरे ट्रेड यूनियनों का संगठन इस दृष्टि से किया जायगा कि वे उद्योग पर अच्छी तरह नियन्त्रण कर सकें। इन तरीकों द्वारा समाज की पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नई व्यवस्था लाई जायगी। लेकिन गिल्ड समाजवाद अपने तरीकों में सिन्डीकेलिज्म से मूलतः भिन्न है। पहला विकासवादी तरीकों का समर्थन करता है जबकि दूसरा क्रान्तिकारी तरीकों का।

(स) आलोचना :

गिल्ड समाजवाद मजदूरों और उपभोक्ताओं दोनों में प्रिय है। गिल्ड समाजवादी राज्य एक विकेन्द्रित राज्य होगा जिसमें स्वायत्तशासी इकाइयां होंगी। लेकिन एक पृथक् सिद्धान्त के रूप में गिल्ड समाजवाद मृतप्राय है। इसी तरह व्यावसायिक प्रजातन्त्र की धारणा की, भी जिस पर गिल्ड समाजवादी इतना जोर देते हैं, बहुत कटु-आलोचना की गई है। गिल्ड समाजवाद को कार्य-रूप में अव्यवहारिक माना जाता है। वह मानव प्रकृति से भी बहुत आशा रखता है। यदि मनुष्य के अन्दर की स्वार्थी प्रवृत्ति समाप्त नहीं की जा सकती तो गिल्ड समाजवाद अपने लक्ष्य में असफल रहता है।

Q. 120. "Real democracy is to be found not in a single omni-competent legislative assembly but in a system of cooperative functional representative bodies."
Explain and discuss.

"वास्तविक प्रजातन्त्र एक सर्वशक्तिमान व्यवस्थात्मक सभा में नहीं होता वरन् व्यवसायिक प्रतिनिधि संस्थाओं की प्रणाली में होता है।" इस कथन की व्याख्या एवं विवेचना कीजिए।

Ans.

व्यावसायिक प्रजातन्त्र की धारणा गिल्ड समाजवाद के दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। कोल (G. D. H. Cole) ने उसका प्रतिपादन एवं प्रयोग आर्थिक तथा राजनैतिक दोनों प्रकार के संगठन के प्रश्नों के हल के रूप में किया है। यह वर्तमान प्रजातान्त्रिक संस्थाओं के विरुद्ध शिकायत-स्वरूप है और गिल्ड समाजवादियों के कल्पनातीत समाज की आधार-शिला है। यह विचार है कि वे प्रतिनिधि जो विभिन्न निर्वाचन-क्षेत्रों से संसद में चुने जाते हैं वास्तविक अर्थ में प्रतिनिधि नहीं होते। ऐसी परिस्थितियों में प्रजातन्त्र केवलमात्र एक दिखावा रह जाता है। वह गलत प्रतिनिधि प्रणाली है क्योंकि प्रतिनिधि अपने निर्वाचन-क्षेत्र के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। "किसी व्यक्ति के लिए किसी भी अन्य व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करना असम्भव है।" अस्तु, भूत-काल में जितनी भी प्रतिनिधि कहलाने वाली संस्थायें हुई हैं वे सब गलत प्रतिनिधित्व करने वाली थीं।

यह कहा जाता है कि एक व्यक्ति केवल अपने ही हित का प्रतिनिधित्व कर सकता है जो अन्य व्यक्तियों के साथ सामान्य है। चमार चमारों का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है क्योंकि सब चमारों में हितों की एकता होती है। उसी तरह फ़ैक्टरी में काम करने वाला मजदूर, जो किसी एक विशेष उद्योग में लगा हुआ है, उसी उद्योग का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकता है, अन्य किसी का नहीं। यदि एक वकील मजदूरों का प्रतिनिधित्व करता है जैसा कि वर्तमान व्यवस्था में होता है तो वह प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की हत्या करता है। इसलिए यह कहा जाता है कि वास्तविक प्रतिनिधित्व व्यवसायिक आधार पर होना चाहिए, भौगोलिक आधार पर नहीं। और केवल मात्र प्रतिनिधि संस्थायें, इस अर्थ में कि वे उनकी इच्छा की अभि-

व्यक्ति करती हैं जिन्होंने उन्हें चुना है, वे ही हैं जो मनुष्य के विभिन्न व्यवसायों से सम्बन्धित हैं। समाज सच्चा प्रतिनिधि तभी बन सकेगा जब वह अनेक व्यवसायिक प्रतिनिधि संस्थाओं का एक जाल-सा बन जायगा जिनमें से प्रत्येक एक विशेष इच्छा का प्रतिनिधित्व करती हो जो उसके सदस्यों में सामान्य हो।

लेकिन गिल्ड समाजवादी प्रतिनिधित्व के प्रादेशिक आधार को सर्वथा समाप्त नहीं करना चाहते। व्यवसायिक हितों के अतिरिक्त अन्य अनेक हित हैं जो समाज के सदस्य एक-दूसरे के साथ भोग करते हैं। आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा, रक्षा, शिक्षा, मुद्रा आदि हित ऐसे हैं जो सबके लिए एक ही हैं चाहे उनका व्यवसाय कोई भी हो। इसी बात के कारण भौगोलिक आधार पर किये जाने वाले प्रतिनिधित्व का समर्थन किया जाता है। यह कहा जाता है कि वास्तविक प्रतिनिधित्व व्यवसायिक और भौगोलिक प्रतिनिधित्व का संयोग होना चाहिए। एक दूसरे की पूर्ति करता है, इसलिए दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

इस आधार पर संगठित गिल्ड समाजवादी समाज में तीन भिन्न संस्थायें होंगी—

(१) प्रादेशिक आधार पर निर्वाचित एक राष्ट्रीय संसद जिसे राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों का कार्य दिया जायगा।

(२) प्रदेशीय गिल्ड (Regional Guilds) जिन्हें लोकोपयोगी सेवाओं का कार्य सौंपा जायगा जैसे पानी, स्थानीय संवाहन, स्थानीय पुलिस आदि।

(३) अन्त में एक बहुत बड़ी संख्या में गिल्ड होंगे—स्थानीय, प्रदेशीय और राष्ट्रीय—जो उत्पादन की प्रकृति, क्या वस्तुयें उत्पादित की जायेंगी, कैसे की जायेंगी आदि को कार्यरूप में परिणत करेंगे। मजदूरी, काम के घण्टे, उत्पादन की लागत और वस्तुओं का मूल्य निर्धारण करना इन संस्थाओं के कुछ अन्य कार्य होंगे। गिल्ड समाजवाद अपने संगठन के क्षेत्र से उपभोक्ताओं के हितों को नहीं निकाल देता। इसलिए उत्पादन की

मात्रा तथा मूल्यों के प्रश्न उत्पादकों, गिल्डों और उपभोक्ताओं के सामान्य सम्बन्ध के हैं। इस जगह गिल्डों और उपभोक्ता सभाओं में सामीप्य है।

Q. 121. Discuss the political philosophy underlying Anarchism. (Punjab 1949)

अराजकतावाद के आधार में जो राजनैतिक दर्शन है उसका विवेचन कीजिए।

Ans.

(अ) अराजकतावाद क्या है ?

साम्यवाद और अराजकतावाद में बहुत विचार-समानता है। प्रारम्भ में अराजकतावादी कार्ल मार्क्स के अनुयायी थे लेकिन १८७२ में वे Internationale से निकाल दिये गए थे। कार्ल मार्क्स तथा उसके अंग्रेजी और जर्मन अनुयायी राज्य के स्थायित्व को क्रान्तिकारी अवस्था की आवश्यक स्थिति मानते थे जबकि बैक्यूनिन (Bakunin) तथा उसके साथी राज्य के स्थायित्व को स्वतन्त्र समुदाय के विकास के लिए अत्यन्त हानिकर मानते थे। दूसरे शब्दों में अराजकतावादियों के लिए राज्य की कोई उपयोगिता नहीं थी न अन्तर्वर्ती काल में और न नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के बाद ही। राज्य तथा उसकी संस्थाओं के प्रति अराजकतावादियों को इतना अविश्वास था कि क्रान्ति के बाद वे समाज को एक राज्य-विहीन समाज में परिवर्तित कर देना चाहते थे।

इस पृथक्करण के पश्चात् अराजकतावादियों ने अपनी एक अलग इकाई बना ली। लेकिन पूंजीवादी समाज की प्रकृति तथा संगठन और उसको समाप्त करने के साधनों के सम्बन्ध में उनके विचार साम्यवादियों से मिलते हैं। अस्तु, साम्यवादियों ने जो-कुछ बताया है उससे अधिक उन्हें कुछ नहीं कहना है। अराजकतावादियों का कार्य राज्य के समाप्त हो जाने तथा समाज के नए संगठन के उदय के पश्चात् प्रारम्भ होता है। समाज के स्वतन्त्र संगठन का वर्णन क्रॉपाटकिन (Kropatkin) ने इस प्रकार किया है:—"A principle or theory of life and conduct

under which society is conceived without government; harmony in such society being obtained not by submission to law, or by obedience to any authority but by free agreement concluded between various groups, territorial and professional, freely constituted for the sake of production and consumption, as also for the satisfaction of the indefinite variety of deeds and aspirations of civilized being." अराजकतावादियों के स्वप्न का आदर्श समाज राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन होगा। उसमें निजी सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व की संस्थायें न होंगी और न मालिक तथा मजदूर ही होंगे। क्रॉपाटकिन के मतानुसार मजदूरी प्रणाली भी उस समाज में न रहेगी और न ही प्रतियोगिता अथवा स्पर्धा और प्रतियोगिता के न होने का अर्थ संघर्ष के साधनों का न होना और पारस्परिक सहायता तथा सहयोग के सिद्धान्त पर समाज का संगठन होगा।

इससे मनुष्य की स्वार्थी प्रकृति का अन्त हो जायगा। जब मनुष्य की स्वार्थी प्रकृति कुचल दी जायगी और उसके निःस्वार्थ और सहयोगी प्रवृत्ति को ऊंचा उठा दिया जायगा तो व्यक्ति को पूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन और वातावरण मिल जायगा। इस तरह से अराजकतावादियों का स्वत्व संगत ठहरता है क्योंकि केवल अराजकतावादी समाज में ही व्यक्ति अपनी प्रकृति पूर्ण विकसित कर सकेगा। यह पूर्ण विकास इसलिए सम्भव हो जाता है कि उस समाज में प्रतिस्पर्धा का सर्वथा अभाव होगा। केवल राज्यविहीन समाज में ही मनुष्य वास्तव में स्वतन्त्र हो सकता है। सत्ता के जिन स्रोतों से अराजकतावाद व्यक्ति को मुक्ति दिलाएगा उन्हें निम्न प्रकार वर्णित किया जा सकता है :—

१—उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण होगा : अराजकतावादी

उत्पादक के रूप में मनुष्य को पूंजीपति के चंगुल से छुड़ा देगा, समस्त सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों पर समाज की मिल्कियत होगी और यह सामाजिक मिल्कियत उन सब असमर्थताओं तथा अयोग्यताओं को दूर कर देती है जिनसे मजदूर पूंजीवादी समाज में पीड़ित रहते हैं।

२—राज्य का अभाव : अराजकतावादी समाज राज्य के भार से भी मुक्त होगा।

३—धर्म के विरुद्ध : वह समाज मनुष्य को एक व्यक्ति के नाते धार्मिक नैतिकता के अधिकार से भी स्वतन्त्रता दिला देगा। अराजकतावादी का कोई धर्म नहीं होता और न वह ईश्वर के अस्तित्व में ही विश्वास करता है।

४—राज्य के विरुद्ध घृणा : अराजकतावादियों का यह निश्चित मत है कि राज्य—आजकल जैसा वर्तमान है केवल वैसा ही नहीं वरन् भविष्य में भी उसका अस्तित्व जिस किसी रूप में हो—सर्वथा अनावश्यक और हानिकर है। यह कहा जाता है कि राज्य का प्रयोग एकाधिकारों और निक्षेपों (trusts) को समाप्त करने के लिए नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत वह उनकी रक्षा करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जबतक राज्य के स्थान पर कोई अन्य प्रकार का संगठन नहीं स्थापित किया जाता पूंजीवाद और निजी सम्पत्ति का अन्त नहीं हो सकता। वे प्रतिनिधि सरकार की निन्दा करते हैं। यह कहा जाता है कि प्रतिनिधि सरकार उन व्यक्तियों द्वारा सरकार होती है जिन्हें बहुत थोड़ा ज्ञान होता है और जो प्रत्येक काम बुरी तरह करते हैं तथा कोई काम भली तरह नहीं कर सकते। यह भी कहा जाता है कि प्रतिनिधि सरकार व्यावसायिक राजनीतिज्ञों को जन्म देती है जिन्हें अराजकतावादी "general dealers in human relationship whose business is to perpetuate the human weakness on which they are nourished" कहते हैं। राज्य के कानूनों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उनमें बल निहित रहता है और जिन लोगों को उनकी व्याख्या करने

तथा कार्य-रूप में परिणत करने का काम दिया जाता है वे आवश्यक रूप से भ्रष्ट हो जाते हैं। सत्ता का प्रयोग करने का अधिकार उन्हें स्वार्थी, अहंकारी, निर्दयी तथा अपने ही हितों का खयाल और दूसरों के हितों की, जिन्होंने उन्हें सत्ता के स्थान पर बैठाया है, उपेक्षा करने वाला बना देता है। उदाहरणतः राजनीतिज्ञ इसलिए दुष्ट नहीं होता कि वह उसका स्वभाव है और न इसलिए कि वह मनुष्य है वरन् इसलिए कि वह राजनीतिज्ञ है। इसलिए किसी भी व्यक्ति को अपने साथियों पर शासकीय प्राधिकार नहीं दिया जाना चाहिए।

शक्ति के प्रयोग का इतना अधिक अविश्वास है और उसे इतना मदाक समझा गया है कि Kropatkin ने कहा है कि "अमुक व्यक्ति बहुत अच्छा हो सकता था यदि उसे प्राधिकार अथवा सत्ता न दी गई होती।" अराजकतावादी यहां तक कहते हैं कि आन्तरिक कलह और बाह्य युद्धों का कारण सरकार का अस्तित्व ही है। Lowe Dickinson ने कहा है:

"Government means compulsion, exclusion, distraction, separation, while anarchy is freedom, union and love. Government is based upon egoism and fear, anarchy or fraternity. It is because we divide ourselves in nations that we endure the oppression of armaments; because we isolate ourselves as individuals that we invoke the protection of laws."

(ब) आलोचना—

लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिस अराजकता पर अराजकतावादी इतना जोर देते हैं उसका अर्थ अव्यवस्था अथवा व्यवस्था का अभाव नहीं है। उसका अर्थ बल का अभाव हो सकता है, लेकिन समाज में व्यवस्था रखने के लिए किसी-न-किसी प्रकार कानून आवश्यक हैं और

कानूनों का अस्तित्व राज्य की उपस्थिति का सूचक है। यह बार-बार पूछा जा चुका है कि जब राज्य समाप्त हो जायगा तो कानून और व्यवस्था कैसे चल सकेगी और कार्य कैसे होंगे? अराजकतावादी उत्तर देते हैं कि प्रत्येक कार्य स्वयंसेवी समुदायों द्वारा किया जायगा जो किसी विशेष उद्देश्य के सम्पादन के हेतु निर्मित किए जायंगे। प्रत्येक व्यापार तथा कार्य ऐसे समाज द्वारा किया जाना चाहिए, जो स्वेच्छा से निर्मित किया जाय तथा जो अपने अधिकारियों की नियुक्ति एवं वियुक्ति स्वयं करेगा। अपनी नीति स्वयं निर्धारित करेगा और अन्य समान संस्थाओं से स्वतन्त्र व्यवस्था द्वारा सहयोग करेगा। समुदायों का जटिल सम्पर्क, जिसमें हर जगह व्यवस्था होगी और बाधक शक्ति कहीं भी न होगी, वह आधार है जिस पर अराजकतावादी समाज का निर्माण होगा।

Q. 122. "Communism deals with the means and Anarchism with the ends." Elucidate the statement.

(Agra 1949)

"साम्यवाद साधनों का वर्णन करता है और अराजकतावाद लक्ष्यों का।" समीक्षा कीजिए।

Ans.

प्लेटो (Plato) के समय से आज तक 'साम्यवाद' (Communism) शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों के लिए किया गया है। कभी साम्यवाद से यह अर्थ लगाया जाता है कि समाज की वह व्यवस्था जिसमें प्रत्येक वस्तु पर समस्त जनता का प्राधिकार हो। कभी उसका प्रयोग समाजवाद (Socialism) के पर्याय के रूप में किया जाता है। कुछ लोग इसे एक अन्य अर्थ देते हैं। उनके अनुसार साम्यवाद वह प्रणाली है जिसके अन्तर्गत जीवन की आवश्यकतायें, खाना, कपड़ा आदि, कार्य के गुण (quality) अथवा मात्रा (quantity) के अनुसार नहीं दी जातीं वरन् प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकतानुसार दी जाती हैं। लेकिन जहां

तक राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध है साम्यवाद शब्द का प्रयोग उस अर्थ में किया जाना चाहिए जिसमें Marx तथा Engels ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Communist Manifesto' में किया था।

मार्क्स तथा ऐंगिल्स के अनुसार साम्यवाद एक 'विधि का सिद्धान्त' (theory of method) है—ऐसा सिद्धान्त जो उस तरीके का वर्णन करता है जिसके द्वारा पूंजीवाद से समाजवाद का परिवर्तन लाया जायगा। इस अर्थ में साम्यवाद आदर्श समाज के चित्र का अंकन नहीं करता जो उसकी कार्यवाहियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होगा। यह कार्य वे अपने अराजकतावादी भाइयों के लिए छोड़ देते हैं जो अपने स्वप्न के भावी समाज का चित्र खींचते हैं।

यही कारण है कि साम्यवाद और अराजकतावाद को राजनैतिक विचारकों ने 'एक ही पूर्ण वस्तु के दो आधे भाग' ('two halves of the same whole') कहा है। प्रथम आधे भाग से, अर्थात् वांछित परिवर्तन लाने के लिए काम में लाई जाने वाली विधियों से, साम्यवाद का सम्बन्ध है और दूसरे आधे भाग से, अर्थात् उन सिद्धान्तों से जो पूंजीवाद के अन्त के पश्चात् नए समाज में होंगे, अराजकतावाद का सम्बन्ध है। इस तरह इन दो विचारधाराओं में अपने साधनों और उद्देश्यों के सम्बन्ध में बहुत समानता है। जोड (C. E. M. Joad) ने इन दोनों के सम्बन्ध का वर्णन निम्न शब्दों में किया है:—

"Most communists would subscribe to the anarchist ideal of society while many anarchists would probably agree that the methods advocated by the communists are those most calculated to realise their ideal. The latter are concerned with the means, the former with ends."

अराजकतावादी अपने कार्यक्रम की उन अन्य सब कार्यक्रमों से भिन्नता पर जोर देते हैं, जो विरोधी आर्थिक वर्गों की एकता अथवा समन्वय, उनकी विषमताओं अथवा भिन्नताओं को कम करके लाना चाहते हैं अथवा शान्तिपूर्वक और धीरे-धीरे उन सामाजिक संस्थाओं को संपरिवर्तित करके जो उन भिन्नताओं के प्रभाव में विकसित हो गई हैं। जब तक कुछ लोग ऐसे हैं जो केवल मजदूरी पर ही जीवन बसर करते हैं और अन्य कुछ लोग ऐसे हैं जो केवल पूंजी लगाकर अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करके ही जीवन-निर्वाह करते हैं तब तक उन दो वर्गों के बीच ईर्ष्या अथवा शत्रुता अनिवार्य है। साम्यवादियों का विश्वास है कि पूंजीवाद से संघर्ष अपरिहार्य है और वह हिंसात्मक होगा। अस्तु, वे राज्य की वर्तमान मशीन को, हिंसा द्वारा पूंजीपतियों को धनविहीन करके, पलट देना चाते हैं। अराजकतावादी स्थूल रूप से उन तरीकों को प्रस्वीकृत करते हैं जिनका प्रयोग साम्यवादी करना चाहेंगे।

लक्ष्यों पर आने पर हम देखते हैं कि अराजकतावादियों तथा साम्यवादियों का एक ही उद्देश्य है—एक वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना। यहां पर असली कार्य अराजकतावादियों के हाथ में चला जाता है जो कि अपने वर्गविहीन एवं राज्यविहीन समाज का चित्र प्रस्तुत करते हैं। प्रायः सभी तरह के विचार रखने वाले साम्यवादी, अराजकतावादी समाज के इस वर्णन से सहमत हैं। अराजकतावादियों का दावा है कि अराजकतावादी समाज में ही व्यक्ति अपनी प्रकृति और व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है। वैयक्तिकता का यह पूर्ण विकास वाह्य प्रतिबन्धों के सर्वथा अभाव द्वारा सम्भव बनाया जायगा। उनका मत है कि व्यक्ति पहली बार सब तरह की सत्ता से वास्तविक रूप में स्वतन्त्र होगा। अराजकतावादी समाज मनुष्य को पूंजीवादी चंगुल से तथा निजी सम्पत्ति से छुटकारा दिला देगा। वह मनुष्य को व्यक्ति के नाते राज्य तथा धार्मिक नैतिकता के प्राधिकार से भी स्वतन्त्रता दिला देगा। राज्य के स्थान पर एक स्वतन्त्र समाज की स्थापना होगी जिसमें वर्गों तथा सत्ता के समस्त

सम्बन्धों का अस्तित्व न होगा और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को, बिना वर्ग, जाति, रंग अथवा धर्म के भेद के, काम करने और समान रूप से पारितोषिक प्राप्त करने का अधिकार होगा। ऐच्छिक (voluntary) समुदाय इस स्वतन्त्र समाज के आधार होंगे। ये समुदाय वे सब कार्य करेंगे जिन पर आजकल राज्य का एकाधिकार है।

समान बातों की जांच कर लेने के पश्चात् अब हमें इन दोनों की असमान बातों का अथवा भिन्नताओं का भी विचार कर लेना चाहिए। यद्यपि दोनों का अन्तिम उद्देश्य एक वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना करना है, इस सम्बन्ध में उनके मार्ग सर्वथा भिन्न हैं। साम्यवादियों का मत है कि जब पूंजीपतियों हटा दिया जाता है और राज्य की मशीन पर मजदूरों का अधिकार हो जाता है तो जनता के वर्ग (prolctariat) की तानाशाही की स्थापना होगी। Lenin इसे मजदूरों की 'quasi-state' कहता है जो कि वर्तमान पूंजीवादी राज्य के स्थान पर निर्मित की जायेगी। यह नवीन राज्य क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग के एजेण्ट के रूप में कार्य करेगा। मार्क्स कहता है कि पूंजीपतियों के विरोध को कुचल डालने के लिए मजदूरों को राज्य की सत्ता सौंप दी जायगी।' इसका अर्थ यह है कि इस काल में राज्य निरंकुश और स्वेच्छाचारी होगा क्योंकि इसका प्रयोग मजदूर-वर्ग द्वारा निश्चय ही पूंजीपतियों को कुचलने के लिए किया जायगा जो उनके विरोधी हैं। जहां तक मजदूरों की इस तानाशाही (dictatorship of the proletariat) की स्थापना का सम्बन्ध है अराजकतावादी साम्यवादियों से तनिक भी सहमत नहीं हैं। वे हर तरह की तानाशाही का विरोध करते हैं चाहे वह कितने भी थोड़े समय के लिए क्यों न हो और चाहे किसी की भी हो। वे इस बात से इन्कार करते हैं कि बाध्य शक्ति और तानाशाही ऐसे समाज की स्थापना में सहायक हो सकती है जो स्वतन्त्रता और ऐच्छिक सहयोग के सिद्धान्त पर निर्मित हो। अराजकतावादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बहुत उच्च स्थान देते हैं और उनके सार्व-

जिसका जन्म इटली में हुआ था। उसके सिद्धान्तों में आधुनिक प्रजातन्त्र स्वतन्त्रवाद (Liberalism) और समाजवाद के आदर्शों और विधियों के विरुद्ध विद्रोह भरा हुआ है। वह प्रारम्भ में ही इस धारणा को अस्वीकृत कर देता है कि शासकीय समस्याओं का हल विवाद और मतदान द्वारा सम्भव है। फ़ासिज़्म की इस विशेषता के कारण कुछ विचारक यह सोचने लगे हैं कि वह अनाध्यात्मिक (anti-intellectual) है। फ़ासिज़्म की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह सर्वथा प्रयोगसिद्ध (empirical) और व्यवहारिक (practical) है। वह सिद्धान्त-रचना नहीं करता वरन् केवल कार्य करता है। लेकिन फिर भी इस सिद्धान्त की कुछ आधारभूत धारणायें और आदर्श हैं जिनका वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(१) **राष्ट्रीय राज्य का पूर्ण प्रभुत्व**—सर्वप्रथम फ़ैसिस्ट सिद्धान्त के समर्थक राष्ट्रीय राज्य के पूर्ण प्रभुत्व में विश्वास करते हैं। फ़ैसिस्ट सिद्धान्त व्यक्ति को पूर्णतया राज्य के अधीन बना देता है। एक फ़ैसिस्ट के लिए राष्ट्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण इकाई है और राष्ट्रीय कल्याण, समृद्धि और उन्नति सर्वोच्च अच्छाई। फ़ैसिस्ट राज्य को राष्ट्रीय उन्नति का संरक्षक और रक्षक बना देता है, जिसे प्राप्त करना व्यक्ति और राज्य दोनों का कर्तव्य और विशेषाधिकार है। उनका विश्वास है कि राज्य राष्ट्र का प्रतिनिधि है क्योंकि राज्य का उद्देश्य समस्त राष्ट्रीय आकांक्षाओं की प्राप्ति करना है। फ़ैसिस्ट सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को राष्ट्रीय कल्याण की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। इस तरह व्यक्ति साधन बन जाते हैं और राज्य लक्ष्य, क्योंकि वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है। राज्य का कार्य व्यक्तियों का अपने लक्ष्यों के लिए साधन-रूप में प्रयोग करना है क्योंकि वे राष्ट्र के लक्ष्यों से भिन्न नहीं हैं। यहां हम फ़ैसिस्टों का आधुनिक प्रजातन्त्रवादियों, समाजवादियों और स्वन्त्रतावादियों से भेद देखते हैं। प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रवाद दोनों व्यक्ति के हितों को देखते हैं। वे एक लोक-मंगलकारी राज्य के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता और

कल्याण को प्रत्येक अच्छी सरकार का लक्ष्य मानते हैं। इसी तरह समाजवाद भी मजदूर-वर्गों के हितों को देखता है और आर्थिक न्याय प्राप्त करने के लिए जनता के अधिकारों को उच्च स्थान देता है। इन सब के विपरीत फ़ैसिज़्म मजदूरों की किन्हीं भी आर्थिक अथवा राजनैतिक समस्याओं को प्रस्वीकृत नहीं करता और न व्यक्ति की आवश्यकता और सामूहिक कल्याण को। वह सब-कुछ राष्ट्र के लिए करता है जो राज्य में छिपा रहता है। फ़ासिज़्म राज्य के कल्याण के लिए वर्तमान पीढ़ी के हित के बलिदान करने को भी तैयार है क्योंकि:—(अ) राज्य राष्ट्र का सावयव प्रतिनिधित्व है, और (ब) राष्ट्र सदस्यों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है जो उनका निर्माण करते हैं क्योंकि उसमें जीवित व्यक्तियों के अतिरिक्त वे भी सम्मिलित हैं जो मर चुके हैं और जो अभी भविष्य में उत्पन्न होने को हैं।

(२) निगम राज्य (Corporative State) की धारणा—फ़ैसिस्ट सिद्धान्त के अनुसार राज्य व्यक्तियों से निर्मित नहीं है वरन् बहुत-से राष्ट्रीय विचारों वाले समूहों से बना है। फ़ैसिस्ट कहते हैं कि इस कारण प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा प्रतिनिधित्व की प्राचीन प्रणाली को त्याग देना चाहिए। उसकी जगह राष्ट्रीय समूह रखे जायेंगे और उन्हें प्रतिनिधित्व दिया जायगा। इस तरह फ़ासिज़्म व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन करता है।

(३) राजनैतिक कुलीनतन्त्र का आदर्श—फ़ासिज़्म कुलीन व्यक्तियों द्वारा शासन का समर्थन करता है—ऐसे थोड़े-से चुने हुए व्यक्ति जो ज्ञानवान, देशभक्त और समाज-सेवक होते हैं। उनकी धारणा है कि ये थोड़े-से व्यक्ति ही देश के लिए अच्छा शासन सुलभ कर सकते हैं क्योंकि वे निष्पक्ष रूप से समाज की सेवा करने के उच्च नैतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य करते हैं।

फ़ैसिस्ट सिद्धान्त के अनुसार जन-साधारण में राष्ट्र का निर्देशन अथवा शासन करने की योग्यता नहीं होती। उनका मुख्य कार्य अपने निर्धारित कर्तव्यों का सम्पादन करना है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि फ़ैसिज़्म प्रजा-

अपने प्राचीन स्वरूप में, जिनके उदाहरण आज भी मिलते हैं, साम्राज्यवाद मनुष्य की शिकारी अथवा लुटेरी (predatory) प्रवृत्ति का द्योतक था। चरागाहों, अन्न तथा अन्य ऐसी वस्तुओं की खोज में जातियों का एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने और एक फिरके के दूसरे द्वारा विजित होने में हमें मनुष्य की प्रकृति के लुटेरे अथवा शिकारी स्वभाव का किसी-न-किसी रूप में पर्याप्त प्रमाण मिलता है। कभी-कभी वही निर्दयी अतिक्रमण और खूनी लड़ाइयों का रूप धारण करता है और कभी-कभी श्रेष्ठतम बुद्धि और चातुर्य द्वारा अपने स्थान से हटाने के क्रमिक कार्य का।

(२) विजय और सत्ता की लिप्सा:—जब हम साम्राज्यवाद के प्राचीन स्वरूपों से नवीनतम स्वरूपों पर आते हैं तो देखते हैं कि विजय की लिप्सा और सत्ता के लिए प्रतियोगिता युद्ध ने उसके विकास में उल्लेखनीय योग दिया है। डा० आशीर्वादम् के शब्दों में हम इस बात को यों रख सकते हैं:—"The inordinate desire to point the map of the world with red or some other colour has no doubt been one of the powerful incentives to the building up of modern Imperialism." प्रो० शूमाँ का भी यही मत है कि आधुनिक साम्राज्यवाद शक्ति की इच्छा और विजय-लालसा की नवीन अभिव्यक्ति है।

(३) अतिरिक्त जनसंख्या के लिए स्थान:—साम्राज्यवाद के विकास में अपनी जन्मभूमि के देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को कम करने की इच्छा ने भी बहुत सहायता की। गत कुछ सदियों में अनेक देशों की जनसंख्या की आशा से अधिक वृद्धि हुई है जिसके कारण उन्होंने नये देशों की खोज प्रारम्भ की जहाँ वे कुछ जनसंख्या भेजकर अपने देश की स्थिति ठीक रख सकें। १९४१ तक जापान के राज्य बढ़ाने का यही बहाना था। बाद में उसमें कुछ अन्य बातें भी सम्मिलित हो गईं। इटली भी अनेक वर्षों से यह कह रहा है कि उसका भू-भाग बढ़ती हुई जनसंख्या को संभालने में असमर्थ है। अस्तु, उसे नये उपनिवेश ढूंढ़ने पड़े।

(४) धार्मिक कारण—धार्मिक और सहायता-कार्य ने भी कभी-कभी साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञों को प्रेरणा दी है। सत्रहवीं सदी में धार्मिक प्रचार साम्राज्यवाद का एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है। इस काल में फ्रान्स द्वारा स्याम पर आधिपत्य जमाने का कार्य मुख्यतः यहूदी पादरियों ने ही किया था। धार्मिक प्रचार करने वाले साम्राज्य-निर्माताओं के इतिहास में दक्षिण-अफ्रीका में किये गए (David Livingstone) का कार्य भी उल्लेखनीय है। और भी अनेक ऐसे उदाहरण हुए हैं जहां धार्मिक प्रचार-कर्ता व्यापारियों और शासकों के अग्रगामी बने।

(५) मानवीय कारण—कभी मानवीय विचारों को भी साम्राज्यवाद के सहायक तत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। एक विशेष प्रकार का मानवीय विचार "whiteman's burden" की कहावत में व्यक्त है। कभी-कभी इसे "उत्तरदायित्व के साम्राज्यवाद" ("Imperialism of Responsibility") का नाम भी दिया जाता है। इसमें जातीय-सम्मान और श्रेष्ठता का भाव निहित है। वह अपने सर्वोत्तम रूप में अज्ञानता के स्थान पर ज्ञान, सरकार के प्राचीन स्वरूपों के स्थान में उन्नत स्वरूप और न्याय के प्राचीन विचारों के स्थान में नये आधुनिक विचार लाना चाहता है। वह दास-प्रथा, अधिक ब्याज लेना आदि कुप्रथाओं को समाप्त करना चाहता है। डा० आशीर्वादम् ने कहा है कि मानवतावाद (humanitarianism) के सम्बन्ध में आज कुछ भी कहा जाय लेकिन साम्राज्यवाद का मूल कारण वह नहीं हो सकता। वह एक गौण कारण ही सकता है।

(६) राष्ट्रीय भावना—आज साम्राज्यवाद का सबसे आधारभूत कारण राष्ट्रवाद (nationalism) अथवा राष्ट्रीयता की भावना है। राष्ट्रवाद राष्ट्रीय-अहंकार, सत्ता और सम्मान का सिद्धान्त है। मूलतः राजनैतिक सिद्धान्त होने पर भी वह सर्वथा वैसा ही नहीं है। वह एक राष्ट्र का सब दिशाओं में गौरव बढ़ाना चाहता है और उसकी अभिव्यक्ति एक छोटे-से समूह को अधिक-से-अधिक शक्तिशाली बनाने की इच्छा में होती है।

२०—विविध प्रश्नावली

Q. 125. Discuss the various stages in the state evolution.

राज्य के विकास-क्रम की मुख्य मंज़िलों की विवेचना करो।

Ans.

१—जातीय (tribal) राज्य : विकास की पहली मंज़िल में राज्य का जाति से भेद नहीं किया जा सकता था। वह न प्रदेशीय था न वैयक्तिक। नागरिकता का अधिकार रक्त-सम्बन्ध पर निर्भर रहता था।

२—पूर्वी साम्राज्य : लेकिन पूर्व की नदियों की घाटियों में बड़े-बड़े साम्राज्य वर्तमान थे। उनमें निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी राजा राज्य करते थे। राजतन्त्र परम्परागत था। नागरिकों में कोई नागरिक अथवा राष्ट्रीय चेतना नहीं थी। जनता को कोई स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त थी। इन साम्राज्यों में राजनीति और धर्म पृथक् नहीं थे। यह विश्वास प्रचलित था कि राज्य को ईश्वरीय वरदान मिला हुआ है। उनमें एकता का अभाव था। ऐसे राज्यों में राजनैतिक संस्थायें और विचार विकसित नहीं हो सकते थे।

३—ग्रीक नगर-राज्य : ग्रीक की घाटियां और द्वीप स्वतन्त्र राज्य हो गए। इन राज्यों में राजनैतिक संस्थाओं का विकास बहुत तेज़ी से हुआ। राजतन्त्र के स्थान पर कुलीनतन्त्र आया और कुलीनतन्त्र के बाद प्रजातन्त्र। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत नागरिक पर्याप्त मात्रा में स्वतन्त्रता का भोग करते थे। प्रजातन्त्र प्रत्यक्ष था। राजनैतिक विचारों का विकास हुआ। ग्रीक राजनैतिक प्रणाली का मुख्य दोष एकता की कमी थी। पृथक्करण की प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं जिन से विभिन्न राज्यों में संघर्ष होने लगा।

४—रोम का विश्व-राज्य : इटली में भी नगर-राज्य थे जो राजतन्त्र

कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र की मंजिलों से गुजरे। रोम का नगर राज्य बहुत शक्तिशाली हो गया और उसने समस्त यूरोप तथा एशिया के कुछ भाग पर साम्राज्य स्थापित कर लिया। रोम में एक भिन्न कानून-प्रणाली तथा औपनिवेशिक और म्यूनिसिपल शासन की प्रणाली का विकास हुआ जिसमें सत्ता का केन्द्रीयकरण व कानून की एकरूपता थी और शासन केन्द्रित था। जनता को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और स्वायत्त-शासन नहीं प्राप्त थे। उन्हें राजनैतिक शिक्षा नहीं मिली इसलिए प्रजातन्त्र की कीमत पर उन्होंने एकता पाई।

५—सामन्ती राज्य : सामन्तवाद (Feudalism) के अन्तर्गत राजाओं की सत्ता का ह्रास हुआ। जमीन सामन्ती रईसों (lords) में विभाजित हो गई जो जनता से कर वसूल करते थे और उनके झगड़ों का फैसला करते थे। जमीन काश्तकारों को दे दी जाती थी जो उसे उप-काश्तकारों (sub-tenants) को दे देते थे। इस तरह स्वामित्व की एक क्रमिक सीढ़ी-सी थी। राजनैतिक सत्ता जमीन के स्वामित्व के साथ मिला दी गई थी। काश्तकार और उपकाश्तकार रईस के प्रति भक्ति रखते थे। उस व्यवस्था में कोई सामान्य नियम नहीं था और न केन्द्रीय सत्ता और सामान्य नागरिकता ही थी। वास्तव में सामन्ती राज्य, राज्य नहीं था।

(६) आधुनिक राष्ट्रीय राज्य—प्रत्येक राष्ट्र का अपना राज्य बन गया जैसे इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स। जनता एक सामान्य राष्ट्रीयता में बंधी हुई थी और उनकी केन्द्रित सरकारें थीं। शासकों को जनता पर सर्वोच्च सत्ता प्राप्त थी। चर्च (church) राज्य से पृथक् कर दिया गया था। राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना राजतन्त्र की सहायता से हुई लेकिन कालान्तर में जनता राजाओं की निरंकुश शक्तियों से असन्तुष्ट हो गई और राजतन्त्र के स्थान पर प्रजातन्त्र को आसीन किया गया। इस तरह राष्ट्रीय राज्यों ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता का राज्य के प्रभुत्व से समन्वय कर दिया है।

इस तरह राज्य के विकास की सामान्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(१) राज्य का विकास सरलता से जटिलता की ओर हुआ है।

नागरिक देश के लिए कानून निर्माण करे और इसलिए इस व्यावहारिक कठिनाई की दृष्टि से सबसे अच्छा दूसरा तरीका राज्य की व्यवस्थापिका में जनता के प्रतिनिधि भेजना है। प्रतिनिधियों का चुनाव-निर्वाचन, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष द्वारा होता है। वोट देने का अधिकार नागरिकों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अधिकार होता है, वरन् एक सुसंगठित प्रजातन्त्र में वोट देना और योग्य प्रतिनिधियों को चुनना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होता है। वोट देने का अधिकार, जिसे मताधिकार कहते हैं, सार्वलौकिक हो सकता है अथवा सीमित। सार्वलौकिक मताधिकार के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक, जो वयस्क होता है, मत देने का अधिकारी होता है बिना लिंग, शिक्षा, सम्पत्ति, धन अथवा ऐसी अन्य आवश्यकताओं के सीमित मताधिकार यह बताता है कि वोट देने का अधिकार नागरिकों के एक भाग तक ही सीमित है जो कुछ शर्तों को पूरा करते हैं।

निर्वाचन और मताधिकार के प्रश्न से अलग प्रतिनिधित्व की समस्या है। राज्य की व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व का आधार क्या होना चाहिए? वह कौनसा नियम हो सकता है जो राज्य के समस्त प्रदेश में सब तरह के हितों को अधिक-से-अधिक उचित प्रतिनिधित्व दिलाने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

प्रतिनिधित्व के दो प्रकार :

इस समस्या के दो तरह के हल हैं : (१) प्रादेशिक प्रतिनिधित्व और व्यावसायिक प्रतिनिधित्व। प्रादेशिक अथवा भौगोलिक प्रतिनिधित्व से हमारा अर्थ यह है कि निर्वाचन-कार्य के लिए देश को अनेक निर्वाचन-प्रदेशों अथवा इकाइयों में विभाजित कर दिया जाय (जिन्हें निर्वाचन क्षेत्र कहते हैं) और उनमें से प्रत्येक देश की व्यवस्थापिका के लिए एक या एक से अधिक प्रतिनिधि चुने। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का अर्थ यह है कि निर्वाचन के लिए देश की जनता का विभाजन उनके व्यावसायिक हितों के आधार पर कर दिया जाय अर्थात् निर्वाचन-क्षेत्रों का निर्माण प्रादेशिक आधार पर न किया जाकर व्यावसायिक हितों के आधार पर किया जाय और फिर प्रत्येक व्यवसाय को

व्यवस्थापिका में अपना पृथक पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिले। साधारणतः प्रादेशिक प्रतिनिधित्व का अधिकार प्रयोग होता है।

गुण तथा दोष :

अब हमें इन दोनों के गुण-दोषों पर विचार कर लेना चाहिए।

प्रादेशिक प्रतिनिधित्व में यह गुण है कि वह जनता के राष्ट्रीय हितों को बनाए रखने के लिए सरल और सुविधाजनक है।

इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि वह अनिश्चित और अस्वाभाविक है। वह हित और उद्देश्य की एकता के आधारभूत सिद्धान्त की उपेक्षा करता है जो सब सामाजिक समस्याओं का निर्देशक तत्त्व है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व में एक ही गुण है कि वह जनता के व्यावसायिक हितों की रक्षा करता है और इस तरह अधिक प्रजातान्त्रिक और न्यायपूर्ण होने का दावा करता है, क्योंकि विभिन्न हितों को व्यवस्थापिका में उचित प्रतिनिधित्व मिल जाता है लेकिन प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के समर्थकों द्वारा व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के इस तथाकथित गुण की बड़ी कटु आलोचना की जाती है। वे कहते हैं कि व्यवसाय पर आधारित प्रणाली में दो दोष हैं : प्रथम, ऐसी प्रणाली के द्वारा राष्ट्रीय एकता यदि सर्वथा नष्ट नहीं हो जाती तो कमज़ोर निश्चय ही हो जाती है क्योंकि प्रत्येक व्यावसायिक समूह अपने ही व्यवसाय के हितों का समर्थन करता है और इस तरह राष्ट्रीय महत्त्व की समस्यायें प्रायः उपेक्षित रह जाती हैं। दूसरे, परिणाम स्वरूप वर्ग व्यवस्थापन को प्रोत्साहन मिलेगा और शत्रुता बढ़ेगी।

बढ़ते हैं, स्वेच्छाचारिता अथवा बुरी भावना से काम करते हैं तो उन पर साधारण न्यायालयों में मुकदमा चलाया जा सकता है, न कि विशेष न्यायालयों में जैसा कि यूरोपीय देशों में होता है और साधारण कानूनी कार्यवाही द्वारा उनका निर्णय किया जा सकता है। प्रशासकीय कानून की जाति का कोई कानून वहां नहीं है। दूसरे शब्दों में अंग्रेज तथा अमेरिकन लोग जन-कानून (Public Law) और निजी कानून (Private Law) में भेद नहीं करते।

प्रशासकीय कानून के दोष—

Dicey प्रशासकीय कानून का कटु आलोचक था। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा कि Rule of Law अधिकतम स्वतन्त्रता प्रदान करता है क्योंकि उसके समक्ष सब बराबर हैं जब कि प्रशासकीय कानून स्वतन्त्रता को कम करता है। उसने यह कहा कि राज्य के अधिकारियों को एक पृथक कानून के अधीन बनाकर तथा विशेष न्यायालयों के सामने जिम्मेदार बनाकर शासकों में एक श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न कर दी जाती है। वे अपने को विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग समझने लगते हैं। यह संकेत किया जाता है कि प्रशासकीय न्यायालय सरकार के विभिन्न विभागों के अधिकारियों का बना होता है। ऐसी परिस्थितियों में उन न्यायालयों से न्याय की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि वे न्यायाधीश जो उन न्यायालयों का निर्माण करते हैं स्वभावतः अपने साथी अधिकारियों का पक्ष लेंगे। फिर व्यक्ति के अधिकारों का बलिदान इसलिए भी होगा कि शासक ही अपराध का करने वाला और न्यायाधीश होगा।

यदि सरकार की नीति कोई निर्णय मांगती है तो भी न्याय नहीं प्राप्त किया जा सकता। प्रशासकीय कानून रीतियों और पूर्व-दृष्टान्तों पर आधारित होता है न कि कानूनों पर। तदनुसार वह अनिश्चित होता है और न्याय-पथ को दूषित करता है। फिर राज्य के अधिकारियों को साधारण कानून और साधारण न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र से बाहर रखकर हम कानून की सार्वलौकिकता को ही नष्ट नहीं करते वरन् उसे अप्रजातान्त्रिक भी बना देते हैं।

अन्त में, यह कहा जाता है कि वह न्यायपालिका की निष्पक्षता है जो जनता की स्वतन्त्रता की गारन्टी करती है और उसके अधिकारों की रक्षा करती है। प्रशासकीय न्यायालयों से निष्पक्षता और स्वतन्त्रता की आशा नहीं की जा सकती।

प्रशासकीय कानून के गुण :

लेकिन फ्रान्स के अनुभव के आधार पर जिससे हम परिचित हैं यह कहना सत्य है कि प्रशासकीय कानून के अन्तर्गत स्वतन्त्रता नहीं रहती। वास्तव में, एक फ्रान्सीसी किसी भी अन्य व्यक्ति से अधिक स्वतन्त्रता-प्रिय होता है। उसकी स्वतन्त्रता पर किसी भी प्रतिबन्ध का विरोध किया जाता है। वास्तव में, वे प्रशासकीय कानून को अपनी स्वतन्त्रता की आधारशिला मानते हैं। प्रशासकीय न्यायालयों से अधिकारियों का पक्ष लेने की शंका करना भी उचित नहीं है। प्रशासकीय न्यायालय के रूप में फ्रान्स की Council of States ने निष्पक्षता की प्रशंसनीय परम्परा स्थापित कर दी है। राज्य तथा नागरिकों के बीच झगड़ों के निर्णय में विशेष (technical) समस्याएं उलझी हुई होती हैं जिनकी कुशल परीक्षा की आवश्यकता होती है। यदि झगड़े का निर्णय कानून के साधारण न्यायालय द्वारा किया जाय तो सभापतित्व करने वाले अधिकारी के लिए उनकी बारीकियों का समझना और कुशल निर्णय देना कठिन है अर्थात् उनकी योग्यता के बाहर है।

एक साधारण व्यक्ति (lay man) होने के कारण उसके गलत निर्णय की सम्भावना रहती है। दूसरी ओर प्रशासकीय न्यायालय में कुशल व्यक्ति होते हैं इसलिए तथ्यों का सही मूल्यांकन और न्याय का वास्तविक शासन तार्किक आशायें हैं। फ्रान्स में एक साधारण नागरिक प्रशासकीय न्यायालयों से अंग्रेजों की अपेक्षा उत्तम न्याय पाता है। यूरोपीय देशों में यदि कोई अधिकारी प्रशासकीय न्यायालय द्वारा अपराधी ठहराया जाता है तो राज्य उसकी क्षतिपूर्ति करता है। इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में वह अफसर ही, जिस पर मुकदमा चलाया जाता है, क्षतिपूर्ति करने के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि ऐसी परिस्थितियों में समान क्षतिपूर्ति

प्राप्त करना असम्भव है। Goondow ने कहा है कि प्रशासकीय न्यायालयों ने साधारण न्यायालयों की अपेक्षा अपने को निजी अधिकारों का अधिक रक्षक सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त प्रशासकीय न्यायालयों में न्यायकार्य अपेक्षाकृत सस्ता है और तेजी से किया जाता है क्योंकि कार्य-प्रणाली सरल है।

प्रशासकीय कानून संहिता-बद्ध नहीं होता वरन् प्रधानतः पूर्व-दृष्टान्तों का बना होता है। विदेशी कानूनवेत्ता भी उसकी प्रशंसा करते हैं क्योंकि उसका निर्माण बहुत सावधानी से समय की आवश्यकतानुसार धीरे-धीरे किया गया है। नमनीयता प्रशासकीय कानून की विशेषता है और परिस्थिति के अनुकूल बनने की क्षमता उसका मुख्य गुण। वह कानूनी बारीकियों की कठोरताओं से मुक्त है और समय की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों की उपयुक्तता के अनुकूल बनाया जा सकता है। इस तरह निर्मित कानून काफी व्यापक होता है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि फ्रान्स के अतिरिक्त और कोई देश नहीं है जिसमें निजी व्यक्तियों के अधिकार प्रशासकीय अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता और गैर-कानूनी व्यवहार से इतने सुरक्षित हों और जहां जनता को ऐसे व्यवहार के लिए क्षतिपूर्ति होने की इतनी गारन्टी हो।

Q. 130. Describe the different methods of constituting the Executive. Point out their relative merits and demerits.

कार्यकारिणी के निर्माण की विभिन्न विधियों का वर्णन करो और उनके आपेक्षिक गुण-दोषों का संकेत करो।

Ans.

कार्यकारिणी के निर्माण की कोई एक रूपविधि नहीं है। तीन मुख्य विधियां आजकल प्रचलित हैं :

१—पैतृक कार्यकारिणी : यह पुराने देशों में प्रचलित है। इस प्रणाली के अनुसार पद उत्तराधिकार कानून (Law of primogeni-

ture) के अनुसार चलता है। कार्य-काल जीवनपर्यन्त होता है। आधुनिक प्रजातन्त्रों में पैतृक (hereditory) कार्यकारिणी की सत्तायें केवल नाम-मात्र की होती हैं। उनके कार्यों का उत्तरदायित्व उनके मन्त्रियों पर होता है। उनका पद दलों की राजनीति के ऊपर होता है। (पैतृक कार्यकारिणी के गुण-दोषों के लिए राजतन्त्र और नियन्त्रित राजतन्त्र के प्रश्नों को देखिये)

२—निर्वाचित कार्यकारिणी : कार्यकारिणी की तीन भिन्न विधियों द्वारा निर्वाचित की जा सकती है :

(१) प्रत्यक्ष निर्वाचन : वह प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित की जा सकती है जैसे चिली और संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यों में होता है। यह प्रणाली लोक-कार्यों में रुचि उत्पन्न करती है। निर्वाचित राष्ट्रपति अधिक उत्तरदायित्व महसूस करता है। इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं। साधारण जनता उम्मीदवार की शासकीय योग्यताओं की परख नहीं कर सकती। निर्वाचित-प्रणाली में भ्रष्टाचार, षड्यन्त्र और दुर्भावना पाए जाते हैं। दल-भावना बढ़ती है। एक बार निर्वाचित राष्ट्रपति बहुत समय तक पद पर बने रहने का प्रयत्न करता है और उद्देश्य के लिए सरकारी सहायता और अन्य अनुचित साधनों का प्रयोग करता है। दलबन्दी के झगड़े में अयोग्य उम्मीदवार निर्वाचित हो जाते हैं।

(२) अप्रत्यक्ष निर्वाचन : यह बहुत प्रचलित विधि है। राष्ट्रपति का निर्वाचन एक "निर्वाचक मण्डल" (electoral college) द्वारा किया जाता है जैसा संयुक्त राज्य अमेरिका में होता है। इसका उद्देश्य निर्वाचन का अधिकार उन लोगों तक सीमित रखना है जो साधारण जनता की अपेक्षा निर्णय करने में अधिक समर्थ होते हैं। वास्तविक व्यवहार रूप में संगठित राजनैतिक दल इस प्रणाली को प्रत्यक्ष निर्वाचन बना देते हैं। निर्वाचक दल के पुतले बन जाते हैं जिनका कोई स्वतन्त्र निर्णय नहीं होता। वे व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार मत नहीं देते वरन् दल के आदेशों के अनुसार देते हैं।

(२) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन : यह प्रणाली फ्रान्स और भारत में प्रचलित है। व्यवस्थापिका के दोनों सदन मिलकर राष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं। ये निर्वाचक देश के सबसे अधिक योग्यता-प्राप्त व्यक्ति होते हैं। लेकिन इस प्रणाली में भी निर्वाचन राजनैतिक दलों का कार्य बन जाता है। इसका एक प्रत्यक्ष गुण है। दलीय आधार पर निर्वाचित राष्ट्रपति को व्यवस्थापिका का समर्थन प्राप्त रहेगा। अस्तु, वह कार्य अधिक सरलता से कर सकेगा।

३—नाम-निर्देशन अथवा मनोनीति : कार्यकारिणी के चुनाव के लिए किसी प्रकार की प्रतियोगिता परीक्षा भी हो सकती है लेकिन साधारणतः उम्मीदवार की लोक-जीवन की सेवायें ही नाम-निर्देशन का मापदण्ड होती हैं। वैयक्तिक योग्यताओं अथवा गुणों का खयाल किया जाता है। ब्रिटेन के अधिराज्यों के गवर्नर जनरल इङ्गलैंड के राजा द्वारा मनोनीत होते हैं। इस प्रणाली की कमजोरी यह है कि उसमें पक्षपात आ जाता है। ऐसी कार्यकारिणी कमजोर होती है क्योंकि वह एक श्रेष्ठतम सत्ता के अधीन होती है।

Q. 131. What part does the Civil Service play in a modern democracy? Discuss its position and functions.

आधुनिक प्रजातन्त्र राज्य में नागरिक-सेवा का क्या महत्त्व है? उसकी स्थिति तथा कार्यों का वर्णन करो।

Ans.

(अ) नागरिक सेवा (Civil Service) का अर्थ:—

यह वैतनिक सेवकों का सामूहिक रूप है जो विभिन्न शासकीय विभागों में विभागीय प्रधानों के सामान्य निर्देशन में कार्य करते हैं। व्यवस्थापिका के सदस्य, न्यायिक अधिकारी और सैन्य-शक्ति इसमें नहीं आते। नागरिक सेवक स्थायी होते हैं और वे उसे एक व्यवसाय के रूप में अपनाते हैं। वे कम-उम्र में सेवा में प्रवेश करते हैं और अवकाश पाने तक उसमें रहते हैं।

उन्हें सेवा-काल में अच्छा वेतन मिलता है और अवकाश प्राप्त करने पर पेन्शन मिलती है।

(ब) भर्ती और कार्य-काल :—

सेवा में भर्ती साधारणतः लोक-सेवा आयोग (Public Service Commission) द्वारा की जाती है। इस संस्था की कानूनी मनायें होती हैं। आयोग के सदस्य राजनैतिक प्रभाव अथवा वैयक्तिक दबाव से परे होते हैं। उन्हें अपने पद पर विशेष अधिकार दिये जाते हैं ताकि वह किसी भी क्षेत्र के पक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न न करें। उन्हें पुनः नौकरी मिलने के अयोग्य कर दिया जाता है। आयोग परीक्षायें लेता है और सफल उम्मीदवारों में से सदस्य चुनता है। कभी-कभी परीक्षा के साथ नाम-निर्देशन (Nomination) भी मिला दिया जाता है। शुद्ध नाम-निर्देशन की प्रणाली दूषित है। वह "Spoils System" को जन्म देती है—कार्य-काल जीवनपर्यन्त होता है। "Spoils System" समाप्त कर दिया है। अब केवल राजनैतिक प्रधान बदलते हैं लेकिन शासकीय प्रधान कायम रहते हैं चाहे कोई भी सरकार हो। पदवृद्धि कार्यक्षमता और सेवा-काल दोनों के संयुक्त आधार पर होती है। उन्हें राजनीति में भाग लेने की सख्त मनाही रहती है। उन्हें भक्तिपूर्वक मन्त्रियों की नीतियों को लागू करना होता है।

(स) कार्य:—

(१) आधुनिक राज्य का व्यापार बहुत जटिल बन गया है। मन्त्रिगण प्रायः कार्य-कुशल नहीं होते और उन्हें शासन का आवश्यक ज्ञान भी नहीं प्राप्त होता। विशेष ज्ञान उन्हें नागरिक सेवाओं द्वारा प्रदान किया जाता है जो विशेष योग्यता वाले होते हैं। वे सारे तथ्य और अंक मन्त्रियों के सामने रखते हैं। इन तथ्यों के आधार पर मन्त्री सामान्य नीति निर्धारित करता है। जब नीति निर्धारित हो जाती है तो नागरिक सेवक उसे कार्यान्वित व्यवहार में लाते हैं।

(२) **व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन** : यह प्रणाली फ्रान्स और भारत में प्रचलित है। व्यवस्थापिका के दोनों सदन मिलकर राष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं। ये निर्वाचक देश के सबसे अधिक योग्यता-प्राप्त व्यक्ति होते हैं। लेकिन इस प्रणाली में भी निर्वाचन राजनैतिक दलों का कार्य बन जाता है। इसका एक प्रत्यक्ष गुण है। दलीय आधार पर निर्वाचित राष्ट्रपति को व्यवस्थापिका का समर्थन प्राप्त रहेगा। अस्तु, वह कार्य अधिक सरलता से कर सकेगा।

३—**नाम-निर्देशन अथवा मनोनीति** : कार्यकारिणी के चुनाव के लिए किसी प्रकार की प्रतियोगिता परीक्षा भी हो सकती है लेकिन साधारणतः उम्मीदवार की लोक-जीवन की सेवायें ही नाम-निर्देशन का मापदण्ड होती हैं। वैयक्तिक योग्यताओं अथवा गुणों का खयाल किया जाता है। ब्रिटेन के अधिराज्यों के गवर्नर जनरल इङ्गलैंड के राजा द्वारा मनोनीत होते हैं। इस प्रणाली की कमजोरी यह है कि उसमें पक्षपात आ जाता है। ऐसी कार्यकारिणी कमजोर होती है क्योंकि वह एक श्रेष्ठतम सत्ता के अधीन होती है।

Q. 131. What part does the Civil Service play in a modern democracy? Discuss its position and functions.

आधुनिक प्रजातन्त्र राज्य में नागरिक-सेवा का क्या महत्त्व है? उसकी स्थिति तथा कार्यों का वर्णन करो।

Ans.

(अ) नागरिक सेवा (Civil Service) का अर्थ:—

यह वैतनिक सेवकों का सामूहिक रूप है जो विभिन्न शासकीय विभागों में विभागीय प्रधानों के सामान्य निर्देशन में कार्य करते हैं। व्यवस्थापिका के सदस्य, न्यायिक अधिकारी और सैन्य-शक्ति इसमें नहीं आते। नागरिक सेवक स्थायी होते हैं और वे इसे एक व्यवसाय के रूप में अपनाते हैं। वे कम-उम्र में सेवा में प्रवेश करते हैं और अवकाश पाने तक उसमें रहते हैं।

उन्हें सेवा-काल में अच्छा वेतन मिलता है और अवकाश प्राप्त करने पर पैन्शन मिलती है।

(ब) भर्ती और कार्य-काल :—

सेवा में भर्ती साधारणतः लोक-सेवा आयोग (Public Service Commission) द्वारा की जाती है। इस संस्था की कानूनी सत्तायें होती हैं। आयोग के सदस्य राजनैतिक प्रभाव अथवा वैयक्तिक दबाव से परे होते हैं। उन्हें अपने पद पर विशेष अधिकार दिये जाते हैं ताकि वह किसी भी क्षेत्र के पक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न न करें। उन्हें पुनः नौकरी मिलने के अयोग्य कर दिया जाता है। आयोग परीक्षायें लेता है और सफल उम्मीदवारों में से सदस्य चुनता है। कभी-कभी परीक्षा के साथ नाम-निर्देशन (Nomination) भी मिला दिया जाता है। शुद्ध नाम-निर्देशन की प्रणाली दूषित है। वह "Spoils System" को जन्म देती है—कार्य-काल जीवनपर्यन्त होता है। "Spoils System" समाप्त कर दिया है। अब केवल राजनैतिक प्रधान बदलते हैं लेकिन शासकीय प्रधान कायम रहते हैं चाहे कोई भी सरकार हो। पदवृद्धि कार्यक्षमता और सेवा-काल दोनों के संयुक्त आधार पर होती है। उन्हें राजनीति में भाग लेने की सख्त मनाही रहती है। उन्हें भक्तिपूर्वक मन्त्रियों की नीतियों को लागू करना होता है।

(स) कार्य:—

(१) आधुनिक राज्य का व्यापार बहुत जटिल बन गया है। मन्त्रिगण प्रायः कार्य-कुशल नहीं होते और उन्हें शासन का आवश्यक ज्ञान भी नहीं प्राप्त होता। विशेष ज्ञान उन्हें नागरिक सेवाओं द्वारा प्रदान किया जाता है जो विशेष योग्यता वाले होते हैं। वे सारे तथ्य और अंक मन्त्रियों के सामने रखते हैं। इन तथ्यों के आधार पर मन्त्री सामान्य नीति निर्धारित करता है। जब नीति निर्धारित हो जाती है तो नागरिक सेवक उसे वास्तविक व्यवहार में लाते हैं।

(२) संसदीय सरकार नागरिक सेवा के बिना असम्भव है। [illegible]

राज्य में सरकार (कार्यकारिणी) को जनता के प्रति उत्तरदायी होना पड़ता है। जनता अपने प्रतिनिधियों द्वारा राज्य करती है जिन्हें वह प्रति चार या पांच वर्ष बाद चुनती है। मन्त्रियों का चुनाव इन प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। यदि बहुमत दल सब नये अधिकारियों को नियुक्त करता है तो वे उत्तरदायी बेशक होंगे लेकिन उन्हें शासन का विशेष ज्ञान नहीं होगा जिसकी उन्हें आवश्यकता होती है। यदि अधिकारियों का उनपर कोई प्रतिबन्ध न हो तो वे अनुत्तरदायी और जनता की आवाज के प्रति उदासीन हो जायेंगे। सांसदीय शासन-प्रणाली में नागरिक सेवकों का विशेष ज्ञान लोक-प्रभुत्व के साथ मिला दिया जाता है। मन्त्रिगण लोक-इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। नागरिक सेवक विशेष ज्ञान रखते हैं। जनता मन्त्रियों को बदल सकती है जो कि राजनैतिक प्रधान कहलाते हैं, नागरिक सेवक नहीं। नागरिक सेवकों को मन्त्रियों के प्रति वफ़ादार होना पड़ता है चाहे वे किसी भी राजनैतिक दल के क्यों न हों।

३. आधुनिक राज्य के बहुमुखी कार्य हैं जो बिना चतुर अधिकारियों के किए नहीं जा सकते।

४. मन्त्री एक व्यस्त व्यक्ति होता है और वह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है। उसके सारे उत्तर अधिकारियों द्वारा तैयार किए जाते हैं।

व्यवस्थापिका की सत्तायें हर देश में कम होती जा रही हैं और कार्यकारिणी की सत्तायें बढ़ रही हैं। चूंकि मन्त्री और व्यवस्थापिका के सदस्य कार्य-कुशल नहीं होते और राजनैतिक समस्यायें जटिल होती जा रही हैं। बहुत कुछ कार्य नागरिक सेवकों के विवेक पर रह जाता है। व्यवस्थापिकाओं का नागरिक सेवकों पर नियन्त्रण समाप्त हो गया है। उसके परिणामस्वरूप "नौकरशाही निरंकुशता" (Bureaucratic Despotism) की वृद्धि हो रही है।

Q. 132. Distinguish between a sovereign law making body and a non-sovereign law ma-

king body.

प्रभुत्वसम्पन्न व्यवस्थापिका और अपूर्ण प्रभुत्ववाली व्यवस्थापिका का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

Ans.

सब राज्यों की व्यवस्थापिकायें समान रूप से शक्तिशाली नहीं होतीं। कुछ व्यवस्थापिकाओं की सत्तायें अधिक होती हैं जबकि अन्यों की सत्ता, स्वतन्त्रता और शक्तियां कम होती हैं। उन्हें सीमित सत्ता प्राप्त होती है। पहली तरह की व्यवस्थापिकायें 'प्रभुत्वसम्पन्न' कहलाती हैं और दूसरी तरह की 'प्रभुत्वहीन'।

प्रभुत्त्वसम्पन्न कानून-निर्माणकारी सभा—

प्रभुत्व सम्पन्न कानून-निर्मात्री सभा की कानून-निर्माण शक्ति पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं होता। वह कानून बनाने के लिए स्वतन्त्र होती है तथा उनमें संशोधन करने और उन्हे समाप्त करने के लिए भी। ऐसी कानून निर्मात्री सभाओं द्वारा पास किये गए कानून किसी भी कानूनी न्यायालय द्वारा अवैध घोषित नहीं किए जा सकते। न्यायालयों को उनकी वैधानिकता पर बिना विचार किए ही उन्हें लागू करना होता है। फिर ऐसी प्रभुत्वसम्पन्न व्यवस्थापिकायें केवल साधारण कानूनों को ही पास अथवा सुधार नहीं कर सकतीं वरन् वे वैधानिक कानूनों (Constitutional Laws) के सम्बन्ध में भी वैसा कर सकती हैं। प्रभुत्वसम्पन्न व्यवस्थापिका का एक उदाहरण इंग्लैंड की Parliament है।

अपूर्ण प्रभुत्व वाली कानून निर्माणकारी सभा—

अपूर्ण प्रभुत्व वाली व्यवस्थापिका इतनी स्वतन्त्र नहीं होती। उसके कानूनों की 'न्यायिक पर्यवीक्षा' (Judicial Review) की जा सकती है अर्थात् कानूनी न्यायालय ऐसी व्यवस्थापिका द्वारा पास किये गए कानूनों को अवैध घोषित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त अपूर्ण प्रभुत्ववाली व्यवस्थापिकायें स्वयं देश के संविधान में संशोधन नहीं कर सकतीं। क्योंकि, अपूर्ण प्रभुत्ववाली व्यवस्थापिका द्वारा पास किये गए कानून असंवैधानिक

द्वारा प्रतिषेध (Veto) किए जा सकते हैं। अमेरिका की 'Congress' अपूर्ण प्रभुत्ववाली व्यवस्थापिका का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

Q. 133. Give the merits and demerits of the Rule of Law.

Rule of Law के गुण दोषों का वर्णन करो।

Ans.

इंग्लैंड के संविधान की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता Rule of Law है। Rule of Law देश के Common Law पर आधारित है जो सदियों के संघर्ष की देन है। इंग्लैंड में, संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रान्स के विपरीत, संविधान नागरिकों को कोई अधिकार नहीं प्रदान करता और Parliament का कोई भी कानून ऐसा नहीं है जो मनुष्य के अधिकारों का वर्णन करता हो। ये अधिकार इंग्लैंड में इसलिए वर्तमान हैं कि वहां, Dicey के अनुसार, Rule of Law का अस्तित्व है।

Dicey के मतानुसार Rule of Law में निम्न आधारभूत सिद्धान्त निहित हैं—

(१) सब व्यक्ति कानूनी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी हैं और किसी को भी गैरकानूनी तौर से दण्डित नहीं किया जा सकता। सब व्यक्तियों को, जिन पर किसी अपराध का दोष लगाया गया हो, साधारण कानूनी न्यायालय के सामने प्रस्तुत किया जा सकता है और साधारण कानूनी प्रणाली द्वारा उसका निर्णय किया जा सकता है। किसी भी व्यक्ति को गैरकानूनी ढंग से उसके जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता।

(२) कानून के सामने सब बराबर हैं और किसी को भी उससे छुटकारा पाने का विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। किसी भी व्यक्ति के लिए किसी विशेष कानून अथवा न्यायालय की व्यवस्था नहीं की जा सकती। Dicey कहता है: "With us every official from the Prime Minister down to the constable or a

collector of taxes is under the same responsibility for every act done without legal justification as any other citizen." दूसरे शब्दों में इंग्लैंड का Common Law सरकार के कार्यों और साधारण नागरिकों के कार्यों में कोई भेद नहीं करता।

(३) तीसरे Rule of Law से यह अर्थ है कि संविधान न्यायिक निर्णयों का परिणाम है जो न्यायालयों के सामने लाये गए निजी व्यक्तियों के मामलों का निर्धारण करते हैं।

उपर्युक्त के कुछ अपवाद हैं—

(१) राजा किसी भी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं है क्योंकि वह कानून के ऊपर है। उस पर किसी भी तरह का दीवानी अथवा फौजदारी का मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।

२—अपनी शासकीय स्थिति में किये गए किसी भी कार्य के लिए कोई अफसर किसी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

३—न्यायाधीश भी अपने शासकीय कार्य के लिए व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से परे हैं चाहे वे अपने अधिकार-क्षेत्र के बाहर भी क्यों न चले जायें। लेकिन ऐसा जान-बूझकर नहीं किया जाना चाहिए।

४—"Justices of Peace" भी अपनी शासकीय स्थिति में किये गए कार्यों के लिए कोई भी कार्यवाही किए जाने से मुक्त हैं लेकिन वह कार्य बुरी भावना से न किये गए हों।

Rule of Law के गुण :

किसी आधारभूत अधिकार की घोषणा के अभाव में नागरिक Rule of Law से अपने अधिकार प्राप्त करते हैं। ये अधिकार निम्नलिखित हैं :—

१—वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार।

२—भाषण की स्वतन्त्रता का अधिकार।

३—संगठित होने और सभा करने का अधिकार।

पहला अधिकार इसलिए सुरक्षित किया जाता है क्योंकि [illegible]

द्वारा किया जाता है जो सारे देश में फैले होते हैं। यह वि (decentralisation) कहलाता है।

२—विकेन्द्रीकरण : यह दो प्रकार का होता है, अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष विकेन्द्रीकरण में कानून देश की राजधानी में हैं और आदेश वहां से जारी किए जाते हैं। शासन का विस्तृत अधिकारियों द्वारा किया जाता है जो देश-भर में नियुक्त होते हैं। अ गण अरोहण क्रम (hierarchical) में रहते हैं। वे सरकार के के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में कार्य करते हैं। यह शासकीय विकेन्द्रीकरण क है, स्थानीय शासन नहीं।

३—अप्रत्यक्ष विकेन्द्रीकरण : यह पद अथवा नाम उन संस् के लिए प्रयुक्त होता है जिनका अस्तित्व केन्द्रीय सरकार की इच्छा रहता है। उन्हें विनियम बनाने, लोक राजस्व (Public Financ का नियन्त्रण करने और इन कानूनों को एक दिए हुए क्षेत्र में लागू की निश्चित सत्तायें प्राप्त होती हैं। ये संस्थायें अधिकृत अथवा अधीन होती हैं लेकिन उन्हें अपनी निश्चित सीमाओं में कार्य करने की स्वतन्त्र रहती है। वे सरकार के कार्य का उपविभाजन बताती हैं। इसके उदाहर जिला बोर्ड (District Boards) और म्यूनिसिपैलटियां (Munici palities) हैं। इन स्थानीय संस्थाओं की शक्तियों को केन्द्रीय सरका वापिस ले सकती है जब कभी भी वह चाहे। यह विकेन्द्रीकरण अप्रत्यक्ष विकेन्द्रीकरण अथवा स्थानीय शासन कहलाता है। वास्तव में इसके लिए उपयुक्त नाम स्थानीय स्वायत्त शासन (Local Self Government) है। स्थानीय शासन में विकेन्द्रीकरण और कार्यों का हस्तान्तरण (devolution) रहता है। स्थानीय संस्थाओं की सत्तायें, कार्य और संगठन कानून द्वारा निश्चित रहते हैं। इस तरह निश्चित सीमाओं में वे स्वतन्त्र होती हैं। केन्द्रीय सरकार साधारणतः कुशल कर्मचारी रखती है जैसे Public Health Officers और शिक्षा के निरीक्षक जो इन विषयों पर सलाह देते हैं लेकिन यह अधिकारी स्थानीय संस्थाओं के नियन्त्रण

S. C. O.), खाद्य और कृषि-संगठन (F. A. O.) विश्व स्वास्थ्य संगठन (W. H. O.), International Monetary Fund और World Bank for Reconstruction and Development आदि ने सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुओं के लिए बहुत सेवा की है। मानव अधिकारों पर जोर, मजदूर और स्वास्थ्य समस्याओं का महत्त्व प्राप्त होना राष्ट्र-संघ के लिए सदा गौरवास्पद कार्य रहेंगे।

राष्ट्र-संघ लीग आफ़ नेशन्स का उन्नत रूप—

राष्ट्र-संघ को लीग आफ नेशन्स से उन्नत स्वरूप प्रदान किया गया है। यद्यपि जो परिवर्तन किये गए हैं वे बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं फिर भी उन्होंने राष्ट्र-संघ को दृढ़ आधार प्रदान किया है। तीन मुख्य बातें हैं—प्रथम, लीग आफ नेशन्स में रूस को सम्मिलित होने की आज्ञा कभी नहीं मिली और अमेरिका भी बहुत बाद में जाकर शामिल हुआ। लेकिन राष्ट्र-संघ में यह कमजोरी नहीं आने दी गई है और अमेरिका और रूस प्रारम्भ से ही उसके सदस्य हैं। दूसरे, लीग आफ नेशन्स के विपरीत राष्ट्र-संघ की साधारण सभा सब प्रश्नों का दो-तिहाई बहुमत से निर्णय कर सकती है; इस तरह एकमत का कठिन नियम समाप्त कर दिया गया है। तीसरे, राष्ट्र-संघ की सुरक्षा परिषद् की सत्ता लीग की परिषद् की अपेक्षा अधिक है।

अपने भव्य निर्माण के बावजूद भी राष्ट्र-संघ को कोई विशेष सफलता नहीं मिली है और न वह भविष्य के लिए ही कोई आशाचिह्न दिखाता है। इस असफलता का मुख्य कारण यह है कि यद्यपि उसके संगठन को नये नाम में बदल दिया गया है उसकी आत्मा वैसी ही बनी हुई है—राष्ट्र-संघ और लीग आफ नेशन्स के आधारभूत सिद्धान्त बहुत भिन्न नहीं हैं। प्रथम, बड़े राष्ट्रों में इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को चलाने की इच्छा का अभाव रहा है। दूसरे, लीग की तरह राष्ट्र-संघ भी इस गलत सिद्धान्त पर आधारित है कि शान्ति प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्रों के सहयोग

हटाई और किसी-न-किसी बहाने राष्ट्र-संघ के निर्णय को ठुकराता रहा। अन्त में विवश होकर और ईरान द्वारा रियायतें देने के वायदे करने पर रूस ने अपनी सेनायें हटा लीं। राष्ट्र-संघ के सदस्य देशों के लिए यह एक उत्साहजनक कार्य था। लेकिन फिर भी यह एक कटु-सत्य है कि राष्ट्र-संघ को अपने सर्वप्रथम प्रयत्न में ही असफलता मिली और वह निर्णयों को कार्य रूप में परिणत कराने में असमर्थ रहा। प्रारम्भ से ही राष्ट्र-संघ में मतभेद था—अमेरिका और इंग्लैण्ड एक ओर थे और रूस दूसरी ओर तथा मतदान के समय दोनों जान-बूझकर एक-दूसरे के विरुद्ध वोट देते थे। बड़े पांच राष्ट्रों (सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य) के 'veto' का दोनों ओर से दुरुपयोग किया गया और सुरक्षा-परिषद का महत्त्व नष्ट हो गया। बाद में बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े सुरक्षा-परिषद के सामने लाये गए लेकिन प्रायः हर मामले में राष्ट्र-संघ को असफलता मिली। पैलेस्टाइन समस्या के प्रथम और अन्तिम उदाहरण को छोड़कर रूस और आंग्ल-अमेरिकी गुट कभी किसी विषय पर एकमत नहीं हुए। इन्डोनेशिया, दक्षिण अफ्रीका, काश्मीर और कोरिया आदि समस्याओं ने राष्ट्र-संघ और संसार के राष्ट्रों को परेशान कर रखा है। अभी तक कोई समस्या ऐसी देखने को नहीं मिली है जिसके हल करने में राष्ट्र-संघ को सफलता मिली हो। युद्ध का खतरा अभी भी चारों ओर फैला हुआ है और शान्ति के लिए बड़े बड़े राष्ट्रों द्वारा कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है। सत्ता के मद में चूर बड़े देश अपने ही लाभ और हित को देखते हैं और छोटे राष्ट्र सिसकते और कराहते रहते हैं।